## राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक : डॉ० पद्मधर पाठक
[ निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ]

ग्रन्थाङ्क १३४

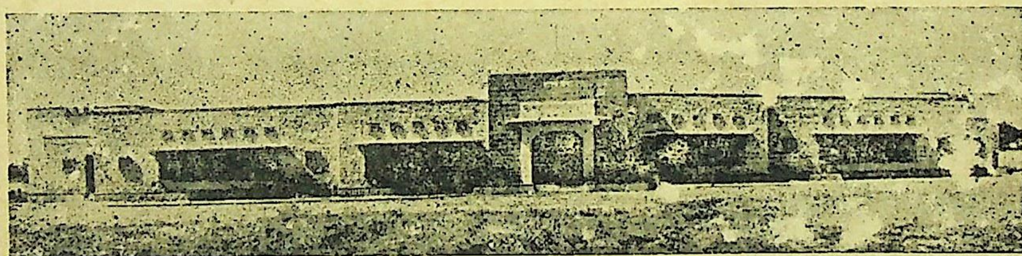
महाकवि कुम्भकर्ण विरचित

# रतन रासो

[ प्रथम खण्ड—भूमिका ]

: सम्पादकद्वय :

पं० काशीराम शर्मा एम.ए., एल.एल.बी.
डॉ० रघुवीरसिंह एम.ए., डी.लिट्., एल.एल.बी.



प्रकाशक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राज०)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.

1982.

प्रथमावृत्ति ५००          मूल्य रु. १६/-

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक : डॉ० पद्मधर पाठक
[ निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ]

ग्रन्थाङ्क १३४

महाकवि कुम्भकर्ण विरचित

# रतन रासो

[ प्रथम खण्ड–भूमिका ]

: सम्पादकद्वय :
पं० काशीराम शर्मा एम.ए., एल.एल.बी.
डॉ० रघुवीरसिंह एम.ए., डी.लिट्., एल.एल.बी.

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राज०)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.

1982.

प्रथमावृत्ति ५००

मूल्य रु. १६/-

# राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थान–प्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषा–निबद्ध
विविध वाङ्मय प्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
डॉ० पद्मधर पाठक

ग्रन्थाङ्क १३४

महाकवि कुम्भकर्ण विरचित

# रतन रासो

[ प्रथम खण्ड-भूमिका ]

प्रकाशक
राजस्थान-राज्य-संस्थापित

**राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान**

**जोधपुर (राज०)**

मुद्रक : युनाइटेड प्रिण्टर्स, जयपुर, साधना प्रेस एवं
हिमालय प्रिण्टर्स, जोधपुर (राज०)

वि०सं० २०३६ भारत राष्ट्रीय शकाब्द १९०४

# विषय-सूची

---

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ५ | ११ | ह | ही |
| १० | १६ | भक्ति क | भक्ति के |
| २४ | १६ | अलंकाराः | अलंकारा |
| ४५ | १० | मोगोस्थनेस | मेगोस्थनेस |
| ५१ | २१ | है। 'वस' | है 'वस्'। |
| ५३ | १८ | hermaphodites | hermaphrodites |
| ५४ | ३२ | लिए | लिए भी |
| ५६ | २ | विशेषणा | विशेषणों |
| ५७ | २४ | अेवडे | अेविडे |
| ५९ | अंतिम | शाकान् | शाकान्न |
| ६० | १७ | द्रविड के | द्रविड की |
| ६० | १८ | जा लगना' जा मिलना ही पहुंचना | 'जा लगना','जा मिलना' ही 'पहुंचना' |
| ७० | १ | २. कवि-परिचय | ३. कवि-परिचय |
| ७४ | ३२ | जून १६८४ ई. | जून १६८६ ई. |
| ७६ | १८ | २. कवि का कृतित्त्व | कवि का कृतित्व |
| ७७ | ३२ | प्रथम अध्याय | द्वितीय अध्याय का अंश |
| ८२ | १३ | रम्खति | रखति |
| ८२ | २३ | जलतुर | जलतर |
| ८२ | २४ | उत्तंग | उत्तुंग |
| ८८ | १२ | होती-पदम निचित विलखत लखत | होती है-पदमनि चित विलखत लखत |
| ८८ | १३ | कस विरंचि अस काज | कस विरंच अस काज |
| ८८ | १७ | भाषण | भाषा |
| ८८ | १९ | जयचंदरासौ | जयचंदरासो |
| ८८ | २० | कवित्त के नवयौवन और प्रोढत्य | कवि के नवयौवन और प्रौढत्व |
| ८८ | २१ | नव यौवन को | नव यौवन का |
| ८८ | २५ | रायसिंहजी रो | रायसिंहजी री |
| ११४ | अंतिम | 'जफरनामा 'जफरनामा' | 'जफरनामा' |
| १२४ | १० | धरा आम | धरा आभ |
| १२६ | ७–८ | सुता दई भूषण वसन हय करचंद्र दिय ताहि ॥८ | सुता दई भूखन वसन हय करचंद्र दिय ताहि ॥८ |
| १४० | ८ | विप्रां | विप्रों |
| १४९ | ७ | थंमन | थंभन |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १५४ | २९ | हिरमच | हिरमिच |
| १५५ | २१ | दुपा | दुपी |
| १५५ | २७ | काशल | कौशल |
| १६८ | २ | झल्लर | झल्लरँ |
| १७१ | १३ | जज्भि | जुज्झि |
| १८४ | ८ | पिक्खय | पिक्खये |
| १८७ | ७ | सम्द्ये | सरद्ये |
| १८८ | ६ | सकन | सकना |
| १९२ | २७ | द्रंग | द्रुंग |
| १९३ | ५ | भमक्यौ | भभक्यौ |
| १९५ | ४ | त रत | तरित |
| १९५ | ७ | प्रल | प्रलै |
| १९६ | ४ | जार्‍यौं | जोर्‍यौ |
| १९६ | १३ | गुग्ज | गुरज |
| १९७ | ११ | ठनं कय | ठनंकिय |
| १९८ | ९ | तरंग | तुरंग |
| २०४ | १८ | श्रय त | श्रयति |
| २०५ | ६ | उत्साह | भाव |
| २०८ | १ | खु ासान | खुरासान |
| २१५ | २७ | वृथँव ही | वृथँव हि |
| २१७ | ६ | लाह | लोहि |
| २२२ | ३१ | पूवक | पूर्वक |
| २२४ | ३ | हणफाल | हणूफाल |
| २२९ | २४ | बिन | विनै |
| २३० | १–२ | इनके बीच में | + + + होंगे |
| २३० | ४ | चातुय | चातुर्य |
| २३० | १५ | हो। | होगा। |
| २३० | २९ | हरिद्वज | हरिद्विज |
| २३१ | ६ | रहा | रहा। |
| २३३ | २२ | जाता जा | जाता था। |
| २४१ | २८ | सुप्तपुरी | सप्तपुरी |
| २४६ | १८ | स्योगपुर | योगपुर |
| २४७ | ६ | यह | यह |
| २४८ | ३ | है। और | है और |
| २४९ | ६ | प्रथम | द्वितीय |
| २४९ | १७ | ज्ञीर्षक | शीर्षक |
| २५२ | २२ | तो और | तो |

# आमुख

शाहजहां के लड़कों में हुए उत्तराधिकार युद्ध में 'धरमाट' के भीषण रक्तपात में औरंगजेब के विरुद्ध शाही सेना का साथ देते हुए राठौड़ रतनसिंह (१६१६–१६५८ ई. सन्) जिस शूरता से काम आए वह 'रण बंका राठौड़' की उक्ति पर सोलह आने खरी उतरती है।

इन्हीं वीरवर रतनसिंह को अपना चरित्र-नायक बनाकर चारण कवि कुम्भकर्ण ने इस 'रतन रासो' की रचना की थी। बहुधा ऐसे काव्यों में प्रशंसात्मक या निन्दात्मक पहलू इतना हावी रहता है कि तथ्यात्मक विवरण शब्दों के जाल में उलझकर या तो अतिशयोक्ति का रूप ले लेते हैं या फिर इतने दब जाते हैं कि दूसरे समकालीन स्रोतों को भी आजमाना पड़ता है। 'रासो' के इस 'भूमिका खण्ड' में तटस्थ दृष्टि से यह कार्य पर्याप्त सावधानी और खोजबीन के साथ सम्पन्न किया गया है। डॉ० रघुबीरसिंहजी व पं० काशीराम शर्मा का श्रम और धैर्य के साथ किया गया यह सूक्ष्म विश्लेषण शोधार्थियों का दूर तक मार्ग दर्शन करता रहेगा।

'रतन रासो' का मूल पाठ अपने आप में एक ऐसी स्वतन्त्र इकाई है जिसका विवेचन और मूल पाठ दोनों को एक ही जिल्द में ले लेना सम्भव नहीं रहा। इस भूमिका-खण्ड के पश्चात् मूल पाठ, परिशिष्ट आदि वाले द्वितीय खण्ड के लिए पाठकों को अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। वैसे, उसे प्रेस में दिये जाने की तैयारी की जा रही है। मूल पाठ के जल्दी उपलब्ध हो जाने की जिज्ञासा को 'विषय-प्रवेश' का रूप लिए यह खण्ड और भी बढ़ा देता है। भाषाविद् एवं इतिहासविद् दोनों ही उसकी प्रतीक्षा में रहेंगे। उपलब्ध रासो साहित्य की शृंखला में यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस खण्ड में, रचना, रचनाकार एवं रासो में उल्लिखित अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन उपलब्ध है। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की जानकारी के लिए भी यह 'रासो' बेजोड़ है।

फारसी तवारीखों से इतर आधार ग्रन्थों पर धीरे-धीरे काम हो रहा है। फलस्वरूप एक दूसरे के पूरक के रूप में दोनों ही प्रकार की सामग्री बाहर आ जावेगी। और तो और, वे तथ्य भी उभरेंगे जो एक में न होकर केवल दूसरे में ही पाये जाते हैं। वस्तुतः

दोनों ही प्रकार के साधनों को साथ लेकर छानबीन होनी चाहिए। थोड़े विषयांतर के साथ मध्ययुगीन चारण-साहित्य के महत्व पर दो शब्द उनकी उपयोगिता पर कहे जा सकते हैं। माना कि आश्रित लेखनी का एक सीमित दायरा होता है, किन्तु हमारी सामाजिक व्यवस्था ही कुछ ऐसी थी कि अनेक चारण कवि जितना खुलकर यशोगान करते थे उतनी ही बेबाकी से वे दूसरा पक्ष भी रख देते थे। लिख जाने की या कह जाने की यह छूट फारसी मुअर्रिखों में शायद ही किसी को प्राप्त थी। अनेक समकालीन चारण गीत व दोहे ऐसे तीखे हैं जिनकी ओट में वास्तविकता को बाहर निकाला जा सकता है। नए-नए शोधार्थी बहुधा इस प्रकार के वर्णनों की अनदेखी कर जाते हैं और कोषों के सहारे शब्दों के अर्थ न खोज पाने की शिकायत करते रहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि डिंगल गीतों के शब्द भी युद्ध-स्थल में उठे खड्ग की टंकार और उस रक्तरंजित भूमि के दृष्टिपात से सहसा ही उपज जाते थे जिनके उच्चारण मात्र से योद्धा हिम्मत नहीं हारता था। रणभूमि में तत्काल सृजित इन शब्दों में जो वेग रहता है वह तसवीर को वापस मुखरित करने की क्षमता रखता है। इन गीतों और दोहों का क्रमशः मुद्रण बड़ा आवश्यक है ताकि इन्हें भी तौलने का अवसर मिले। थोथी प्रशंसा कहकर इन्हें नजरन्दाज़ कर देने से काम नहीं चलेगा।

'धरमाट' के युद्ध का यह विषद वर्णन बहुत उपयोगी है। डॉ॰ रघुवीरसिंहजी ने इसका हर पहलू से मूल्यांकन किया है जिसे हम एक आदर्श एवं पथ-प्रदर्शक विवेचन के रूप में स्वीकार कर उनके ऋणी बने रहेंगे।

संयोगवश सम्पादकों में इतिहास मर्मज्ञ श्रद्धेय डॉ॰ रघुवीरसिंहजी स्वयं वीरवर राठौड़ रतनसिंहजी के वंशजों में हैं और अपने पिताश्री स्व॰ महाराजा सर रामसिंहजी को यह कृति समर्पित कर उन्होंने अपने पूर्वजों की परम्परा निभाई है। इन्हीं के आशीर्वाद से यह 'रासो' मुद्रित होकर पूरा हो रहा है। ऐसा लगता है कि इतिहास से इतिहास जुड़ रहा है।

युनाइटेड प्रिण्टर्स, जयपुर, साधना प्रेस एवं अन्त में हिमालय प्रिण्टर्स जोधपुर ने इसके मुद्रण कार्य में पर्याप्त रुचि ली है। तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

**पद्मधर पाठक**
निदेशक

१५ अगस्त, १९८२

## ❁ समर्पण ❁



**स्वर्गीय महाराजा सर रामसिंहजी**
के०सी०आई०ई०, सीतामऊ-नरेश
की पवित्र स्मृति में

# प्रस्तावना

अपने जगद्विख्यात ग्रन्थ 'एनल्ज़ एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान' में धरमाट के युद्ध का विवरण लिखते हुए कर्नल जेम्स टॉड ने लिखा है— "उस दिन के सारे वीरतापूर्ण अद्भुत कार्यों में रतलाम के रतन के करतब ही सार्वदेशिक सम्मति से सर्वथा सर्वश्रेष्ठ हैं जिन पर राव 'रतन-रासो' शीर्षक 'अमर-काव्य' द्वारा चारण ने अपनी श्रद्धांजली चढ़ाई है।" (2, पृष्ठ 981)। पुनः सन् 1898 ई० में प्रकाशित नारायण गणेश शिरसालकर कृत श्री मन्महाराजा 'श्री रतनसिंहजी धीर-वीर का संक्षिप्त जीवन चरित्र' में भी रतनसिंह के वंश के इतिहास के लिये एक महत्त्वपूर्ण प्रमुख आधार-ग्रन्थ के रूप में कवि कुम्भकर्ण कृत 'रतन-रासो' का उल्लेख किया गया है। सन् 1980 ई० में प्रकाशित 'रतलाम स्टेट गजेटियर' में भी 'रतन-रासो' का निर्देश है। (पृ० 4-5)।

अतएव लगभग चालीस वर्ष पहिले अपने ग्रन्थ 'रतलाम का प्रथम राज्य' के लिए जब मैं आवश्यक जानकारी, सामग्री और आधार-ग्रन्थ एकत्र करने लगा, तब कवि कुम्भकर्ण कृत 'रतन–रासो' की प्रतिलिपि प्राप्त करने के लिये मैंने विशेषरूपेण प्रयत्न प्रारंम्भ किये, क्योंकि तब यह ज्ञात नहीं था कि सीतामऊ राजघराने के हस्तलिखित-ग्रन्थ-सग्रह में भी सन् 1835 ई० में नकल की गई 'रतन-रासो' की एक प्रतिलिपि प्राप्य है। अतः तब उसकी दो और प्रतिलिपियां प्राप्त की गईं। एक प्रति तो सैलाना के महाराज मान्धातासिंह से प्राप्त हुई, जो तब बीकानेर राज्य में मंत्री थे। दूसरी प्रतिलिपि महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ के द्वारा जोधपुर से नकल करवाई गई थी। बारहठ बांकीदास के पठनार्थ सन् 1811 ई० में जोधपुर में की गई प्रति[1] की जो प्रतिलिपि जोधपुर राज्य के इतिहास-विभाग में प्राप्य थी, उसकी ही यह प्रतिलिपि थी।

'रतलाम का प्रथम राज्य' को लिखते समय 'रतन-रासो' को ध्यान-पूर्वक पढ़ कर उसे यथासाध्य समझने का प्रयत्न किया था और उससे प्राप्त जानकारी का उक्त ग्रन्थ में भरसक उपयोग किया गया है। परन्तु, तब यह स्पष्ट अनुभव हुआ कि 'रतन-रासो' का कोई सुसम्पादित संस्करण तैयार नहीं किया जावेगा, तब तक उस ग्रन्थ में प्राप्य जानकारी का समुचित पूरा उपयोग संभव नहीं हो

---

1. बारहठ कविराजा बांकीदास के संग्रह की यह प्रति भी अब श्री नटनागर शोध-संस्थान, सीतामऊ में सुलभ है। कविराजा-संग्रह, ग्रन्थ 85, भाग ख, पृ० 97–अ–167–ब।

सकेगा। अतएव 1947 ई० के प्रारम्भ में 'रतन-रासो' का एक सुसम्पादित संस्करण तैयार करवाने का निश्चय किया गया और तदर्थ उपयुक्त विद्वान् की खोज शुरू हुई। चाहते तो यही थे कि राजस्थानी के सुविख्यात अधिकारी विद्वान् प्रोफेसर नरोत्तम स्वामी स्वयं ही इस कार्य को करें, परन्तु कार्याधिक्य तथा अपनी अन्य व्यस्तताओं के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। अतः उन्हीं के सुयोग्य शिष्य श्री काशीराम शर्मा को यह कार्य नवम्बर, 1947 ई० में सौंपा गया।

तीन-चार वर्षों तक कड़ी मेहनत कर श्री काशीराम शर्मा ने 'रतन-रासो' के सही पाठ-निर्णय, कठिन शब्दों के अर्थ तथा समूचे ग्रन्थ का पूरा-पूरा हिन्दी अनुवाद लिख डालने का महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा कर डाला। तब भी कई एक संदिग्ध-स्थलों के बारे में अन्य अधिकारी विद्वानों के मत तथा सुझाव प्राप्त करना अत्यावश्यक प्रतीत हुआ, अतः तदनन्तर कोई डेढ़ वर्ष और इसमें बीता। तब तक श्री काशीराम शर्मा ने 'रतन-रासो' की एक संक्षिप्त भूमिका भी लिख कर तैयार कर डाली थी। अतएव संशोधित मूल-ग्रन्थ उसके अनुवाद आदि के साथ उनकी इस भूमिका की भी प्रेस-कापी टाइप करवा ली गई। परन्तु, तब भी उसमें कुछ और संशोधनों की आवश्यकता जान पड़ी। मेरा इतिहास-ग्रन्थ 'रतलाम का प्रथम राज्य' सन् 1951 ई० में छप कर प्रकाशित होगया था। अतः उसमें प्राप्य ऐतिहासिक जानकारी की सहायता से श्री काशीराम शर्मा ने 'रतन-रासो' में आये ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं के उल्लेखों विषयक अंशों का सही अर्थ लगाने का भरसक प्रयत्न किया था। परन्तु, 'रतन-रासो' में ऐतिहासिक जानकारी और उल्लेखों का इतना अधिक बाहुल्य है कि 'रतलाम का प्रथम राज्य' तथा ऐसे ही अन्य सुलभ इतिहास-ग्रन्थों से उन सब पर पूरा-पूरा प्रकाश नहीं पड़ सकता था। अतः जब टाइप की हुई उक्त प्रेस-कापी मैं देखने लगा, तब यह स्पष्ट होगई कि 'रतन-रासो' में आए सब ही महत्त्वपूर्ण नामों तथा उसमें उल्लिखित विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं आदि के सारे संदर्भों को लेकर सप्रमाण विस्तृत ऐतिहासिक टिप्पणियां तैयार की जानी चाहिये, जिससे उनके आधार पर 'रतन-रासो' में दिये गये उल्लेखों और विवरणों का सही अर्थ लगाया जाकर उक्त प्रेस-कापी में आवश्यक संशोधन किये जा सकें। परन्तु, अपनी अन्य व्यस्तताओं के कारण मैं यह कार्य तब तत्काल ही हाथ में नहीं ले सका और 'रतन-रासो' की टाइप की हुई प्रेस-कापी अधिक सुविधापूर्ण अवकाश-काल की प्रतीक्षा में कई वर्षों तक असंशोधित ही पड़ी रही।

'रतन-रासो' के सम्पादन और प्रकाशन का जब आयोजन किया जा रहा था, तब ही यह निश्चय किया गया था कि रतनसिंह तथा उसके वंशजों

सम्बन्धी दो अन्य ग्रन्थ, सुकवि रघुनाथ 'रसाल' कृत 'राम-चरित्र' तथा सुकवि खड़िया जगा री कही 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघजी री महेसदासोत री' का भी सम्पादन कर उनको प्रकाशित किया जावे। यह दोनों ही ग्रन्थ 'रतन-रासो' की अपेक्षा छोटे थे। अतः जब 'रतन-रासो' का काम आगे नहीं बढ़ सका, तब इन दोनों ग्रन्थों को हाथ में लिया गया और सन् 1956 ई० में 'राम-चरित्र' तथा सन् 1960 ई० में 'वचनिका०' को प्रकाशित करवाया। 'राम-चरित्र' को सर्व-प्रथम प्रकाशित करवाना एक प्रकार से ठीक ही हुआ, क्योंकि उसके कुछ ही समय बाद 'राम-चरित्र' की एकमात्र प्राप्य प्रति के स्वामी श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव का देहान्त हो गया। 'वचनिका०' में मुख्यतः धरमाट के युद्ध का विवरण है, अतः तब उसके लिये लिखी गई अनेकों टिप्पणियां बाद में 'रतन-रासो' की टिप्पणियां तैयार करते समय बहुत ही उपयोगी और सहायक सिद्ध हुईं।

'वचनिका०' को प्रेस में देने के बाद जब पुनः 'रतन-रासो' के सम्पादन-कार्य को हाथ में लिया उस समय यह अनुभव किया कि तब मेरे संग्रह में प्राप्य तीन प्रतियों के आधार पर 'रतन-रासो' के सही पाठ का निर्णय करना सर्वथा उचित नहीं होगा। अतः 'रतन-रासो की कुछ और प्रतियां ढूंढ निकालने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। जोधपुर के तत्कालीन शासक महाराजा मानसिंह ने 'रतन- रासो' की एक प्रति कर्नल जेम्स टॉड को भेंट की थी। सन् 1819 ई० में नकल की गई यह प्रतिलिपि अब रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन के संग्रह में सुरक्षित है। अतः सन् 1958 ई० में उस प्रतिलिपि का माइक्रो-फिल्म लन्दन से प्राप्त किया गया। जोधपुर के सुज्ञात इतिहासकार पं० रामकरण आसोपा के संग्रह में सन् 1823 ई० में नकल की गई 'रतन-रासो' की एक प्रति थी। सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय कलकत्ता, के लिये इसी प्रति की एक प्रतिलिपि सन् 1935 ई० में करवाई गई थी, जो वहां सुलभ है। पं० रामकरण आसोपा के संग्रह की उपर्युक्त मूल प्रति भी अब राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रह में पहुंच गई है। अतः इस वर्तमान संस्करण को तैयार करने में उक्त मूल प्रति (गुटका नं. 20150(4)) का भी पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। तदर्थ उक्त प्रति को सुलभ करने के लिये राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के अधिकारियों के अनुगृहीत हैं। इन दो महत्त्वपूर्ण प्रतियों के अतिरिक्त 'रतन-रासो' की दो तीन और प्रतियों का पता लगा; परन्तु, अनेकानेक प्रयत्न करने पर भी वे देखने को नहीं मिलीं। अतः उक्त कुल पांच प्रतियों के ही आधार पर 'रतन-रासो' का संस्करण तैयार किया गया है।

'रतन-रासो' की तब तक जो भी प्रतियां प्राप्त होती रहीं, उन सब का प्रारम्भ निम्नलिखित दोहे से ही होता है :—

"तेज-पुंज ताले बिलंद दिल पर अजब करार।
खतम हेफ हिम्मति बलिय अल्लहु पर इकतार।।"

परन्तु, जहां जोधपुर परिवार की सब ही प्रतियों में इस सर्वप्रथम छंद संख्या 1 है, व मालवा परिवार की सीतामऊ-संग्रह वाली अब तक प्राप्य एक मात्र प्रतिलिपि में इस प्रथम छंद की संख्या 48 हो गई है, जिससे यही प्रतीत हुआ था कि इसके पूर्व में 47 छंद और भी थे, और संभवतः इसीलिये इस प्रति में प्रारम्भ में पांच पत्र खाली भी छोड़े गये हैं। जयपुर में प्राप्त प्रति में इस प्रारम्भिक अध्याय के अन्तिम नौ छन्दों की छंद संख्या भी मालवा परिवार वाली प्रति के समान ही 76-84 हो है। परन्तु, तीनों विभिन्न परिवारों की सब ही प्रतियों में 'रतन-रासो' काव्य के इस प्रारम्भिक अध्याय की पुष्पिका में 'इति श्री कुम्भ-करन विरंचिते काव्य अष्ट रतनाकरे प्रश्नोत्तर कथन तृतीयो अध्यायः' लिखा है, और तदनन्तर चतुर्थ और पञ्चम अध्याय की समाप्ति बताई गई है। अतः स्पष्टतया 'रतन-रासो' की मूल प्रति में इसके प्रारंभ के दो अध्याय और इस तृतीय अध्याय के प्रारंभिक 47 छंद भी थे, जो तब किसी भी प्राप्य प्रति में नहीं मिल रहे थे। एवं इन प्रारम्भिक ढाई अध्यायों की खोज के लिये प्रयत्न किये जाने लगे।

फरवरी, 1974 ई० को जोधपुर-यात्रा के समय वहाँ के चारण छात्रावास में भदौरा निवासी श्री नारायणसिंह सांदू से सम्पर्क होने पर कवि के निवास-ग्राम भदौरा में ही कुम्भकरण सांदू कृत 'रतन-रासो की सम्पूर्ण प्रति की खोज करने के लिये मैंने उनसे आग्रह किया था। अतः कोई डेढ़ वर्ष से भी अधिक समय तक की खोज और प्रयत्न के बाद नवम्बर, 1975 ई० में श्री नारायणसिंह सांदू ने भदौरा के शंकरदान सांदू के पुत्र शेरसिंह के वाचनार्थ लिख कर शुक्रवार, वैशाख सु० 3, 1875 वि० (मई 8, 1818 ई०) को सम्पूर्ण की गई, भदौरा-निवासी श्री लक्ष्मणसिंह सांदु के संग्रह की 'रतन-रासो' को प्रति से 'श्री कवि कुम्भकर्ण विरंचते काव्य अष्ट-रत्नाकरे प्रथमो अध्याय मंगल वर्णनं नाम' की नकल कर उसे मेरे पास भेजा। इसमें कुल मिलाकर 16 छन्द हैं। साथ ही उन्होंने उसी प्रतिलिपि से 'काव्य अष्ट रत्नाकरे प्रश्नोत्तर कथनं तृतीय अध्याय' के सारे प्रारंभिक छंदों को भी नकल कर भिजवाया, जो अब तक सुलभ अन्य किसी भी प्रतिलिपि में नहीं थे। उनकी संख्या वस्तुतः 49 हैं यद्यपि प्रथम बार प्राप्य इस

प्रारंभिक अंश के अंतिम छंद की संख्या इस प्रति में 48 ही दी गई है। यों इस प्रतिलिपि में 'तेज-पुंज ताले विलंद..........'दोहे की संख्या 49 दी गई है। 'रतन-रासो' की इस प्रतिलिपि के प्रथम और तृतीय अध्याय पत्र 1 अ से 6 अ पर लिखे हुए हैं। उन सब ही पृष्ठों की जीरोक्स प्रतियां प्राप्त कर ली गई हैं कि उनके आधार पर इस प्रति से प्रथम बार यों प्राप्त इस सारे प्रारंभिक अंश का सम्पादन करवाया जा सके। तृतीय अध्याय के उत्तरार्द्ध में 'तेज-पुंज ताले बिलंद.......' से आगे के छंद इस प्रति में भी वे ही हैं जो अब तक प्राप्य सब ही प्रतियों में मिलते रहे हैं। परन्तु, इस काव्य-ग्रन्थ का बाकी रहा समूचा द्वितीय अध्याय श्री लक्ष्मणसिंह सांदू के पास संगृहीत इस प्रति में भी नहीं मिला। विशेष खोज के बाद भी भदौरा में 'रतन-रासो' की अन्य कोई प्रति अब तक सुलभ नहीं हो पाई है।

यह सचमुच ही आश्चर्य की बात है कि 'रतन-रासो' जैसे सुविख्यात काव्य की बहुत ही कम हस्तलिखित प्रतियां देखने को मिलती हैं और वे बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी, जोधपुर राजघराने के 'पुस्तक-प्रकाश' और उदयपुर की सरस्वती भण्डार लायब्रेरी जैसे बृहत् संग्रहों में भी प्राप्य नहीं हैं। यही नहीं, जो भी प्रतियां मिली हैं, वे प्रायः सब ही ईसा की 19 वीं सदी की ही प्रतिलिपियां हैं।

'रतन-रासो' की प्रतियां राजस्थान में दुर्लभ होने के दो ही कारण जान पड़ते हैं। प्रथमतः यह ग्रन्थ मुख्यतया महेशदास और रतनसिंह विषयक ही है, जिनका तब राजस्थान से कोई सम्पर्क नहीं रह गया था, अतः 'रतन-रासो' में राजस्थान निवासियों की विशेष रुचि या आग्रह नहीं होना स्वाभाविक ही है। दूसरे यह एक बड़ा काव्य होने के कारण इसकी प्रतिलिपियां करवाना व्यय साध्य था। अतः तब इसकी इनीं-गिनीं प्रतिलिपियां ही करवाई गई होंगी, जिन्हें आज भी उनके मालिक दिखाने या देने को तैयार नहीं हैं। मालवा में अवश्य ही इस काव्य-ग्रन्थ की कई पुरानी प्रतियां प्राप्य रही होंगी। परन्तु, 18 वीं शताब्दी में यहाँ व्याप्त निरन्तर अराजकता, 19 वीं शताब्दी के प्रारंभिक युगों के 'गर्दी के वक्त' और अंग्रेजी आधिपत्यकाल की उदासीनतापूर्ण उपेक्षा में से कितनी ऐसी प्रतियां आज भी बच पाई होंगी, यह अनुमान लगा सकना बहुत ही कठिन है क्योंकि इस प्रदेश में प्राप्य पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कोई भी काम अब तक नहीं हुआ है। जब कभी यह काम हाथ में लिया जावे, पश्चिमी मालवा में 'रतन-रासो' की प्रतियों की विशेषरूपेण खोज की जानी चाहिये।

'रतन-रासो' की अन्य प्रतिलिपियों के साथ ही तब कवि कुम्भकर्ण की अन्य संभावित कृतियों की भी खोज चलती रही। नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'रघुनाथ रूपक गीतां रो' की भूमिका में पृ० 29 पर जयपुर के सुविख्यात विद्वान् पुरोहित हरिनारायण ने कवि कुम्भकर्ण रचित 'भारत कथा' का भी उल्लेख किया है। परन्तु, उसकी कोई प्रति न तो पुरोहित हरि-नारायण के संग्रह में पाई गई और न कहीं अन्यत्र ही देखने को मिली। कलकत्ता के सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय में अवश्य ही कवि कुम्भकर्ण कृत 'जयचन्द समइयो' अथवा 'श्री कनवज्जपति जयचन्द अष्टपातसाहगुन समइयो' की प्रतिलिपि मिली, जो जोधपुर के पण्डित रामकर्ण आसोपा के संग्रह में प्राप्य सन् 1823 ई० के लगभग लिखी गई हस्तलिखित प्रति से नकल की गई थी। कलकत्ता में सुलभ उस प्रति की एक नकल मेरे संग्रह के लिये कर ली गई। पं० रामकर्ण आसोपा के संग्रह की 'जयचन्द समइयो' की वह मूल प्रति भी स्पष्टतया अपूर्ण ही है, उसमें अंतिम छंद की संख्या 452 ही है उसके बाद न तो कोई पुष्पिका है और न अन्य कोई उल्लेख। श्री सीताराम लालस ने अपने राजस्थानी सबद-कोस' की प्रस्तावना (पृ० 154 में कवि कुम्भकर्ण रचित 'जयचन्द रासो' का उल्लेख किया है, जो स्पष्टतया उपर्युक्त 'जयचन्द समइयो' ही है। दयालदास ने अपनी ख्यात में 'जयचन्द समइयो' के दो छंद (449-450) उद्धृत कर उनको ग्रन्थ 'अष्ट रत्नाकर' से लेना लिखा है[1] परन्तु, भरसक प्रयत्न करने पर भी न तो 'जयचन्द समइयो' की कोई दूसरी प्रति देखने को मिली और न दयाल द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ 'अष्ट रत्नाकर' की किसी पूरी प्रति का कहीं भी अब तक कोई पता लग पाया है।

इधर कुम्भकर्ण सांदू कृत कुछ अन्य काव्य-ग्रन्थ की भी जानकारी मिली है। राजस्थान राज्य अभिलेखागार में मार्च 1973 ई० में श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ने कुम्भकर्ण रचित 'राजसमंद रूपक' की एक प्रतिलिपि (बंधांक 64, ग्रन्थ सं० 639) देखी थी, जिसका मंगलाचरण आदि नकल कर उन्होंने मुझे लिख भेजा था। इसी ग्रन्थ की एक और प्रति भदौरा के श्री इन्द्रबख्श के संग्रह में सुरक्षित है।

भदौरा के इन्हीं श्री इन्द्रबख्श के संग्रह में कुम्भकर्ण रचित 'काव्य अष्ट रत्नाकर मध्ये रावल श्री अमरसिंहजी आख्यान' की भी प्रति सुरक्षित है,

---

1. दयाल०, 1, पृ०37-41; जयचन्द०, पृ० 48-49.

जिसे लिख कर मंगलवार, सावरण सुद 1, 1857 वि० (जुलाई 22, 1800 ई०) भदौरा के शंकरदान सांदू ने पूरा किया था। इसमें जैसलमेर के रावल अमरसिंह (1660-1701 ई०) विषयक विवरण हैं। इस काव्य की अन्तिम पुष्पिका है– 'कवि कुम्भकर्ण विरंचिते (काव्य) अष्ट रतनाकर जेसान महा दुरगे सकल भूप मुकुटमनि काव्य कला चातुर्ज रावल श्री अमरसिंह महत्तान वर्नन नाम प्रस्ताव। श्री नारायणसिंह सांदू ने इस काव्य का उल्लेख 'अमर-रासो' नाम से किया है (चारण साहित्य, वर्ष 1, अंक 3, पृ० 43)। इस काव्य से संदर्भ में भी काव्य अष्ट रत्नाकर' के उल्लेख से तत्सम्बन्धी समस्या अधिक उलझ गई है, जिसे कुम्भकर्ण सांदू की सब ही रचनाओं के परिपूर्ण संग्रह की गहरी देखभाल के बाद ही संभवतः हल किया जा सकेगा।

'रतन-रासो' की हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त करने से भी अधिक कठिन कार्य था 'रतन-रासो' के रचयिता सुकवि सांदू कुम्भकर्ण के घराने और जीवनी के बारे में सारी प्राप्य जानकारी एकत्र करना। राजस्थान में कई एक चारण घरानों में सुविख्यात कवियों या ऐतिहासिक व्यक्तियों की परम्परा चलती रही है। परन्तु, उन महत्त्वपूर्ण साहित्यिक और ऐतिहासिक कड़ियों को यथावत जोड़ कर उनका सुव्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करने का कहीं भी कोई संतोषप्रद प्रयत्न नहीं किया गया है। इस विषयक जो भी इने-गिने ग्रन्थ देखने को मिले हैं वे अधिकतर सुलभ सामग्री के ही संकलन मात्र जान पड़ते हैं, उनको तैयार करने में तत्सम्बन्धी दुष्प्राप्य सामग्री और कष्टसाध्य जानकारी की खोज निकालने तथा उसका उपयोग करने का अत्यावश्यक प्रयत्न बहुत ही कम किया गया है। यही कारण था कि सांदू कुम्भकर्ण के घराने, जीवनी और कृतियों के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने में ये खोज-ग्रन्थ यत्किंचित भी सहायक नहीं हुए, अतः तदर्थ विभिन्न सम्बद्ध स्थानों और सम्भावित संग्रह-संस्थाओं में आवश्यक पूछ-ताछ तथा खोज करनी पड़ी। सांदू कुम्भकर्ण के गुरु महाकवि हरिद्विज तथा उसी के अनुज हरिदेव सम्बन्धी बीकानेर के प्रोफेसर विद्याधर शास्त्री तथा दिवाकर शर्मा के लेखों से[1] सांदू कुम्भकरण के घराने तथा

---

1. 'राजस्थान–भारती' (बीकानेर), जुलाई, 1951 ई०, पृ० 53-55; 'विश्वम्भरा' (बीकानेर), वर्ष 1, अंक 4, पृ० 66-72, वर्ष 2, अंक 3, पृ० 139–147; '26 वीं इण्टरनेशनल कांग्रेस आफ ओरियण्टलिस्ट्स; 1964 ई०, समरी आफ पेपर्स; क्र० 197, पृ० 220.

जीवन सम्बन्धी बहुत कुछ नई जानकारी प्राप्त करने का एक नया स्रोत प्रकाश में आया। तब हरिदेव व्यास के वर्तमान वंशज श्री बद्रीनारायण व्यास से सम्पर्क साध कर उनसे तद्विषयक उपयोगी जानकारी प्राप्त की। उनके इस सहयोग के लिये श्री बद्रीनारायण व्यास का बहुत ही अनुगृहीत हूं। 'रतन-रासो' की यह भूमिका छप जाने के बाद ही श्री करणी साहित्य-संस्थान, जोधपुर, द्वारा प्रकाशित 'चारण साहित्य' के वर्ष 1 के अंकों में श्री नारायणसिंह सांदू ने 'मालाजी सांदू व उनकी सन्तति' लेख में कुछ नई सामग्री प्रस्तुत की है, जिसका आगे कभी उपयोग किया जा सकेगा।

'वचनिका०' के प्रकाशित हो जाने के बाद श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ने धरमाट के युद्ध सम्बन्धी एक और काव्य 'बिन्है-रासो' की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया था।

गौड़ घराने से सम्बद्ध कवि राव महेशदास कृत इस काव्य-ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि उन्होंने सन् 1961 ई० में ही मुझे सुलभ कर दी थी। बाद में उन्होंने इस काव्य-ग्रन्थ का सयत्न सम्पादन किया, जिसे राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ने सन् 1966 ई० में प्रकाशित कर दिया था। 'बिन्है-रासो' में धरमाट (उज्जंन) के युद्ध का जो विवरण मिलता है, उसके आधार पर श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ने अपनी विस्तृत भूमिका में महाराजा जसवन्तसिंह के अधीन शाही सेना की वस्तु-स्थिति तथा इस युद्ध विशेष के घटना-प्रसंगों विषयक कई एक ऐसी स्थापनाएं की हैं, जो 'वचनिका०' अथवा 'रतन-रासो' द्वारा प्रस्तुत घटनावलि विशेष से ही नहीं, सब ही प्रामाणिक इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत कई एक मुख्य मान्यताओं से भी सर्वथा भिन्न हैं। अतः 'रतन-रासो' के ऐतिहासिक महत्त्व के संदर्भ में 'बिन्है-रासो' का अत्यावश्यक विवेचन भी अनिवार्य रूपेण भूमिका में आगे करना पड़ा है।

'बिन्है-रासो' को लेकर तब श्री सौभाग्यसिंह शेखावत के साथ जो अनायास सम्पर्क स्थापित हो गया था, वह आगे चल कर बहुत ही उपयोगी और लाभप्रद हुआ है। सांदू कुम्भकर्ण की जीवनी और घराने के बारे में जब उसमें विशेष जानकारी चाही गई, तब उन्होंने उसे एकत्र कर 'कुम्भकर्ण सांदू और राव रायसिंह की सतियों के कवित्व' शीर्षक लेख 'वरदा' पत्रिका में[1] प्रकाशित करवाया, जिससे अनेकों तथ्य प्रथम बार प्रकाश में आए। उसके बाद

1. वरदा (बिसाउ-राजस्थान), वर्ष 7, अंक 2, पृ० 5-16.

भी वे तद्विषयक अनेकों छोटी-मोटी जानकारियों की सूचना देते रहे हैं, 'रतन-रासो' में कई एक अन्य समकालीन चारण कवियों का उल्लेख है, उनके बारे में भी श्री सौभाग्यसिंह शेखावत से बहुत ही उपयोगी विशेष जानकारी प्राप्त हुई है, उनके इस महत्त्वपूर्ण सहयोग के लिए श्री सौभाग्यसिंह शेखावत का विशेष रूपेण अनुगृहीत हूँ।

'वचनिका ०' के प्रकाशन के कुछ ही समय बाद मंडावा (जयपुर) के कुंवर देवीसिंह ने खींवसर (जोधपुर) के ठाकुर केशरीसिंह के पास प्राप्य 'जोधपुर हुकूमत री बही'[1] की प्रतिलिपि की जानकारी मुझे दी थी। तब ठाकुर केशरीसिंह से सम्पर्क साध कर मैंने उक्त प्रतिलिपि प्राप्त की और उसकी एक और प्रति अपने निजी संग्रह, श्री रघुबीर लायब्रेरी, सीतामऊ, के लिए तैयार करवा ली। बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के जिस तत्परता और सरलता के साथ ठाकुर केशरीसिंह ने 'जोधपुर हुकूमत री बही' की अपनी उक्त प्रतिलिपि मुझे सुलभ की, वह मेरे लिए बहुत सुखद नया अनुभव था। उनके इस उल्लेखनीय सहयोग के फलस्वरूप ही रतन-रासो' के इस संस्करण को तैयार करने में उस 'बही' में प्राप्य सर्वथा नई प्रामाणिक जानकारी का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सका है। अतः तदर्थ मैं (अब स्वर्गीय) ठाकुर केशरीसिंह का बहुत ही अनुगृहीत हूँ। यह 'बही' महाराजा जसवंतसिंह के शासनकाल में तथा बाद में भी समय-समय पर लिखी जाती रही होगी, ऐसा जान पड़ता है। अतः उसमें वर्णित घटनाओं के लिए यह 'बही' महत्त्वपूर्ण समकालीन प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करती है। धरमाट के युद्ध सम्बन्धी कुछ ऐसी जानकारी इस 'बही' में मिली है, जिससे इस युद्ध के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर सर्वथा नया प्रकाश पड़ता है और इस युद्ध विषयक अब तक प्राप्त जानकारी की अनेकों उल्लेखनीय कमियों को वह दूर करती है। इन सारी बातों का आगे भूमिका में यथास्थान विवेचन किया गया है और 'बही' में प्राप्य तद्विषयक महत्त्वपूर्ण उपयोगी जानकारी को परिशिष्टों में यथावत् उद्धृत किया जावेगा।

सन् 1665 ई० के लगभग मुहणोत नैणसी ने 'मारवाड़ रा परगना री विगत' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तैयार किया था, जिसे मुहणोत नैणसी की

---

1. 'जोधपुर हुकूमत री बही' का जो सुव्यवस्थित सुसंपादित संस्करण मैंने तैयार किया था, उसे 'मारवाड़ अण्डर जसवंतसिंह (1658-1678 ई०)' शीर्षक से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, ने मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ-नई दिल्ली, के द्वारा प्रकाशित करवाया है।

सुप्रसिद्ध ख्यात का ही अंतिम खण्ड माना जाता है। इस ग्रन्थ की भी हस्तलिखित प्रतियां बहुत दुर्लभ हैं। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर दिया है। राजस्थानी शोध-संस्थान, जोधपुर के निदेशक डॉ० नारायणसिंह भाटी ने उसका संपादन किया है। इस समकालीन प्रामाणिक ग्रन्थ में प्राप्य धरमाट युद्ध सम्बन्धी जानकारी का अपना विशेष महत्त्व है। उसमें धरमाट के युद्ध के पहिले की घटनाओं का संक्षिप्त विवरण है। महाराजा जसवन्तसिंह के उज्जैन से खाचरोद जाने और वहाँ से लौटकर धरमाट युद्ध-क्षेत्र की ओर बढ़ने का वृत्तांत और तिथियां अवश्य ही भ्रमपूर्ण हैं। तदनन्तर महाराजा जसवंतसिंह के साथ भेजी गई सेना की कुल संख्याएं ब्यौरेवार दी गई हैं, और आगे उसमें नियुक्त सब ही सेनानायकों तथा प्रत्येक के साथ के सैनिकों की संख्या समेत सूची का पूर्वार्द्ध ही है। इस विगत' का सेना सम्बन्धी यह सारा विवरण और सूची 'जोधपुर हुकूमत री बही' में प्राप्य जानकारी के बिलकुल समान ही है। अत: इस विगत के विवरण और सूची की सहायता से 'जोधपुर हुकूमत री बही' के लुप्त और अस्पष्ट अंशों को पूरा या स्पष्ट किया जा सका है। उनमें पाये जानेवाले विशेष विभेदों का भी यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

नवम्बर, 1964 ई० में इन्दौर के श्री चंद्रशेखर दुबे ने मुझे सूचित किया था कि रतनसिंह के अन्तिम युद्ध-क्षेत्र से सम्बद्ध इतिहास–प्रसिद्ध गाँव धरमत का सही नाम 'धरमाट' है। श्री दुबे मूलतः उसी क्षेत्र के निवासी हैं। आवश्यक जाँच-पड़ताल के बाद उनका उक्त कथन सर्वथा सही निकला, अतः इस नाम विषयक अब तक चल रही भूल को इस ग्रन्थ में सुधार दिया गया है। इस युद्ध-क्षेत्र सम्बन्धी उक्त जांच-पड़ताल के समय 'जोधपुर की ख्यात', आदि में निर्दिष्ट ग्राम 'चोरनारायण' की सही पहिचान का प्रश्न भी सामने आया, जिसे हल करने में भी श्री चन्द्रशेखर दुबे ने पूरा सहयोग दिया है। उनके इस परिश्रम और सहयोग के लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ।

फरवरी, 1972 ई० के उत्तरार्द्ध में जब मुझे कार्यवशात् जयपुर जाना पड़ा था, तब श्री (अब डा०) शंभूसिंह मनोहर से ज्ञात हुआ कि महाराजा कॉलेज, जयपुर में हिन्दी विभाग के स्थानीय अध्यक्ष, श्री कृपाशंकर तिवारी के निजी संग्रह में 'रतन-रासो' की एक पुरानी प्रति प्राप्य है। 'रतन-रासो' की इस पुरानी प्रति को देखने के लिये मैं अधीर हो उठा। सोमवार, आषाढ़ कृष्ण 6, सं० 1853 वि० (जून 27, 1796 ई०) के दिन सम्पूर्ण की गई यह प्रति अब तक 'रतन-रासो' की प्राप्य प्रतियों में सब से पुरानी निकली। अतः उसके पाठांतरों को भी इसी संस्करण में सम्मिलित कर लेना अत्यावश्यक हो गया, और तदर्थ उस प्रति के लिये श्री कृपाशंकर तिवारी से प्रार्थना की गई तो उन्होंने तत्काल ही उस

प्रति को यथेष्ट समय के लिये मुझे सहर्ष सौंप दिया, जिससे इस संस्करण के सम्पादन में उसका भी पूरा-पूरा उपयोग किया जा सका है। अतः श्री कृपाशंकर तिवारी के बहुत ही कृतज्ञ हैं।

'रतन-रासो' के इस संस्करण को तैयार करने में श्री काशीराम शर्मा ने चार-पांच वर्ष तक अथक परिश्रम किया था। प्राचीन काव्यों की भाषा यों भी दुरूह होती है। और जब दुर्बोध ऐतिहासिक प्रसंगों का उल्लेख करते समय कवि कल्पना का सहारा लेकर अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने लगता है, तब तो कई बार भाषा की यह दुरूहता कई गुना बढ़ जाती है। 'रतन-रासो' में ऐसे स्थल अनेक हैं। अतः विभिन्न प्रतियों में पाये गये उल्लेखनीय पाठान्तरों और कठिन शब्दों के अर्थ के साथ हो सारे काव्य का हिन्दी भावार्थ भी मूल पाठ के साथ दिया जारहा है। साहित्यानुरागी पाठकों के साथही इस काव्य का गहन अध्ययन करने वालों तथा इतिहास के संशोधकों के लिए भी सारी आवश्यक सामग्री इस संस्करण में यथासाध्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। 'रतन-रासो' के इस संस्करण को इस प्रकार सर्वांगपूर्ण बनाने का पूरा-पूरा श्रेय मेरे साथी सम्पादक श्री काशीराम शर्मा को ही है। उनके विषय में यहाँ कुछ अधिक लिखना समीचीन प्रतीत नहीं होता है, तथापि तदर्थ उनका हार्दिक अभिनंदन करना सर्वथा अत्यावश्यक ही नहीं अपितु पूर्णतया अनिवार्य भी है।

महेशदास और रतनसिंह विषयक कई स्फुट गीत आदि प्राप्त हुए हैं। उन्हें मूल पाठ के साथ परिशिष्ट (1) में संकलित कर दिया गया है। जिन साहित्य प्रेमियों ने ये स्फुट गीत आदि प्रकाशनार्थ सुलभ किए हैं, उनका अनुगृहीत हूं।

अन्त में राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, के अधिकारियों का अत्यधिक अनुगृहीत हूं कि इस बृहत् काव्य के विस्तृत संस्करण को वे इस सुचारु रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। तत्सम्बन्धी निर्णय सन् 1971 ई० में लेकर जनवरी 1972 ई० के आरम्भ में उसकी प्रेस कापी छपने के लिये प्रेस में भेज दी गई थी, तब इसके भूमिका भाग की छपाई मई, 1972 ई० में ही पूरी हो गई थी। परन्तु, जब 'रतन-रासो' के मूल ग्रन्थ को कम्पोज करना आरम्भ हुआ, तब मूल पाठ के साथ पाठान्तर, भावार्थ व शब्दार्थ किस प्रकार छापे जावें, यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ। खड़िया जगा को 'वचनिका0' को ही तरह 'रतन-रासो' को भी आधुनिकतम ढंग से बांई ओर मूल पाठ व पाठांतर तथा दाहिनी ओर भावार्थ तथा शब्दार्थ समानान्तर छापने का सोचा गया था। परन्तु, इस प्रकार की छपाई अन्य कठिनाइयों के साथ ही आर्थिक दृष्टि से अपव्ययपूर्ण प्रतीत हुई, जिससे कुछ समय तक यह विवाद चलता रहा, साथ ही राजस्थानी में प्रयुक्त विशिष्ट ध्वनियों को

छपाई में यथावत् व्यक्त करने हेतु विशिष्ट चिह्नों वाले टाइप की समस्या पर भी विचार विमर्श सन् 1975 ई० तक चला। इधर नवम्बर, 1975 ई० में श्री नारायणसिंह सांदू से 'रतन-रासो' के प्रथम अध्याय व तृतीय अध्याय का पूर्वार्द्ध प्राप्त हो जाने के बाद शेष रहे द्वितीय अध्याय अथवा 'रतन-रासो' की सम्पूर्ण प्रति की खोज होती ही रहो, जिससे मैंने भी मूल ग्रन्थ की छपाई प्रारम्भ करने के लिये तब कोई ताकीद नहीं की। किन्तु, मेरे ये प्रयत्न विफल ही रहे, अतएव दिसम्बर 1976 ई० में श्री नारायणसिंह से प्राप्त अंश की प्रतिलिपि श्री काशी-राम शर्मा को भेज दो गई। द्वितीय अध्याय का अभाव तथा तृतीय अध्याय के यों प्राप्त अंश की कुछ विसंगतियां श्री काशीराम शर्मा को खटकती रहीं जिससे मूल पाठ के इस प्रारम्भिक अंश के सम्पादन का कार्य तब भी रुका ही रहा।

किन्तु, वर्तमान परिस्थतियों में इन्हीं कारणों से मूल ग्रन्थ के प्रकाशन को अधिक टालना कदापि उचित नहीं प्रतीत होता है। अतः यों प्राप्त पूर्ववर्ती अंशों के समुचित सम्पादन के बाद उसे यथास्थान जोड़ कर 'रतन-रासो' के इस बृहत् संस्करण को अब प्रकाशित कर देने का निर्णय लिया गया है। परन्तु, इसमें कुछ समय लगना अवश्यम्भावी है। पुन: यों भी इस सम्पूर्ण ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या बहुत बढ़ जावेगी। एवं कोई नौ वर्ष पहिले छपे हुए 'रतन-रासो' के भूमिका भाग को 'रतन–रासो' के प्रथम भाग के रूप में शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित कर देने का प्रतिष्ठान का निर्णय सर्वथा उचित ही है। इसलिये कोई दस वर्ष पहिले लिखी गई 'रतन–रासो' के इस बृहत् संस्करण की अपनी प्रस्तावना को संशोधित कर अब इस प्रथम भाग के साथ दिया जा रहा है।

यह विशेष हर्ष और संतोष का विषय है कि कोई तैंतीस वर्ष बाद ही क्यों न हो सन् 1947 ई० में किये गये निश्चय के अनुसार 'रतन-रासो' का यह संस्करण अब प्रकाशित होने जा रहा है। इस संस्करण के दोनों ही सम्पादक इस बात को भलीभांति जानते हैं कि सारे आवश्यक प्रयत्न करने पर भी यत्र-तत्र भूलें रह जाना कोई अनहोनी बात नहीं हैं। अतः सुविज्ञ पाठकों से उनका यह पूर्ण आग्रह है कि जो भी त्रुटियां अथवा भूलें उन्हें दिखाई पड़ें उनकी सूचना वे अवश्य ही दे देवें, जिससे अगले संस्करण में उन्हें सुधारा जा सकेगा। यों 'रतन रासो' अब प्रथम बार प्रकाशित होकर सर्व साधारण के लिए सुलभ हो जावेगा, अतः यही आशा की जाती है कि उसका यह संस्करण प्रकाशित हो जाने पर भविष्य में 'रतन-रासो' का पठन-पाठन और प्रचार भी अब तक यथावत् चली आ रही उसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा के ही अनुरूप अधिकाधिक विस्तृत और व्यापक होता जावेगा।

मेरे पूज्य पिता, स्वर्गीय महाराजा सर रामसिंह जी, सीतामऊ नरेश, बहुत ही समुत्सुक थे कि 'रतन-रासो' का सुसम्पादित संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित हो जावे, तदर्थ उन्होंने हो प्रारम्भ में मुझे विशेष रूप से प्रेरित किया था और बाद में भी समय-समय पर सम्पादन कार्य की प्रगति के बारे में बराबर पूछ-ताछ करते रहते थे। 'रतन–रासो' के इस संस्करण को यह अंतिम रूप देने में तथा इसके प्रकाशन में जो अनपेक्षित अत्यधिक देरी हुई है उसका उल्लेखनीय प्रमुख दुष्परिणाम यही हुआ कि इसका प्रकाशन उनके जीवनकाल में नहीं हो सका। अतः अब 'रतन-रासो का यह प्रथम संस्करण उन मनीषी की पुण्य स्मृति को समर्पित करके ही संतोष करना पड़ रहा है, उनके देहान्त के साथ ही 'रत्न-कुल' की गौरवपूर्ण परम्परा का तदनुरूप समुचित भव्य समापन हो गया है। बहुना किमधिकम् ?

"रघुबीर निवास"
सीतामऊ(मालवा)
458-990
फरवरी 9, 1980

रघुबीरसिंह

# भूमिका

काशीराम शर्मा
डा० रघुबीर सिंह

# १. पूर्व पीठिका : (क) काव्य पक्ष

## (१) भारतीय काव्य धारा का प्रेरणा स्रोत

भारतीय इतिहास के विद्यार्थी इस बात से सुपरिचित हैं कि आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व भारत में सिंधु घाटी की सुसमृद्ध सभ्यता विद्यमान थी। हड़प्पा और मोहें जो दड़ो, काली बंगां और पीली बंगां, तथा सरस्वती और दृषद्वती के प्रवाह क्षेत्र आदि अनेक स्थानों पर हुए अन्वेषणों से यह सिद्ध हो गया है कि भारत में आर्यों के विस्तार से पूर्व की यह सभ्यता द्रविड़ सभ्यता थी। भारत के दक्षिणतम छोर केरल से लेकर उत्तर में सिंधु-पंजाब के क्षेत्र तक इस सभ्यता का विस्तार था। द्रविड़ परिवार की सर्वमान्य भाषा ब्राहुई का सिंधु घाटी के समीपस्थ प्रदेश में पाया जाना और तथाकथित भारतीय आर्य भाषाओं में भी द्रविड़ भाषाओं के एक स्तर का विद्यमान रहना इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि भारत के इस विस्तृत भू क्षेत्र में आर्य-सभ्यता से पूर्व द्रविड़ सभ्यता का प्रसार था। आर्य लोग मध्य एशिया से आये हों चाहे और कहीं से, चाहे भारत के उत्तरी क्षेत्र के ही निवासी क्यों न रहे हों पर इतना स्पष्ट है कि सप्त सिंधु से दक्षिण के भूखंड में उनका प्रसार विक्रम संवत् से अधिकाधिक दो सहस्र वर्ष पुराना ही हो सकता है। ब्राह्मण ग्रंथों तथा आज की भारतीय भाषाओं के ढांचे तक की परीक्षा करने से यही प्रतीत होता है कि शरावती (रावी) से उत्तर पश्चिम में विद्यमान उदीच्य प्रदेश में तो संस्कृत भाषी आर्यों का आर्य स्त्रियों सहित निवास था पर इससे दक्षिण पूर्व में प्राच्य[1] से आरंभ होने वाले समग्र क्षेत्र में आर्येतर जन विद्यमान थे जिनमें निस्संदेह सर्वाधिक सभ्य और ज्ञान-विज्ञान-समृद्ध द्रविड़ जन ही थे। ये द्रविड़ लोग ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी होते हुए भी युद्ध कला में निपुण न थे।[2] युद्ध वस्तुतः उनके जीवन-दर्शन के अनुरूप ही न था। फलतः युद्ध-कला-निपुण आश्रमवासी आर्य जन द्रविड़ों के समृद्ध पुरों और नगरों का भंजन करते हुए आगे बढ़ते गए और सहिष्णु द्रविड़ आत्म समर्पण करने के साथ-साथ आर्यों को आत्मसात् करने का विस्मयकारी कार्य भी करते रहे।

---

१. प्रागुदंची विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्द सिद्धयर्थं सा नः पातु शरावती। (नागेश भट्ट द्वारा उद्धृत एक प्राचीन श्लोक)
लोकोयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु यो ऽ वधेः।
देशः प्राग् दक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः। (अमरकोश)
खेद है कि कुछ लोग 'प्राच्य' को पूर्व में बिहार तक घसीट ले गये हैं।

२. सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में कहीं भी युद्धोपयोगी पशु घोड़े का कोई चिह्न नहीं मिलता यद्यपि अन्य अनेक पशुओं के चित्रादि प्राप्त होते हैं। ध्यान रहे इसी प्रदेश का सैन्धव घोड़ा परवर्ती आर्यों की दृष्टि में बड़ा उपयोगी था।

दक्षिण की ओर क्षेत्र विस्तार करने वाले आर्यजन सैनिक थे और स्त्रियों के साथ उनका आगे बढ़ते जाना संभव न था अतः उन्होंने द्रविड़ स्त्रियों को ग्रहण करना उचित समझा। पर अपनी सत्ता को पृथक् बनाये रखने के लिए उन्होंने उन स्त्रियों से उत्पन्न हुई सन्तानों को आर्य सन्तान माना। द्रविड़ों में मातृसत्ताक परिवार व्यवस्था थी पर आर्यों ने पितृसत्ताक व्यवस्था का सूत्रपात किया।

अपने मूल आर्य वातावरण से दूर पड़े हुए, चतुर्दिक् द्रविड़ वातावरण से परिवृत और अपने परिवारों तक में द्रविड़ स्त्रियों को धारण करने वाले आर्यों के लिए यह अत्यन्त कठिन समस्या थी कि अपनी मूल भाषा से संपर्क कैसे बनाये रखा जाय। द्रविड़ भाषा और आर्य भाषा के वर्ण समाम्नाय, शब्द स्वरूप और वाक्य विन्यास में दिन रात का अन्तर था। ऐसी स्थिति में इन प्रसारशील आर्यों के समक्ष यह प्रश्न था कि द्रविड़ क्षेत्र में द्रविड़ माताओं से उत्पन्न हुई तथाकथित आर्य संतानें आर्य भाषा, आर्य संस्कृति और आर्य सभ्यता से परिचित कैसे रहें। इसके लिए आर्यों ने एक पद्धति ढूंढ़ निकाली। यह पद्धति कठोर अवश्य थी पर उसका कठोरता से ही पालन किया गया और उसका परिणाम यह हुआ कि पाँच-सात सौ वर्षों की अवधि में दोनों संस्कृतियों का अद्भुत समन्वय हुआ। दोनों की भाषा के समन्वय से नवीन भाषा स्वरूपों का उदय हुआ और ज्ञान-विज्ञान तथा धर्म-दर्शन तक के क्षेत्र में समन्वित वाङ्मय का उद्भव हो गया। आज सूक्ष्म विश्लेषण करने वाले विवेचक भी कठिनाई से ही दोनों तत्त्वों का पृथक् निर्देश कर पाते हैं।

हां, तो आर्यों की वह कौन-सी पद्धति थी, वह कौनसा संस्कार था जिसने आर्य और द्रविड़ सभ्यताओं में समन्वय स्थापित किया और उदीच्य प्रदेश से बहुत दूर के भूभाग में भी आर्य भाषा के प्रसार में कठिनाई न होने दी। यह पद्धति थी उपनयन संस्कार की। होता यह था कि आर्य जन द्रविड़ पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों को आठ-दस वर्ष की आयु में ही उदीच्य प्रदेश में भेज देते थे[1] जहां वे आर्य आश्रमों में सत्रह-अठारह वर्ष रह कर अपने बाल्यकालीन द्रविड़ संस्कारों से पूर्णतः मुक्त हो जाते थे और आर्य संस्कृति तथा आर्य भाषा के वातावरण में रह कर पूर्णतः आर्य भाषा भाषी हो जाते थे।[2] यों द्रविड़ माताओं की ये संतानें 'जन्मना शूद्र' होते हुए भी 'संस्काराद् द्विज' बन जाती थीं। इन द्विजों को पुनः द्रविड़ क्षेत्र में आकर निवास करना और गृहस्थ धर्म का पालन करना होता था; इसलिए उन्हें स्नातक बनने के पूर्व एक बार पुनः द्रविड़ भाषा के लक्षण बताये जाते थे ताकि उनका सत्रह-अठारह वर्ष की अवधि में विस्मृत हुआ ज्ञान पुनर्जीवित हो सके और वे स्वयं आर्य भाषा का प्रयोग करते हुए भी अपनी द्रविड़ पत्नियों और शूद्र सेवकों से काम ले सकें। समावर्त्तन संस्कार के समय उनको यह शपथ भी दिलाई जाती थी कि 'स्वाध्यायान्मा

---

१. ततः काश्मीर गमनम्—उपनयन पद्धति।

२. उदंच उ वै यन्ति वाचम् शिक्षितुम्, यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति-सांखायन ब्राह्मण—७-६

प्रमद' ताकि सत्रह-अठारह वर्ष का परिश्रम व्यर्थ न हो जाए और द्रविड़ वातावरण से अभिभूत होकर वे आर्य भाषा का उच्चारण न भूल जाएं।

यों आर्य सभ्यता प्रसार की पांच-सात शताब्दियां ऐसी रहीं जिनमें संस्काराद् द्विजता को प्राप्त आर्य पुत्र संस्कृत (संस्कारोत्तर सीखी हुई) भाषा बोलते थे और शेष जन समुदाय स्थानिक प्राकृत भाषा बोलता था। इस स्थिति का प्रमाण संस्कृत नाटकों में अवशिष्ट भाषा-निर्धारण परंपरा में तो विद्यमान है ही, धर्मशास्त्रों के उन विधि-निषेध वाक्यों में भी है जिनमें स्त्रियों और शूद्रों के लिए वेद मंत्रों के उच्चारण तक का निषेध है और द्विज के लिए स्वाध्याय सर्वोपरि दैनंदिन कृत्य है। इसके अतिरिक्त प्राकृतों के ध्वनि-समुदाय और आधुनिक भारतीय भाषाओं के, विशेष कर खड़ी बोली के, वाक्य-विन्यास का द्रविड़ भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो जाएगी कि प्राकृतों से विकसित वर्तमान भारतीय भाषाओं के मूल में द्रविड तत्त्व ह प्रधान हैं।

भारत में आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व ही शिक्षा और निरुक्त के ग्रंथ बनने लगे थे और अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व तो पाणिनि का वह व्याकरण भी बन चुका था जो संस्कृत भाषा का वैज्ञानिक वर्ण-विश्लेषण और शब्द-विश्लेषण प्रस्तुत करता है। शिक्षा और व्याकरण के ऐसे ग्रंथों का निरूपण निस्संदेह उन अध्येताओं को ही ध्यान में रख कर किया हुआ हो सकता है जिनकी मातृभाषा संस्कृत नहीं हो। किसी को अपनी मातृभाषा के वर्णोच्चारण और शब्द-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसे ग्रंथों की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं हो सकती। उधर इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि बुद्ध और महावीर के समय भी पालि और प्राकृत भाषाएं विद्यमान थीं जब कि दूसरी ओर पतंजलि के समय तक संस्कृत भाषी जन समूह का भी पूर्णतः लोप नहीं हुआ था। बुद्ध और महावीर से परवर्ती पाणिनि का शब्दानुशासन तो निस्सदेह जीवंत भाषा का ही स्पष्ट सर्वांगपूर्ण विवरण है।

यों हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक ही समय में भारत के एक भूखंड में आर्य भाषा का प्रचलन था और शेष भारत में द्रविड भाषाओं का प्रयोग होता था जो परिवार के प्रमुख आर्य पुरुष से अभिभूत होने के कारण शब्द समूह के लिए सदा आर्यभाषा के तत्सम या कम से कम तद्भव रूपों को आत्मसात् करने की दिशा में प्रवृत्त थीं। सांस्कृतिक अभिभव के कारण अभिभूत जन समुदाय अभिभावी वर्ग की भाषा के शब्दों का सगर्व ग्रहण किया करते हैं। यह प्रवृत्ति भारत में फारसी-अरबी, अंग्रेजी आदि के भारतीय भाषाओं में सायास गृहीत सहस्रों शब्दों में भी द्रष्टव्य है। पर इतना स्पष्ट है कि सांस्कृतिक अभिभव से शब्द समूह में तो भारी परिवर्तन आता है पर भाषा की मूल प्रकृति अर्थात् वर्ण समाम्नाय और वाक्य विन्यास में बहुत कम परिवर्तन आ सकता है। जो परिवर्तन आता भी है वह भी सायास होता है, स्वाभाविक नहीं।

यदि हम भारत की वर्तमान भाषाओं का विश्लेषण करें तो देखेंगे कि वर्ण समाम्नाय और वाक्य विन्यास की दृष्टि से उदीच्य प्रदेश में बोली जाने वाली वर्तमान भाषाए संस्कृत से मेल खाती हैं जब कि हिंदी, गुजराती, मराठी, सिंधी आदि भाषाओं के ये तत्त्व संस्कृत से दूर पड़ते हैं और द्रविड परिवार की भाषाओं के अधिक निकट हैं। खड़ी बोली हिंदी का तो द्रविड़ भाषाओं से अद्भुत साम्य है। हमें तो पूर्ण विश्वास है कि खड़ी बोली के वाक्य विन्यास का विकास न तो संस्कृत से संभव है और न किसी उपलब्ध साहित्यिक प्राकृत से।

प्राकृत-अपभ्रंश आदि की जो साहित्यिक सामग्री आज हमें उपलब्ध है वह वर्तमान भारतीय भाषाओं के विकास को समझ पाने के लिए यथेष्ट उपादान प्रस्तुत नहीं करती। प्राकृतादि की साहित्यिक सामग्री ऐसे लेखकों की लेखनी से प्रसूत है जो संस्कृत में सोच कर उसे प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट नियमों के अनुसार अनुवादित कर देते थे। यों उपलब्ध साहित्य कृत्रिम प्राकृतों का साहित्य है और वह वर्तमान भारतीय भाषाओं के विकास के सोपानों का समुचित निर्देश नहीं कर सकता। हां, ध्वनि परिवर्तन के नियम इस बात का निर्देश अवश्य करते हैं कि नियम बनाते समय द्रविड़ भाषी जनों के संस्कृत उच्चारण को ही ध्यान में रखा गया होगा।

हिंदी, गुजराती, मराठी, सिंधी, पंजाबी आदि का द्रविड़ भाषाओं से स्वरूप साम्य और सस्कृत से स्वरूप वैषम्य तथा उधर उदीच्य प्रदेश की कश्मीरी, पश्तो आदि का संस्कृत से स्वरूप साम्य और शेष भारतीय भाषाओं से स्वरूप वैषम्य ऐसा विषय है जिस पर पांच-सात सौ पृष्ठों के ग्रंथ की आवश्यकता है। अतः वह कार्य यथास्थान किया जायेगा। यहां केवल इतना निर्देश अभीष्ट था कि द्रविड़ सभ्यता प्रधान प्रदेश में जब आर्य सभ्यता का प्रसार हुआ तो भाषा, संस्कृति, विचार, दर्शन और धर्म सभी क्षेत्रों में एक प्रकार का समन्वय प्रारम्भ हुआ।

## द्रविड़ और आर्य विचारधारा का समन्वय

जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है द्रविड़ सभ्यता बहुत समृद्ध और समुन्नत थी। आज जो कुछ आर्यों का पुराण वाङ्मय माना जाता है वह मूलतः द्रविड़ों का विचार-दर्शन था। बात यह है कि पाणिनि ने जिस प्रदेश की अंतरयन संज्ञा बताई है वह द्रविड़ संस्कृति का क्षेत्र था। इस प्रदेश में रहने वाले जन-समुदाय का ध्यान सूर्य की अयन गति की ओर गये बिना नहीं रह सकता था। तमिल-केरल के समुद्रतट वासी जिज्ञासुओं ने अयन के रहस्य को जानने के लिए भूमध्य रेखा और मकर रेखा तक यात्रायें की होंगी। सारा क्षेत्र समुद्र क्षेत्र होने के कारण निर्विघ्न समुद्र यात्रा के लिए उन्हें चन्द्रमा और तारों की गति-स्थिति का भी अध्ययन करना आवश्यक हुआ होगा। निस्संदेह उन्होंने इन आकाशचारियों की गति-स्थिति का विस्तृत अध्ययन किया था और सूर्य को सौर मण्डल का पितामह मान लिया था। उत्तरायण यात्रा में सूर्य जब वृष राशि में होता है तभी

उसकी सीधी किरणें सर्व प्रथम भूखण्ड पर (सिंहल, वर्तमान लंका, पर) पड़ती हैं। इसी को ध्यान में रख कर उन्होंने सूर्य की वृष रूप में और तदनुवर्त्तिनी पृथ्वी की गौ रूप में कल्पना की थी। द्रविड़ विद्वानों की तत्कालीन भाषा में इन खेचरों के क्या नाम थे यह तो बता सकना आज कठिन है पर इतना निस्संदेह कहा जा सकता है कि पुराण कथाओं की अधिकांश नामावलि आकाशचारी ग्रह पिंडों की ओर ही संकेत करती है। ऊपर वर्णित वृष-सूर्य ही पृथ्वी को अपनी संकर्षण शक्ति से धारण करने वाले सहस्र शृंग वृष के रूप में वर्णित हुआ है। वही सौर मण्डल का आदि मूल होने के कारण आदित्य (आदि+त्य, अदितेः अपत्यम् पुमान् नहीं) कहा गया था। प्रलय अर्थात् पृथ्वी आदि ग्रहों के पुनः सूर्य में लीन हो जाने के समय केवल वही अवशिष्ट रह जाता है; अतः वही 'शेष' कहलाया जो बाद में सहस्रफणा शेषनाग के रूप में चित्रित हुआ।

अग्नितत्त्व प्रधान आदित्य भी किस प्रकार वायुतत्त्व (गैस अवस्था) और आकाश तत्त्व (ब्रह्म) से उत्पन्न हुआ इसका विवेचन भारत के उन प्राचीन विद्वानों ने किया था। ब्रह्म का वास्तविक अर्थ आकाश है, यह जाने बिना न तो ब्रह्म विद्या ही समझ में आती है और न शब्द ब्रह्म (शब्दगुणकं आकाशम्) की ही कल्पना स्पष्ट होती है। तेंतीस कोटि देवता तारे हैं, यह बात तो प्रायः लोगों के समझ में आ जाती है पर ब्राह्मण देवता कैसे हैं, यह बात हमें तभी समझ में आयेगी जब हम जानें कि इस प्रसंग में ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्म (अर्थात् आकाश) में विचरण करने वाला (तारा) जो 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' से भी स्पष्ट है। उस ब्रह्म अर्थात् आकाश और ब्रह्मचारियों अथवा ब्राह्मणों अर्थात् नक्षत्र-ग्रहों का विचार-विश्लेषण करने वाले भी ब्राह्मण या ब्रह्मचारी कहे जाते थे। आकाश के तथ्यों का अध्ययन काल ही ब्रह्मचर्य काल था। आज का संस्कृतज्ञ सामान्यतः ब्रह्म, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण शब्दों के इन अर्थों से अनभिज्ञ प्रतीत होता है पर मूलतः ये शब्द इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त द्रविड़ शब्दों के पर्याय रहे होंगे और विद्याध्ययन काल का अधिकांश भाग आकाश में स्थित तारों की गति-स्थिति का अध्ययन करने और आकाश तत्व से हुई समग्र सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार करने में ही व्यतीत होता रहा होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण में कुमारी अंतरीप से लेकर उत्तर में प्राच्य प्रदेश तक विस्तृत द्रविड़ सभ्यता के प्रणेताओं का अधिकांश समय आकाश तत्त्व से हुई सृष्टि, आकाशीय पिण्डों की चक्र गति और सूर्यादि मूलक काल विभाजन पद्धति इत्यादि पर विचार करने में ही जाता था। तारों की गति के चक्रवत् स्वरूप को देख कर ही उन्होंने जन्म-मरण के चक्र की ओर आत्मतत्त्व के सातत्य की कल्पना की थी। समन्वयवादी आर्यों ने आत्मा के आवागमन की इस कल्पना को द्रविड़ों से ही लिया होगा क्योंकि मूलतः आर्य विचार धारा तो उस पितृलोक की कल्पना में विश्वास करती थी जिसमें जाकर मृत आत्माएं बस जाती हैं और प्रति वर्ष श्राद्ध पक्ष में भोजनार्थ पृथ्वी लोक में आती हैं। समन्वय प्रेमियों ने एक ओर पितृलोक की इस कल्पना को भी बनाये रखा तो दूसरी ओर पुनर्जन्मवाद को भी स्वीकार कर लिया।

यों वैदिक परम्परा से दूर पड़ जाने वाली उपनिषद् विचारधारा और बौद्ध-जैन विचार परम्परा यदि द्रविड़ परम्परा की देन मानी जाए तो अनुचित न होगा। द्रविड़ सभ्यता का सुविदित प्रतीक वृषभ (मोहें जो दड़ो आदि में द्रष्टव्य) मूलतः ज्योतिषियों का वृषस्थ सूर्य था। वही ऋषभ नाम से जैनियों का आदि तीर्थंकर है। देव मन्दिरों के बाहर नांदी नाम से उसी की स्थापना की जाती है और बसव नाम से पूजित दक्षिण भारत का देवता वृषस्थ सूर्य के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

आर्य शास्त्रविदों की तत्त्व निरूपण शैली सूत्र प्रधान शैली थी जिसमें सूत्र रूप में संक्षिप्त विषय निरूपण होता था जिसे अध्यापक अपने भाष्य-व्याख्यान द्वारा स्पष्ट करता था। पर उधर द्रविड़ों द्वारा कथा–कहानियों और अभिनयों की सरस शैली में शास्त्रीय तथ्यों का निरूपण किया जाता था। वही शैली बाद में पुराणों के रूप में आर्यों ने भी अपना ली। आर्यों के वैदिक साहित्य में थोड़ा बहुत प्रतीकात्मक वर्णन द्रष्टव्य है पर पुराणों के समान नहीं है। प्रतिलोमज सूतों द्वारा मूलतः प्रोक्त पुराण-कथा वाङ्मय निःसंदेह द्रविड़ शैली का शास्त्र निरूपण है।

जीवन का अधिकांश भाग ग्रह-नक्षत्रों के अध्ययन में—ब्रह्म विद्या के निरूपण में—लगाने वाले द्रविड़ों ने सूर्य-पृथ्वी-चंद्रमा के परस्पर संबंधों को ठीक से समझा था; ग्रह-तारों की गतियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था; उज्जयिनी, कुरुक्षेत्र आदि के मध्य से जाने वाली देशान्तर रेखा के समय को विश्व भर के लिए स्टेंडर्ड समय मानकर उसे 'महाकाल' की संज्ञा दी थी; उज्जयिनी में उसके मंदिर की प्रतिष्ठा की थी और देश भर में समय का सम्यक् ज्ञान कराने के लिए महाकाल की देशान्तर रेखा पर अनेक नगरों की स्थापना की थी जिनके संस्कृत पर्याय प्राचीन भारत के सुप्रसिद्ध नगर रहे हैं। 'अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्' की माध्यमिका नगरी और जैन-बौद्ध वाङ्मय की मज्झमिआ नगरी वास्तव में कहां थी, इस विषय पर विद्वानों में आज मतभेद है और सभी विद्वान् अपने-अपने पक्ष के समर्थन में समान रूप से प्रबल तर्क प्रस्तुत करते है। पर माध्यमिका मूलक समस्या का समाधान बहुत छोटा-सा है। माध्य समय की कल्पित देशांतर रेखा पर देश के विविध भागों में अनेक नगरियां थीं जो माध्यमिका या मज्झमिआ नाम से प्रसिद्ध थीं। इसलिए सभी विद्वानों के तर्क ठीक हैं। इसी प्रकार मध्यपुर या मध्यपुरी नाम से भी अनेक नगर प्रसिद्ध हुए थे। उनके प्राकृत रूप मदुरै, मथुरा आदि हैं और उन्हीं का पुनः संस्कृतीकृत रूप मधुरा है। शत्रुओं के आक्रमण, नदियों के प्रवाह मार्ग आदि के कारण इन नगरों के समय-समय पर स्थानांतरण अवश्य हुए हैं पर इतना स्पष्ट है कि इन नामों के नगर-पुरों का निर्माण सर्वप्रथम भारतीयों की इस कल्पित माध्य समय रेखा पर ही हुआ था जिसका उल्लेख भास्कराचार्य ने 'यल्लंकोज्जयिनी पुरोपरि कुरुक्षेत्रादि देशान् स्पृशत्, सूत्रं मेरु गतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः' कह कर किया है। इस रेखा पर उदित सूर्य का काल प्रामाणिक काल माना जाता था जिसे ज्योतिष की भाषा में आज लंकोदय काल कहा जाता है। इस उदयकाल की भारत स्थित प्रमुख नगरी "उदयिनी" थी जिसका तद्‌भव रूप

उजेणी पुनः संस्कृतीकृत होकर उज्जयिनी बना । इसी भाव को व्यक्त करने वाली "विहाणी" (भिवानी) नाम की नगरी हरियाणा में भी विद्यमान है । वहां एक अन्य ऐसा ही नगर दिनोद (दिनोदय) है ।

यह सब विवेचन यह व्यक्त करने के लिए किया गया है कि अयन मंडल के सम्पूर्ण क्षेत्र में विचरण करके ज्योतिष के ज्ञान में वृद्धि करने वाले द्रविड़ों का ज्योतिष ज्ञान बहुत समृद्ध था काल विभाजन के सम्बन्ध में वे बहुत सजग रहते थे । देश भर में उन्होंने अनेक नगरों का निर्माण किया था जो मध्यरेखा पर बसे थे और जिनके नामों के संस्कृत पर्याय आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं । उन द्रविड़ों की दृष्टि में आकाशचारियों का अध्ययन ही प्रमुख शास्त्र चिंतन था । उनकी दृष्टि में सूर्य ही सृष्टि का प्रथम दृग्गोचर रूप था यद्यपि उसका भी विकास आकाश तत्त्व और वायु तत्त्व से हुआ था । सूर्य के साथ चन्द्रमा और अन्य तारों को भी उन्होंने महत्त्व दिया था । इनमें एक धारा चन्द्रमा को महत्त्व देने वालों की भी थी ।

पर द्रविड़ों की शास्त्र ज्ञान के प्रतिपादन की शैली आर्यों से भिन्न थी । वे सूत्र-भाष्य शैली से आश्रमों में नहीं पढ़ाते थे । वे तो प्रतीकात्मक कथा-कहानियों के रूप में शास्त्र–निरूपण करते थे । ग्रामवृद्ध जन रोचक कथाओं के रूप में ज्योतिष और सृष्टि निर्माण के प्रसंगों का विश्लेषण करते थे । ये कथाएं पुराण वाङ्मय, महाभारत और रामायण के रूप में आज विद्यमान हैं । मूलतः ये सब कथाएं शास्त्र निरूपण के लिए बनी थीं और द्रविड़ वृद्धों की मुख परंपरा में ही सुरक्षित रही थीं । बाद में इन्हीं को संस्कृत में काव्य रूप मिला और आज तो ये अपने को सगर्व आर्य घोषित करने वाले भारतीय जन-मात्र के लिए गौरव के ग्रंथ हैं ।

इन ग्रंथों के प्रमुख पात्र राम-लक्ष्मण, कृष्ण-बलराम आदि आज ऐतिहासिक महापुरुष माने जाते हैं; पर मूलतः राम और बलराम सूर्य हैं, कृष्ण और लक्ष्मण चंद्रमा हैं । सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन की कथा रामायण की कथा है । षोडश कला निधान कृष्णचंद्र के राधा-प्रणय और यशोदा-वात्सल्य की कथा विशाखा (=राधा)-पति चंद्रमा और कृत्तिकाजन्य चंद्रमा की कथा है ।[1]

सरस पद्धति से ज्ञान विज्ञान का प्रसार करने वाले द्रविड़ों में केवल पुराण कथा और हरि कथा (हरि=सूर्य) की शैली ही विद्यमान न थी, वे तो इन कथाओं का अभिनय भी किया करते थे । सूर्य (राम), पृथ्वी (सीता=लीला) और चंद्रमा (लक्ष्मण) के परस्पर संबंधों को व्यक्त करने वाला अभिनय 'रामलीला' नाम से अभिहित होता था तो चंद्रमा की राशिक्रीड़ा का अभिनय रासक्रीड़ा नाम से होता था । सूर्य और चंद्र मूलक काल विभाजन तथा संक्रांति, पक्ष आदि का सतत विचार ही 'भक्ति' था (भक्ति=विभाजन) ।

१. विश्वम्भरा, भाग १, अंक ३, ४ में 'राधावल्लभ कृष्णचंद्र' और 'रामलीला' विषयक लेख देखिए ।

यों पांच–सात सौ वर्षों की अवधि में आर्यजन जब केरल छोर तक पहुँचे और उनकी द्रविड़ पत्नियों से उत्पन्न 'आर्य संतानें' संस्कारात् द्विजत्व को प्राप्त होकर फलीं फूलीं तो एक समन्वित संस्कृति का विकास हुआ। आर्यों के इन्द्र, मित्र और वरुण भी देवता रहे पर द्रविड़ों के राम, कृष्ण, विष्णु आदि से उनका स्थान नीचा ही रहा। द्रविड़ों के गणतंत्र का प्रतिनिधि गणेश आर्यों के राजतंत्र के प्रतिनिधि इन्द्र से पूर्व अग्रपूजा का अधिकारी बना रहा। आर्यों ने द्रविड़ों के जिस देवता को निन्दात्मक शब्दों में भैरव (भीरु का बच्चा!) कहा था वह भी आर्यजनों द्वारा पूजा का अधिकारी बना और उसके विकराल रूप की कल्पना की गयी। द्रविड़ों का वृषभवाहन शिव हिमालय का जामाता माना जा कर आदर-सत्कार का अधिकारी बन गया। ब्रह्मा, विष्णु और शिव का त्रिदेव वाद इंद्रादि के उपासक आर्यों में स्वीकृत हो गया। पितृ लोक में प्रेतात्मा के निवास की कल्पना करके श्राद्ध द्वारा उनके तर्पण की योजना करने वाले आर्यों ने द्रविड़ों के पुनर्जन्मवाद को सहर्ष स्वीकार कर लिया और 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' उनका एक मात्र आदर्श सिद्धान्त हो गया। अथर्ववेद में जहां इन्द्र द्वारा कृष्ण की पत्नी की चमड़ी उधेड़े जाने का वर्णन करके कृष्ण के प्रति रोष की अभिव्यक्ति की गयी थी वहां 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' का नारा सर्वमान्य हो गया। राम और कृष्ण आर्यों के सर्वाधिक पूज्य देव और भक्ति के आलंबन बन गये। प्रो० हुमायून् कबिर ने 'भारतीय परंपरा' नामक पुस्तक में आश्चर्य व्यक्त किया है कि अपने गौर वर्ण पर गर्व करने वाले जो आर्य कृष्ण वर्ण अनार्यों की घोर निन्दा करते थे उन्होंने ही राम और कृष्ण के श्याम वर्ण की कल्पना को कैसे स्वीकार कर लिया[1]? इस शंका का उठना तो स्वाभाविक है पर प्रो० कबिर का समाधान सही नहीं है। प्रो० कबिर का कहना है कि संभवतः यह आर्यों की राजनीतिक चतुराई थी। पर वास्तविक बात यह थी कि कृष्ण वर्ण अनार्यों की निंदावाले वैदिक साहित्य और राम–कृष्ण के गौरव वाले साहित्य के निर्माण के मध्य यदि एक सहस्र वर्ष का नहीं तो भी पांच-सात सौ वर्षों का अंतराल अवश्य था। इतनी लंबी अवधि में द्रविड़ माताओं से उत्पन्न और द्रविड़ वातावरण में रहने वाली आर्य संतानों का द्रविड़ तत्व को अपना लेना स्वाभाविक था। दूसरे, द्रविड़ जन ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अधिक समृद्ध थे और उनकी शास्त्र प्रतिपादन शैली अधिक रोचक थी अतः आर्यों द्वारा उसके सहर्ष ग्रहण में कोई बाधा न थी। उधर आर्यों में अच्छाई यह थी कि उन्होंने आरंभ से ही 'यस्मिन् देशे य आचारः धर्म इत्यभिधीयते' के सिद्धान्त को माना था और अपने आचार-विचार को द्रविड़ों पर बलात् थोपा नहीं था। हां, अपनी संस्कार पद्धति से अपनी संस्कृति की रक्षा का यत्न अवश्य किया था। आर्यों का दूसरा गुण यह था कि उनकी किसी अन्य देश के प्रति पूज्य भावना न थी। उन्होंने भारत को ही अपनी पूज्य भूमि माना। उसी के नग-पर्वत, नद-सरोवर, पुर-नगर उनके पूजा स्थल बने। आर्य जन ज्यों-ज्यों फलते-फूलते गये त्यों-त्यों अधिकाधिक समन्वय स्थापित करते गये; द्रविड़ों के साथ तादात्म्य भाव ग्रहण करते गये;

---

१. भारतीय परंपरा—प्रो० कबिर पृ० ४।

उनकी संस्कृति और ज्ञान धारा से आप्लावित होते गये और दशा यहाँ तक आई कि वे अपने पूज्यतम ग्रंथों–वेदों–का मूल अर्थ तक भूल गये । आज हम उनके अर्थों के विषय में केवल कल्पनाएं ही कर सकते हैं । उधर द्रविड़ पुराण कथाएं उनकी अपनी पूज्य कथाएं बन गई । राम और कृष्ण के श्याम वर्ण की कल्पना पर आश्चर्य करने वाले प्रो० कबिर को इस बात पर और भी आश्चर्य होगा कि रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाओं के आदि प्रवक्ता माने जाने वाले वाल्मीकि और सूत जन्मना ब्राह्मण नहीं; व्याध और सूत (प्रतिलोम वर्ग के) हैं । उनमें निंदास्पद पात्र रावण, कुंभकर्ण आदि ब्राह्मण हैं । उधर महाभारत तो मानो वर्णसंकरों का ही इतिहास है; वर्णाश्रम व्यवस्था के विरुद्ध घोर विद्रोह है । ये कथाएं ज्योतिष कथाओं से परिवर्तित होकर जब वर्तमान रूपों को प्राप्त हुई थीं तब संभवतः वर्णाश्रम के ठेकेदार ब्राह्मणों के विरुद्ध शक्ति सम्पन्न क्षत्रियों को भड़काना ही उनके रचयिताओं का उद्देश्य था । राजाओं को शांति के समय पुराण कथा सुनाने वाले और युद्ध के समय रथ संचालन करने वाले सूत-मागध-वंदीजनों ने ब्राह्मणों के विरुद्ध राजन्य वर्ग को भड़काने का प्रयत्न अवश्य किया होगा क्योंकि समाज में उनकी निम्न स्थिति ब्राह्मणों के बनाये नियमों के कारण ही थी। पर कालान्तर में जब भारतीय समाज का एक समन्वित रूप बन ही गया तो सूत-मागध-वंदीजन द्वारा निर्मित उन कथाओं को ब्राह्मणों ने भी अपना लिया और उनके कथा सूत्र में आद्यन्त ओत-प्रोत ब्राह्मण-विरोध को पूर्णतः विस्मृत कर दिया ।

आज स्थिति यह है कि द्रविड़ पुराण कथायें आर्यों की अपनी कथायें बन चुकी हैं; राम और कृष्ण (सूर्य और चन्द्रमा) इंद्र और वरुण की अपेक्षा अधिक आदर के अधिकारी हैं । यज्ञों की पशुबलि का स्थान 'अहिंसा परमोधर्मः' की भावना ले चुकी है । राम और कृष्ण की लीलाओं के अभिनय आर्यों की अभिनय परम्परा के प्रमुख अंग हैं । आर्यों की वैदिक भाषा से विकसित संस्कृत भाषा समग्र देश की पूज्य भाषा है । आर्यों और द्रविड़ों के सम्मिलित प्रयासों से विकसित हुई द्रविड़ प्राकृत का ही एक रूप आज देश के अधिकांश भूभाग में बोला और समझा जाने के कारण राष्ट्र भाषा पद को प्राप्त कर चुका है । और सर्वोपरि बात यह है कि ज्योतिष के तत्वों को अभिव्यक्त करने के लिए मूलतः निर्मित प्रतीकात्मक द्रविड़ पुराण कथायें (जिनका साहित्यिक स्वरूप रामायण और महाभारत के रूप में सुरक्षित है) आज तक समग्र भारतीय काव्य वाङ्मय की उपजीव्य रही हैं ।

सारांश यह है कि आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व का द्रविड़ों का ज्योतिष और विज्ञान का ज्ञान सर्व प्रथम सुमधुर कथाओं के रूप में अभिव्यक्त हुआ । फिर रामलीला, रासक्रीड़ा आदि के रूप में अभिनीत हुआ । तब रामायण, महाभारत आदि में काव्यरूप में अवतरित हुआ और अंततः समग्र भारतीय भाषाओं के काव्य वाङ्मय का प्रेरणा-स्रोत बना । यही नहीं ज्ञान-विज्ञान में सुसमृद्ध द्रविड़ व्यापारियों के माध्यम से उनकी पुराण कथायें पता नहीं किन-किन देशों में गई हैं और कहां-कहां के साहित्यिक विकास का

उत्स सिद्ध हुई हैं। विश्व का कितना वाङ्मय पादप वृन्द द्रविड़ मूल और द्रविड़ बीज से विकसित हुआ है, इसका निरूपण करने के लिए विश्व के विशाल वाङ्मय का आलोडन करना होगा। देश-विदेश के विद्वान् इस दिशा में जब प्रयत्न करेंगे तभी पता चल सकेगा कि भारत की उस प्राचीन संस्कृति का सौरभ किस-किस देश में कहां तक व्याप्त हुआ है।

## (२) रास परंपरा और रास-रासक साहित्य

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि गोलाकृति आकाश मण्डल में विविध राशियों के बीच एकाकी चन्द्रमा का भ्रमण ही कृष्णचन्द्र की रास क्रीड़ा (राशि क्रीड़ा) के नाम से अभिनीत होना आरम्भ हुआ था। 'रास-क्रीड़ा' शब्द किस मूल द्रविड़ शब्द का अनुवाद है यह बता सकना तो कठिन है पर इतना स्पष्ट है कि 'रास' प्राकृत 'रस्स' (संस्कृत 'रश्मि') का ही पुनः संस्कृतीकृत रूप है।

रास आदि अभिनय प्राकृत भाषी जनों में ही प्रचलित थे अतः नाट्यशास्त्र में गृहीत अनेक प्राकृत संज्ञाओं के समान रास शब्द भी संस्कृत में यथावत् गृहीत होगया और रासक्रीड़ा शब्द चला। जब उसके संस्कृतीकरण का यत्न हुआ तो 'रासक' शब्द बनाया गया और अठारह उपरूपकों में उसका भी ग्रहण होगया। रासक, हल्लीसक, डोम्बिका आदि उपरूपकों का उल्लेख करते हुए वाग्भट ने लिखा है—'डोम्बिका-भाण-प्रस्थान–भाणिका–प्रेंखण–शिंगक–रामाक्रीड–हल्लीसक–श्रीगदित–रासक–गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि।' आचार्य हेमचंद्र ने भी अपने काव्यानुशासन में रासक की गणना अन्य रूपकोपरूपक भेदों के साथ करते हुए लिखा है—'गेय–डोम्बिका–भाण–प्रस्थान–शिंगक–भाणिका–प्रेंखण–रामाक्रीड–हल्लीसक–रासक–गोष्ठी–श्रीगदित राग काव्यादि'। यों वाग्भट और हेमचंद्र दोनों ने अपनी सूचियों में रासक का समावेश किया है और रासक का लक्षण तो दोनों ने एक-सा ही दिया है:—

अनेक नर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुः षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धते।।

इस लक्षण से स्पष्ट है कि रासक में अनेक नर्तकियों की आवश्यकता होती है। उसमें मंडल बना कर नृत्य करने वाले युगलों की संख्या चौसठ तक हो सकती है। रासक के दो भेद भी बताये गये हैं—मसृण और उद्धत।

रासक विषयक ये उल्लेख हमारी इस धारणा में बाधक नहीं, साधक ही हैं कि रासक अथवा रास का आरम्भ मूलतः चन्द्रमा की राशि क्रीड़ा की ही आभिनयिक अभिव्यक्ति के रूप में हुआ था।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का रासक्रीड़ा वर्णन तुलना करने पर रासक से भिन्न प्रतीत नहीं होता :—

एकदा श्री हरिर्नक्तं वनं वृन्दावनं ययौ ।
शुभेशुक्लत्रयोदश्यां पूर्णचन्द्रोदये मुने ।
परितोवर्तुलाकारं तत्रैव रास मंडलम् ।
.......................................................................

स रास मंडलं दृष्ट्वा जहास मधुसूदनः ।
.......................................................................

तच्छ्रुत्वा राधिका सद्यो मुमोह मदनातुरा ।
.......................................................................

त्रयस्त्रिंशद्वयस्याश्च ताः सुशीलादयः स्मृताः ।
राधिकायाः प्रियतमा गोपीनां प्रवरा ययुः ।
तासां पश्चाद्ययुर्गोप्यः[1]................................ ।

यों रासक, और रास एक ही प्रकार के अभिनय के दो नाम रहे होंगे और रासक में अधिक संस्कृत रूप देने का यत्न रहा होगा। रासक्रीड़ा के अधिकांश वर्णनों में यही मिलता है कि पूर्णिमा की रात्रि में चंद्रमा के उज्ज्वल प्रकाश में रासक्रीड़ा का वर्तुलाकार मंडल में आरंभ हुआ। निस्संदेह रास या रासक के पूर्णचन्द्र युक्त राका में वर्तुलाकार रूप में अभिनीत होने के वर्णन इस बात के द्योतक हैं कि इसका आरंभ वर्तुलाकार नभोमंडल में पूर्णचंद्र के विविध राशिभ्रमण की अनुकृति के रूप में ही हुआ था।

जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है 'रास' मूलतः प्राकृत शब्द था और रासों का अभिनय प्राकृत प्रधान अभिनय ही था। जिनपाल उपाध्याय ने जिनदत्त सूरि के उपदेश रसायन-रास की टीका में लिखा है:—

चर्चरी रासक प्रख्ये प्रबंधे प्राकृते किल ।
वृत्ति प्रवृत्तिं नाधत्ते प्रायः कोपि विचक्षणः ।

अर्थात् चर्चरी और रासक आदि प्राकृतके प्रबंध होते हैं; अतः उनकी वृत्ति (टीका) की कोई विद्वान् आवश्यकता नहीं समझता।

रासक और रास मूलतः पुराणोक्त कृष्ण की रासक्रीड़ा से ही संबद्ध न होकर षोडशकला निधान कृष्णचंद्र (कृष्णपक्ष के आरम्भ की पूर्णिमा के चंद्र) की गति की अनुकृति थे, यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि रास नामधारी काव्यों की रचना कृष्णभक्ति रसायन पिपासुओं की अपेक्षा जैन कवियों ने अधिक की है—उन जैनों ने जिनके पुराणों के अनुसार कृष्ण नरकगामी हुए थे। अतः रास का मूल कृष्ण भक्ति परक न होकर धर्म निरपेक्ष और चंद्रगति मूलक ही रहा होगा।

---

१. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, श्रीकृष्णजन्म खंड, अष्टाविंशोध्याय :।

ऊपर के विवेचन का सार यह है कि रास या रासक गेय प्रधान उपरूपक थे जिनका आरम्भ चन्द्रमा के आकाश भ्रमण की अनुकृति के रूप में हुआ था। इनका जन्म द्रविड़ सभ्यता की चरमावस्था के समय हो चुका था। द्रविड अभिनय होने के कारण मूलतः इस में द्रविड़ (प्राकृत) भाषाओं का ही प्रयोग होता था। बाद में गेय छन्दों में इसी नाम की अनभिनेय (श्रव्य काव्य) रचनाएं भी होने लगीं। ऐसी रचनाएं प्राकृत और अपभ्रंश में सहस्रों की संख्या में हैं और उनके रचयिता प्रायः जैन हैं जिनका संबंध हड़प्पा और मोंहें-जो दड़ो की द्रविड़ सभ्यता से जोड़ा जा सकता है।[1] जैनों के रचे हुए रास ग्रन्थ संयोग से अधिक संख्या में प्राप्त भी उसी प्रदेश में हुए हैं जो सिंधु घाटी से निकट ही है। जैनों की ये रचनाएं नीति परक, धर्म परक, श्रृंगार परक, वैराग्य परक आदि अनेक प्रकार की हैं और उनमें प्रयुक्त रास शब्द को यदि 'काव्य' का पर्याय माना जाए तो अनुचित न होगा। 'रास' शब्द का यह प्रयोग जैन कवियों में इतना लोकप्रिय था कि 'आपणा कवियो' नामक रचना में गुजराती के मनीषी समालोचक काशीराम केशवराम शास्त्री को लिखना पड़ा— 'रासनो विकास केवल जैन कवियों ने आभारी छे।' अर्थात् रास का विकास जैन कवियों की ही कृपा से हो सका।

'रास' अभिधान का प्रयोग करने वाला दूसरा वर्ग शक्ति के उपासक चारणों का था। ब्राहुई के प्रदेश की देवी हिंगुलाज के ये उपासक प्राकृत साहित्य की परम्परा के रक्षक थे। सिंध पर अरबों का आक्रमण होने पर आत्म रक्षा और आजीविका के लिए ये लोग राजस्थान के राज परिवारों के आश्रित हुए और वहां रह कर उन्होंने अपनी निजी काव्य परंपरा का विकास किया। उनका परवर्त्ती साहित्य डिंगल साहित्य कहलाता है।

राज सभाओं में आश्रय पाने वाला एक और वर्ग भाट कवियों का था जो एक ओर ब्राह्मण कवियों की संस्कृत काव्य परंपरा और छंद प्रक्रिया से परिचित था तो दूसरी ओर अपने साथ राज सभा में प्रतिद्वन्द्वी होने वाले चारण कवियों से भी पीछे नहीं रहना चाहता था। यह वर्ग प्रमुखतः पूर्वी राजस्थान में था जहाँ का भाषायी ढांचा ब्रज के ढांचे से मिलता-जुलता था। इस वर्ग ने भी रासो नामधारी रचनाओं के निर्माण में योग दिया और सुप्रसिद्ध पृथ्वीराज रासो इसी वर्ग के कवि की रचना है। इनकी काव्य रचना की भाषा पूर्वी राजस्थान की होने के कारण ब्रज से मिलती-जुलती है पर शब्दावली के क्षेत्र में इन्होंने डिंगल शब्दों का भी जी खोल कर प्रयोग किया है। इनमें बहुभाषा-पांडित्य के प्रदर्शन की भी सदा लालसा रहती थी। 'षटं भाषा पुरानं कुरानं' इनका आदर्श होता था। इनकी रचनाएं पिंगल रचनाएं कही जाती हैं।

---

१. फलक दो पर अंकित देवमूर्त्ति में एक बैल भी बना है। संभव है कि यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिंधु सभ्यता तक चला जाता है। हिन्दू सभ्यता पृ० २३, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत हिन्दी अनुवाद।

यद्यपि पिंगल रचनाएं भाटों में और डिंगल रचनाएं चारणों में अधिक प्रचलित रही हैं, फिर भी इन रचनाओं को इन जातियों के साथ बांध देना उचित नहीं होगा। प्रस्तुत ग्रन्थ 'रतनरासो' ही चारण कवि की पिंगल-रचना है

यों रास-रासक नामधारी रचनाएं गुजरात, पश्चिमी राजस्थान और पूर्वी राजस्थान में हुई हैं और उनके रचयिता प्रायः जैन, चारण अथवा भाट कवि हुए हैं। उन्होंने यथा-संभव प्राकृत परंपरा का पालन किया है। यद्यपि पिंगल रचनाकार बहुभाषा पांडित्य प्रदर्शन की ओर प्रवृत्त होने के कारण अन्यान्य भाषाओं के शब्दों का भी आदान करते थे पर फिर भी प्राकृत रूप उनमें पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित हैं।

प्रसंगवश यहां यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि गुजरात और राजस्थान के सीमाक्षेत्र में सीमित कुछ अन्य काव्य रूप भी हैं जिनका संबंध आर्य क्षेत्र के शेष साहित्य के साथ जोड़ सकना कठिन है, यदि जोड़ा जा सकता है तो केवल द्रविड़ साहित्य से जोड़ा जा सकता है। ऐसा एक प्रकार है 'वचनिका' जो चंपूकाव्य है। इस नाम की रचनाएं भी ब्राहुई के प्रदेश से आकर राजस्थान में बसे चारणों की लेखनी से उद्भूत हुई हैं। शैली की दृष्टि से ये रचनाएं दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं के वचन-वाङ्मय से पूर्णतः मेल खाती हैं। 'वचनिका' और 'वचन' शब्द तो संस्कृत के हैं पर संस्कृत में इन नामों की रचनाएं नहीं हैं। संभव है ये किसी द्रविड़ शब्द के ही संस्कृत पर्याय रहे हों।

काव्य रचना का एक रूप 'पोवाड़ा' या 'पवाड़ा' है जिसका क्षेत्र भी वही है जो रासो और वचनिका का है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भी विद्वानों ने कल्पना के घोड़े बहुत दौड़ाए हैं और उसे 'प्रवाद', 'परिवाद', 'परमार' आदि के साथ जोड़ने का यत्न किया है। हमारी धारणा है कि यह द्रविड़ मूल का शब्द है और संभव है इस नाम की रचनाएं ब्राहुई के प्रदेश में होती रही हों। संभवतः गत्यर्थक 'पो' शब्द से ही इसकी व्युत्पत्ति है। तमिल का पो+इडु=पोविडु से यदि 'पोवाड़ो' का संबंध जोड़ने का यत्न किया जाए तो अनुचित नहीं होगा। हम देख चुके हैं कि रामायण में 'अयन' शब्द है जो गत्यर्थक है। संस्कृत में अयनान्त शब्दों की परंपरा काव्य नामों के निर्माण में बाद में नहीं रही। रामायण कथा का मूल आधार द्रविड़ था ही, उसको जब संस्कृत रूप दिया गया तो नाम का भी अनुवाद मात्र कर दिया गया। यों 'पोवाडो' और 'अयन' दोनों ही गत्यर्थक क्रियाओं से व्युत्पन्न हैं। एक तीसरा शब्द समग्र संस्कृत साहित्य में बहुत लोक प्रिय रहा है और वह है 'चरित'। यह भी गत्यर्थक चर धातु से ही व्युत्पन्न है। काव्यार्थ में तमिल में 'पोवाडो' से मिलता-जुलता शब्द 'पाडु' भी है। संभव है उत्तर की द्रविड़ भाषाओं में इसके स्थान पर 'पावडु' या 'पोडु' रहा हो। यों 'पोवाड़ो' शब्द की व्युत्पत्ति पर भी नयी दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है।

भारतीय काव्य के क्षेत्र में द्रविड़ तत्त्व कितना है और आर्य तत्त्व कितना है तथा उसका समन्वय किस सीमा तक हुआ है—इस दिशा में संकेतमात्र ऊपर हो पाया है। यदि

विद्वज्जन आर्य-द्रविड़ समन्वय शृंखला की विविध कड़ियों को पहचानने का यत्न करें तो यह कार्य अति दुष्कर सिद्ध नहीं होगा और इसके लिए राजस्थान का क्षेत्र सर्वाधिक उपयोगी क्षेत्र होगा। राजस्थान का क्षेत्र मरुक्षेत्र होने के कारण समृद्ध क्षेत्रों पर विजय की कामना करने वाले आर्यों के आकर्षण का केन्द्र नहीं बना। वहां आर्यों के लिए गेहूँ-चावल जैसे धान्य भी नहीं होते थे। अतः इस पिछड़े क्षेत्र में आर्य कम आए और वहां द्रविड़ सभ्यता बहुत समय तक अपने अक्षत रूप में बची रह पायी। विशेष कर राजनीति के क्षेत्र में दसवीं शताब्दी तक यहां गणराज्य ही रहे प्रतीत होते हैं। कुछ क्षेत्रों में तो पन्द्रहवीं शताब्दी तक भी गणराज्य थे। गण-गौरी का वार्षिक जलोत्सर्ग आज भी किसी न किसी रूप में वहां विद्यमान है और राजस्थान की कुमारिकाएं आज भी वर्षारम्भ में गण-गौरी का पूजन करती हैं, चाहे आज के सामाजिक परिवेश में गण-गौरी चुने जाने की उनकी कामना लुप्त हो चुकी हो। गण-गौरी का गौरव चाहे आज क्षीण हो गया हो पर फिर भी गण-गौरी का पर्व आज भी अपना गौरव बनाये हुए है।

इतिहास, साहित्य, संस्कृति और समाज विज्ञान के विद्वान यदि राजस्थान को अपना कार्य-क्षेत्र बना कर अध्ययन आरम्भ करें तो निस्संदेह भारतीय इतिहास के अभूतपूर्व तथ्य प्राप्त होंगे और पता चलेगा कि हमारे समन्वयवादी पूर्वजों ने आर्य, द्रविड़ और नाग संस्कृतियों का किस प्रकार समन्वय किया था और प्रत्येक संस्कृति के ताने-बाने मिल कर किस प्रकार एक नवीन संस्कृति पट की रचना कर चुके हैं। गत दो शताब्दियों में विदेशी शासकों ने अपनी भेद-नीति के द्वारा और उनके समर्थक तथाकथित अन्वेषकजनों ने आर्य-द्रविड़, दक्षिण-उत्तर, स्थानिक-आगन्तुक, पौर-यायावर आदि के भेद बता कर भारतीय समाज को छिन्न-भिन्न करने का जो यत्न किया था वह तभी व्यर्थ किया जा सकेगा जब हम सही तथ्यों की स्थापना कर सकें और बता सकें कि द्रविड़ तत्त्व की सीमा केवल विंध्याद्रि के दक्षिण में नहीं है। वह तत्त्व जितना वहां सुरक्षित है, उससे कहीं अधिक तत्त्व संभवतः उसके उत्तर में सुरक्षित है। अस्तु, यह विषयान्तर रासो काव्यों की परम्परा को समझने के लिए किया गया है अतः सुधीजन इसी दृष्टि से इस पर विचार करें और यदि संभव हो तो हमारी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा का उद्‌घाटन करें।

## (३) रासो साहित्य

जैसा कि ऊपर बता चुके हैं रासो का आरम्भ अभिनय के रूप में हुआ था। चन्द्रमा के राशि भ्रमण की अनुकृति के रूप में प्रचलित हुए ये अभिनय आगे चल कर राधा-गोपी-वल्लभ श्रीकृष्ण के साथ संबद्ध हो गये। कृष्ण भक्ति धारा का अधिक विकास होने पर कृष्ण भक्त यह भूल गये कि षोडश कला निधान श्रीकृष्णचंद्र मूलतः पूर्णिमा के चन्द्र ही हैं, राधा उनकी प्रिया विशाखा तारिका है,[1] हलधर बलराम वृष राशि के सूर्य हैं, उनकी

---

१. वैशाख की पूर्णिमा को चंद्रमा विशाखा नक्षत्र में होता है और गीतगोविन्दकार आदि ने उसी रात्रि को रास क्रीड़ा की रात्रि माना है—**नृत्यति हरिरिह सरस बसन्ते।**

माता रोहिणी रोहिणी तारा है, पत्नी रेवती रेवती तारा है, यशोदा कृत्तिका है (कृत्तिका, प्रा० कित्तिआ, [पुनः संस्कृतीकृत कीर्त्तिदा==यशोदा), नंद मेष के सूर्य हैं (मेष का उत्तराधिकारी होने से वृष उसका पुत्र हुआ, वृष का एक नाम नांदी है, नांदी का पिता नंद) वसुदेव पुनर्वसु के देवता हैं, देवकी धनिष्ठा है, गो-गोपी वृन्द तारक वृन्द हैं, विरजा और यमुना आकाश गंगाएं हैं, गोलोक संपूर्ण नभोमंडल है, मथुरा या मधुपुरी मध्यपुरी है जहां का मानक समय (महाकाल) संपूर्ण विश्व के लिए माध्यकाल है, चंद्रमा की गति-क्षय-वृद्धि के अनुसार तिथियों, नक्षत्रों आदि के काल विभाजन का विचार ही भजन और भक्ति है और चन्द्र किरणों का पृथ्वी पर अवतरण ही अवतारवाद का मूल है।[१]

वे यह भी मान बैठे कि रासक्रीड़ा उनके इष्ट देव और मानव रूप में भूमंडल पर जन्म धारण करने वाले कृष्ण की क्रीडाएं मात्र हैं। उनके लिए 'देव' शब्द का अर्थ भी आकाश में चमकने वाला न रह कर अतिमानवीय शक्ति सम्पन्न मानवेतर योनि मात्र रह गया। यदि रास का अभिनेय रूप मात्र ही अवशिष्ट रहा होता तो कदाचित् इस बात का प्रमाण भी न बचता कि रास केवल कृष्णभक्तों के इष्ट देव श्रीकृष्ण की क्रीड़ा मात्र न था।

परन्तु सौभाग्य की बात है कि जिस प्रकार रामलीला, महाभारत आदि के अभिनेय रूप सरस काव्यों के उपजीव्य बने उसी प्रकार रास क्रीड़ा भी सरस काव्यों की उपजीव्य बनी और रास नामधारी अनेक रचनाओं का उद्भव हुआ। फिर भी यदि ये रचनाएं केवल ब्राह्मण पुराण कथाओं के कृष्ण चरित तक ही सीमित रह गई होतीं तो 'रास' के मूल सम्प्रदाय-निरपेक्ष रूप की कल्पना करना कठिन काम होता। संतोष की बात है कि 'रास' नामधारी प्राप्त रचनाओं में से अधिकांश का कृष्ण कथा से कोई सम्बन्ध नहीं, बल्कि जैनों के महापुरुषों या ऐतिहासिक वीर पुरुषों से है और यह इस बात को पुष्ट करने के लिये यथेष्ट है कि रास का मूल रूप संप्रदाय-निरपेक्ष था। वह मूलतः किसी प्राकृतिक घटना की अनुकृति था। उस अनुकृति में गेय श्रव्य काव्यों की रचनाएं प्रारंभ हुई। रासा छन्द बना। फिर अन्य छन्दों में भी रास नामधारी रचनायें आरंभ हो गईं। अंततः रास और रासो काव्य के पर्याय मात्र रह गये।

रास नामधारी रचनाओं में एक विशेष द्रष्टव्य बात यह है कि इनमें से अधिकांश रचनाएं ऐसे वर्ग के कवियों ने की हैं जो संस्कृत की गरिमा से अभिभूत नहीं थे। ब्राह्मणों और ब्राह्मणानुयायियों के हृदय में संस्कृत भाषा के प्रति जितनी पूज्य भावना थी वैसी भावना जैनों के हृदय में न थी। उलटे प्राकृतापभ्रंशों के प्रति उनके हृदय में अधिक आदर

---

१. अधिक जानकारी के लिए विश्वम्भरा त्रैमासिक के वर्ष १ से ३ तक के अंकों में प्रकाशित भारतीय ज्योतिष का विस्मृत महाकाल, राधावल्लभ कृष्णचंद्र, रामलीला, विश्व की पुराण कथाओं का मूल, गौरीशंकर गंगाधर, ज्योतिष मूलक अन्योक्ति कथाएं आदि निबंध देखें।

की भावना थी और वे इन भाषाओं को संस्कृत की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ी करने में गौरव समझते थे। उन्होंने अपना छंदोविधान भी संस्कृत वृत्तों से भिन्न ही रखना उचित समझा था। इसीलिए दोहा, चौपाई, चौपई, पद्धड़ी आदि का प्रचलन हुआ जो बहुत समय तक लोक भाषा साहित्य के लोकप्रिय छंद रहे।

राज्याश्रय में रहकर काव्यकाकली का गायन करने वाले भाट-चारण वृन्द के मन में भी मूलतः संस्कृत कवियों के साथ स्पर्धा की भावना थी और इसीलिए उन्होंने भी प्राकृतापभ्रंश काव्य परंपरा का निर्वाह किया यद्यपि शनैः शनैः उनके हृदय में प्राचीन संस्कृत कवियों के प्रति आदर भावना उत्पन्न होने लगी थी। अपने सम-सामयिक संस्कृत कवियों के साथ स्पर्धा की भावना रखते हुए भी इन कवियों ने प्राचीन संस्कृत काव्य धारा के ज्ञान को अपने लिए गौरव का विषय मान लिया था। फिर भी लोक भाषा के गौरवमय स्वतंत्र अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूकता इन कवियों की विशेषता रही।

यह भी द्रष्टव्य है कि लोक भाषा साहित्य की रासो नामधारिणी रचनाएं केवल उस क्षेत्र में निर्मित हुईं जो किसी समय तथाकथित शौरसेनी प्राकृत का क्षेत्र था। पश्चिम में गुजरात की पश्चिमी सीमा से लेकर पूर्व में राजस्थान की पूर्वी सीमा तक का क्षेत्र ही रासो रचनाओं का क्षेत्र रहा है।

जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है रास या रासो नाम की प्राचीन रचनाएं जैन लेखकों की हैं। उनके वर्ण्य विषय जैन महापुरुषों के वास्तविक या कल्पित जीवन चरित्र या जैन सम्प्रदायों के धर्मोपदेश हैं। बाद में जब राज्याश्रित सौतीकाव्यकारों—चारण भाटों—ने रासो रचनाएं की तो जैनाचार्यों के छन्दोविधान आदि की परंपरा का निर्वाह भी किया और संस्कृत वृत्तों का प्रयोग भी किया पर अपने काव्यों का वर्ण्य विषय वीरों के चरित्रों को बनाया। गुजरात के क्षेत्र में तो रास रचनायें इतनी लोकप्रिय हुई और उनकी मात्रा इतनी प्रभूत है कि गुजराती साहित्य का नरसिंह पूर्ववर्ती संपूर्ण काल ही रासयुग नाम से अभिहित हुआ है। पर वे रचनायें जैन रचनाओं की कोटि की ही हैं। वीर गाथा वाली कोटि की रचनायें राजस्थान में ही अधिक हुई हैं और रचनाकार प्रायः सौतीवर्ग के कवि हैं।

'हिन्दी साहित्य' के द्वितीय खण्ड में डा० माताप्रसाद गुप्त ने रासो नाम्नी रचनाओं को दो भेदों में विभक्त किया है:—गीत नृत्य-परक रचनायें और छंद वैविध्य-परक रचनायें। पर डा० गुप्त द्वारा विवेचित रचनाओं को देखते हुए यह गीत–छंद मूलक वर्गीकरण उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में प्राचीन रचनाओं में दोहा, चौपई, चौपाई, पद्धड़ी, अरिल्ल, घत्ता, छप्पय आदि प्रमुख छंद हैं पर परवर्त्ती कवियों में ज्यों-ज्यों पांडित्य प्रदर्शन की लालसा बढ़ती रही त्यों-त्यों अधिकाधिक संस्कृत छंदों की ओर भी रुझान बढ़ा। फलतः त्रोटक, द्रुतविलंबित, शार्दूलविक्रीडित, मौक्तिकदाम आदि छंदों का प्रयोग भी प्रारंभ हो गया और अधिक कविप्रिय होता गया। यों छंद वैविध्य तो केवल परवर्त्ती कवियों के बहुज्ञान प्रदर्शन का परिणाम मात्र है।

वास्तव में रासो नाम्नी रचनाओं का वर्गीकरण यदि संभव है तो वर्ण्य विषय की दृष्टि से ही संभव है। उस दृष्टि से निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं,—जैन साम्प्रदायिक रचनाएँ, वीर चरिताश्रयी रचनाएँ, शृंगारी रचनाएँ और इतर रचनाएँ। डा० गुप्त द्वारा परिगणित रचनाओं में से जिनदत्त सूरि कृत उपदेश रसायन रास, शालिभद्र सूरि कृत भारतेश्वर बाहुबलि रास और बुद्धिरास, आसगु कृत जीवदया रास और चंदनबाला रास, धर्म सूरि कृत जंबुस्वामी रास, विजयसेन कृत रेवंतगिरि रास, देल्हणि कृत गयसुकुमाल रास, अज्ञात कवि कृत सप्तक्षेत्रि रासु, मांडलिक कृत पथेड रास, अंबदेव सूरि कृत समरा रास आदि रचनाएँ प्रथम कोटि की हैं। चंद कृत पृथ्वीराज रासो, शार्ङ्गधर कृत हम्मीर रासो, परमाल रासो (?), राउ जइतसी रउ रासउ, नल्लकृत विजयपाल रासो, दयाल कृत राणा रासो, कुंभकर्ण कृत रतन रासो, जान कृत कायम रासो, डूंगरसी कृत शत्रसाल रासो, गिरधर कृत सगतसिंह रासो, जोधराज कृत हम्मीर रासो, दलपत विजय कृत खुमाण रासो, सदानंद कृत भगवंतसिंह रासो, गुलाब कृत करहिया रास, शिवनाथ कृत बहादुरसिंह रासा, महेश कृत हम्मीर रासो, आदि रचनाएँ दूसरी कोटि की हैं। नरपति कृत बीसल देव रास, अद्दह माण कृत संदेश रासउ, मुंज कृत मुंजरास (?) जल्ह कृत बुद्धिरासो आदि रचनाएँ तीसरी कोटि की हैं। और कच्छूलि रास, कीर्त्तिसुदंर कृत मांकण रासो, ऊंदर रासो, खीचड़ रासो, गोधा रासो आदि इतर कोटि की रचनाएँ हैं। राम रासो को जैनेतर होने के कारण इतर कोटि की रचना मान सकते हैं; वैसे वर्ण्य विषय की दृष्टि से वह प्रथम कोटि का है।

प्रस्तुत ग्रंथ रतनरासो वीर काव्य कोटि की रचना है अतः इसका परिचय प्रारंभ करने से पूर्व इस कोटि की रासो रचनाओं का थोड़ा बहुत विवेचन आवश्यक होगा। क्योंकि तभी इस कोटि के साहित्यिक ग्रंथों के मूल्यों का और उनके आधार पर रतन रासो के मूल्य का निर्धारण संभव होगा। शेष रासो ग्रंथों पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। हाँ, रूपक, विलास, चरित, प्रबंध, प्रकाश, पवाड़ा आदि नामधारिणी अन्य ऐसी ही रचनाओं का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा जिनका वर्ण्य विषय वीर-विरुद-गायन हो। ऐसी रचनाओं में भाषा मूलक विविधता बहुत मिलेगी। कोई रचना अपभ्रंश के निकट है तो किसी में आधुनिक काल की प्रवृत्तियाँ सुस्पष्ट लक्षित हैं। किन्हीं रचनाओं को गुजराती विद्वान् गुजराती साहित्य की अनुपम कृति मानते हैं तो राजस्थानी विद्वान् राजस्थान की अमूल्य निधि मानते हैं। कहीं डिंगल की विचित्र छटा है तो कहीं पिंगल की मनोहारी आभा है। अनेक ग्रंथों के विषय में विद्वानों के बीच आज भी वाग्द्वंद्व चल रहा है कि वे अमुक भाषा की रचनाएँ हैं अथवा तमुक की। हम तो केवल यह कहना चाहेंगे कि वे सब उस संस्कृतेतर लोकभाषा साहित्य की अमूल्य संपदा हैं जिसको विगत शताब्दियों में गुजरात से ले कर बिहार तक के सभी कवियों और काव्य भावकों ने एक माना था और 'भाषा' संज्ञा दी थी। आज वह अधिकांश भूखंड 'हिंदी' का प्रदेश माना जाता है।

वीर विरुद मूलक रासो साहित्य में इस कोटि के प्रमुख ग्रंथ पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, ऐतिहासिकता, भाषा, रासोकार कवि की सत्ता, पृथ्वीराज की समकालीनता

आदि सभी विषयों पर विद्वानों के बीच प्रचंड वाग्-विलोडन हुआ है अतः उस पर कुछ विचार करना आवश्यक होगा। दूसरे, प्रस्तुत रचना रतन रासो में एक मात्र रासो ग्रंथ पृथ्वीराज रासो का ही उल्लेख हुआ है। अन्य किसी रासो का नहीं। अन्य रासो ग्रंथ या तो हीन होने के कारण कुंभकर्ण की दृष्टि में उल्लेख योग्य नहीं हैं या उसे ज्ञात नहीं हैं। अतः इस कारण से भी पृथ्वीराज रासो पर किंचित् विचार अप्रासंगिक न होकर उपादेय ही होगा।

पृथ्वीराज रासो के विषय में एक ओर विद्वानों ने अनेक शंकाएँ उठाई हैं तो दूसरी ओर उन सभी के समाधान के लिए घोर प्रयत्न हुए हैं। कुछ लोगों का आग्रह है कि पृथ्वीराज रासो अपने विशालतम रूप में प्रामाणिक है; उसका रचयिता पृथ्वीराज का समसामयिक ही नहीं अपितु सहजन्मा और सहमुक्त था; उसने लक्षावधि परिमाण रचना की थी; उसे दैवी शक्ति प्राप्त थी जिससे उसने केवल प्रत्यक्ष दृष्ट घटनाओं का ही नहीं अपितु भूत-भविष्य की घटनाओं का भी यथावत् वर्णन किया है; यदि हमें कुछ तद्-वर्णित घटनाएँ इतिहास सम्मत नहीं प्रतीत होतीं तो या तो इतिहास वितथ है या हम रासो के सही अर्थ को समझने में असमर्थ हैं। ऐसे आग्रही अन्ध भक्तों की संख्या प्रभूत है। पर फिर भी संतोष की बात यह है कि ऐसे आग्रहीजनों में सुपठित लोग कम हैं। हां, स्वर्गीय श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या जैसे विद्वान भी रासो वर्णित अधिकांश घटनाओं को इतिहास सम्मत सिद्ध करने का मोह संवरण नहीं कर सके थे। यह एक सीमा है। दूसरी सीमा उन विद्वानों की है जो यह मानते हैं कि पृथ्वीराज के समय में न कोई चंद नामक कवि था; न कोई भाषा काव्य रचा गया; वर्त्तमान प्राप्त रासो की अधिकांश घटनाएँ इतिहास-विरुद्ध है; कोई समसामयिक व्यक्ति वैसी बे-सिर-पैर की बातें नहीं लिख सकता; प्राप्त ग्रंथ सर्वथा कृत्रिम और जाली है; उसका न कोई साहित्यिक महत्त्व है और न ऐतिहासिक। ऐसे मत का प्रवर्त्तन तो संभवतः जाति विद्वेष के कारण कविराजा श्यामलदास द्वारा हुआ था पर जब श्रद्धेय ओझाजी जैसे प्रकांड इतिहासविद् का भी समर्थन प्राप्त हुआ तो इस महाकाव्य की स्थिति वस्तुतः डावांडोल हो गई थी। एशियाटिक सोसाइटी ने तो इसके प्रकाशन की बनी-बनाई योजना तक त्याग दी थी, मानो इतिहास सम्मत और पृथ्वीराज की समसामयिक रचना न होने के कारण रासो का काव्यत्व ही समाप्त हो गया हो।

अस्तु, ये दोनों ही स्थितियां अतिवादी हैं और रसज्ञ काव्य-भावकों तथा तर्क-प्रेमी विद्वानों को शोभा नहीं देतीं। मध्यमार्ग अपनाने वाले ऐसे विद्वानों और काव्य मर्मज्ञों की भी संख्या पर्याप्त है जो चंद बरदाई को पृथ्वीराज का समसामयिक और सभाश्रित कवि मानते हैं और उसके द्वारा अपभ्रंश में हुई काव्य रचना की बात स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि बहुत समय तक मौखिक रचना रहने के कारण इसमें भाषात्मक परिवर्तन भी होते रहे और इतिहास विरुद्ध घटनाओं के वर्णन भी प्रक्षिप्त होते रहे। ऐसे विद्वानों के भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग चंद के तत्कालीन अस्तित्व का आग्रह करता है तो दूसरा रासो नामक तत्कालीन रचना के अस्तित्व का।

रासो के विशाल रूप में ऐतिहासिक असंगतियों का बाहुल्य और भाषा विषयक नवीनता देखकर विद्वानों ने उसके छोटे रूप ढूँढ़े और उनकी भाषा में भी अपेक्षाकृत प्राचीनतर रूप प्राप्त किये। ये छोटे रूप क्रमशः मध्यम, लघु और लघुतम रूपों के नाम से विवेचित होते हैं और इनके सहारे रासो के प्रामाणिक रूप को प्राप्त करने के यत्न हुए हैं। दूसरी ओर एक विद्वान ने रासो के केवल कुछ छंदों में वर्णित अंश को ही प्रामाणिक माना है और शेष को अप्रामाणिक मान कर अग्राह्य माना है। फिर भी इन सब में कोई भी रूप उसकी समस्त ऐतिहासिक विसंगतियों के निराकरण में समर्थ नहीं हुआ है। इसलिए रासोकार और रासोनायक की समकालिकता तो संदेहास्पद है ही चाहे उसके लिए नेतूराम भट्ट जैसे लोग वंशवृक्ष प्रस्तुत करें और चाहे दानपत्र।

परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पृथ्वीराज रासो मूलतः एक काव्य है, इतिहास या भाषा शास्त्र का ग्रंथ नहीं। अतः यदि उसमें ऐतिहासिक विसंगतियां प्राप्त हैं और भाषा का प्राचीन रूप परिदृष्ट नहीं है तो उतने मात्र से उसके साहित्यिक महत्त्व को कम आंकना उचित नहीं, जाली और अप्रकाशन योग्य मान लेना तो सर्वथा अनुचित है ही। निस्संदेह पृथ्वीराज रासो अपने विशालतम रूप में भी उत्कृष्ट महाकाव्य के लक्षणों से समन्वित है; उदात्त कवि कल्पनाओं से ओतप्रोत है; सुमधुर छंदोविच्छित्ति से अनुस्यूत है; सहृदय संवेद्य रसों से आप्लावित है; अनुपम अलंकारों से शोभित है; अतः सर्वतोभावेन हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। यदि उससे इतिहासविदों को भी कुछ प्रामाणिक सामग्री प्राप्त हो सकती और यदि भाषाविद् उसकी सहायता से कविकालीन भाषा के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकते या भाषा का इतिहास प्रस्तुत करने में उसका उपयोग कर पाते तो उसका अतिरिक्त गौरव होता पर यदि ये काव्येतर उपयोग संभव नहीं हों तब भी रासो का शुद्ध साहित्यिक गौरव तो कोई छीन ही नहीं सकता।

पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त रासो नामधारिणी वीर-विरुदमूलक काव्य रचनाओं में कोई ऐसी महत्वपूर्ण रचना नहीं जिसे प्रस्तुत ग्रंथ रतन रासो के समकक्ष माना जा सके। हम्मीर रासो, विजयपाल रासो, खुमाण रासो आदि मध्यम कोटि की रचनाएं हैं। हां, कान्हड़दे प्रबंध, राजरूपक, गजरूपक, सूरजप्रकाश, राजविलास, वंशभास्कर आदि सौती काव्यकारों की कृतियां अवश्य ऐसी हैं जो साहित्य में उत्कृष्ट स्थान पा सकती हैं। पर इन सभी रचनाओं की तुलना में रतन रासो कम नहीं ठहरता। कल्पना प्रौढ़ि, वस्तु विन्यास, रस परिपाक, बहु-शास्त्र-पांडित्य, विविध भाषा प्रयोग, ऐतिहासिक महत्त्व आदि सभी दृष्टियों से रतन रासो आदरणीय स्थान का अधिकारी है।

## (४) सौती काव्य परंपरा और उसमें रतन रासो का स्थान

यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि द्रविड़ विद्वानों ने सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया था और ग्रह-तारों की गति-स्थिति आदि का भी सम्यक् निर्धारण कर के ज्योतिषशास्त्र का अनुपम विकास किया था।

इस शास्त्रीय ज्ञान को जन-साधारण तक पहुंचाने के लिए भी उन्होंने अद्‌भुत शैली का प्रवर्त्तन किया था। यह शैली प्रतीकात्मक काव्य शैली थी और उसके भी दो भेद थे :— एक दृश्य काव्य शैली और दूसरी श्रव्य काव्य शैली। पहली शैली के उदाहरण रामलीला, रासलीला तथा अनेक अभिनेय नाटक थे जिनके कथानक महाभारत और विविध पुराणों की कथाओं के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। दूसरी शैली श्रव्य काव्यों की थी जिसका प्रयोग अभिनेताओं के अभाव में एक कथा वक्ता कर देता था। यह शैली पुराण कथा या हरिकथा शैली थी। दोनों ही शैलियों में प्रतीक विधान आवश्यक अंग था।

आर्यों ने जब द्रविड़ प्रदेश को विजित किया तब भी उन्होंने नयी समाज व्यवस्था में इस शिक्षण शैली के शिक्षकों का सदुपयोग किया और राजसभा में सूत-मागध-वन्दीजन की नियुक्ति की व्यवस्था कर दी जिनका काम युद्ध के समय रथ-संचालन और शांति के समय राजन्य वर्ग को विरुद गायन और पुराणकथा कीर्तन के द्वारा विविध विषयों से परिचित कराना था।

महाभारत और पुराणों का रूप मूलतः श्रव्य काव्य का न होकर दृश्य काव्य का ही प्रतीत होता है। इसका प्रमाण भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र में नाट्य वेद की उत्पत्ति के विषय में एक कथा आती है। उसमें बताया गया है कि जिन लोगों को वेदों का अधिकार नहीं था उनके चित्त के मनोरंजन के लिए ब्रह्मा ने नाट्य नामक पांचवें वेद की रचना की थी। और उसमें सब शास्त्रों, सब शिल्पों और इतिहास का समावेश किया था। उसमें अन्य वेदों से तत्त्व ग्रहण किये गये थे पर उसकी रचना का मूल उद्देश्य ऐसे लोगों का मनोरंजन करना था जो वेद के अधिकारी न थे। उस पांचवें वेद की रचना करके ब्रह्मा ने उसका प्रयोग करने की आज्ञा भरत को दी, क्योंकि देवता उसके प्रयोग में समर्थ न थे। भरत ने अपने सौ पुत्रों की सहायता से और अप्सराओं के सहयोग से अनेक अभिनयों का प्रयोग किया।[1]

इस कथा से निम्नलिखित तथ्यों का संकेत मिलता है :—

१. नाट्य वेद पांचवां वेद था। उधर 'इतिहास पुराणानां पंचमो वेद उच्यते' कहा जाता है।

२. नाट्य का प्रवर्त्तन भरत ने अपने पुत्रों की सहायता से किया। इन पुत्रों को भारत कहा जाता रहा होगा और इनके अभिनयों की कथा वस्तु को भारत कथा।

३. नाट्य वेद का प्रवर्त्तन आर्येतर लोगों के लिए किया गया था जो वेद-बाह्य थे और जिनका मनोरंजन आवश्यक था।

---

१. भरत का नाट्यशास्त्र—अध्याय १, श्लोक १२–२५

इन संकेतों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि महाभारत (इतिहास) और पुराणों में अभिनेय कथाओं का संकलन था और उनका जन्म आर्येतरों के मनोरंजन के लिए हुआ था। उनमें ज्ञान-विज्ञान का संकलन भी था अतः उन्हें पांचवें वेद की संज्ञा दी गई थी। भारत और पुराण कथाओं के मूलतः आर्येतरों के अभिनेय कथानक होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इनके प्रवक्ता सूत माने जाते हैं। सूतों की गणना द्विजन्माओं के अन्तर्गत न होकर प्रतिलोम जन्माओं के बीच की गई है जिससे उनका भी द्रविड़ होना प्रतीत होता है। दूसरे इसी 'सूत' शब्द का संस्कृतीकरण नाट्यशास्त्र की 'सूत्रधार' संज्ञा के रूप में हुआ है।

यों यह स्पष्ट है कि श्रव्य काव्य बनने पर भी महाभारत और पुराण मूलतः आर्येतरों के ज्ञान के भंडार थे और राज-सभाओं में नियुक्त सूतजन उनका पारायण किया करते थे। बाद में जब ब्राह्मण कवियों को भी इन कथानकों में सरस काव्योचित 'वस्तु' के दर्शन हुए तो उन्होंने भी इनका संस्कृत में अनुवाद कर डाला। यह विधि की विडंबना है कि हमारा बहुत सा प्राचीन वाङ्मय केवल संस्कृत अनुवाद के रूप में ही विद्यमान है और वह भी केवल चमत्कारी कथा के रूप में। यही दशा महाभारत और पुराणों की है तथा यही रामायण और बड्ढकहा की। कौन नहीं जानता कि समग्र भारतीय काव्य धारा के आदि स्रोत ये ही ग्रंथ हैं। आज हम प्रायः सगर्व यह कहा करते हैं कि भारतीय भाषाओं का समग्र साहित्य संस्कृत का उच्छिष्ट मात्र है। पर हम भूल जाते हैं कि संस्कृत का समग्र लौकिक साहित्य मूलतः आर्येतर परम्परा का ऋणी है। आर्य परम्परा की रचना केवल मात्र वेद हैं पर उन पर भी कितना अनार्य प्रभाव है यह तभी जाना जा सकता है जब उनका अर्थ ठीक से समझा जा सके। संस्कृत का जितना ललित साहित्य विद्यमान है उसका मूल स्रोत तो अनार्य है ही पर साथ ही आर्य-शास्त्रों का भी कितना अंश द्रविड़ों से प्राप्त है यह सम्यक् अन्वेषण–अनुसंधान के पश्चात् ही ज्ञात हो सकेगा। हमारी तो धारणा है कि उपनिषदों की अधिकांश विचारधारा तथा ज्योतिष और आयुर्वेद का बहुत बड़ा अंश तो द्रविड़ों की देन है ही; पर साथ ही संस्कृत का अपूर्व व्याकरण–पाणिनीय शब्दानुशासन–भी मूलतः किसी द्रविड़ विद्वान महेश्वर रचित व्याकरण का संस्कृतीकरण मात्र है।[1]

सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय राजसभाओं में विद्वान् और श्रुति-स्मृति वेत्ता ब्राह्मण प्राड्विवाक् के साथ ब्राह्मणेतर कविजनों की नियुक्ति की भी एक परंपरा थी। वे अपने काव्य गायन द्वारा राजाओं का सतत मनोविनोद करते रहते थे। अभिनय तो सदा हो सकने वाली चीज न थी। अतः श्रव्य काव्यों की ही संख्या अधिक होना स्वाभाविक था। सूत-मागध-वंदीजन का एक साथ उल्लेख इस बात का भी द्योतक है कि विरुद गायक कवियों की अनेक जातियाँ थीं जिनका काम यथासमय राजसभा का मनोविनोद करते रहना था। राजस्थान राजतंत्र का दुर्ग रहा है। अतः यहाँ की राजसभाओं में सूत-मागध-

१. दे० माहेश्वर सूत्रों का प्रणेता–भाषा त्रैमासिक, वर्ष ४, अंक १.

वंदीजन की इस परंपरा का निर्वाह चारण-भाट-ढाढ़ी-ढोली आदि कई काव्योपजीवी जातियों के रूप में हुआ है। रतन रासो भी इसी परंपरा के एक चारण कवि कुम्भकर्ण की रचना है।

द्रविड़ कथाओं को उपजीव्य बना कर संस्कृत में जब काव्य धारा का प्रवाह प्रारंभ हुआ तो काव्यशास्त्र के मार्गदर्शन का क्षेत्र भी संस्कृत की प्रचार भूमि कश्मीर की ओर चला गया। भट्ट लोल्लट, भट्ट नायक, श्री शंकुक, भामह, महिम भट्ट, राजानक रुय्यक, आनंदवर्धन, अभिनव गुप्त, कुंतक, मम्मट, कैय्यट, धनंजय, आदि पता नहीं कितने काव्य शास्त्रकार संस्कृत की उस पुण्य भूमि में उत्पन्न हुए और भारत के कवि समुदाय का मार्गदर्शन करते रहे। हां, दंडी और राजशेखर जैसे विद्वान् आचार्य इतर प्रदेशों में भी हुए हैं। पर फिर भी मुसलमानों से अभिभूत होनें तक संस्कृत काव्यशास्त्र का अधिकांश आलोडन कश्मीर भूमि में ही हुआ। परवर्ती रचनाएं साहित्य दर्पण, प्रतापरुद्रीय, रस गंगाधर आदि का श्रेय निस्संदेह भारत के अन्यान्य प्रदेशों को है।

इन पचासों आचार्यों के द्वारा विवेचित होकर काव्यशास्त्र सम्यक्तया प्रौढ़ता को प्राप्त हो गया था। इन आचार्यों में किसी ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना— शब्दार्थौ काव्यम्, किसी ने केवल शब्द को 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' किसी ने 'अलंकाराः एव काव्ये प्रधानं' कहा तो किसी ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कह कर छूट दे दी। किसी ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' कहा तो किसी ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' माना। किसी ने 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कहा तो किसी ने 'औचित्यं काव्यसर्वस्वं' माना। आचार्यों के साथ-साथ कविवरों ने भी यथा प्रसंग काव्य तत्त्वों का निर्देश किया। 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः' और 'अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबंधो दुरुदाहरः' ऐसे ही एक कविवर, माघ, की उक्तियां हैं। इन कवि-आचार्यों की दृष्टि में शास्त्रज्ञान मात्र उत्कृष्ट काव्य रचना का हेतु न था परन्तु 'शक्ति निपुणता लोक-काव्य शास्त्रावलोकनात् काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यासः' अर्थात् ये तीन तत्त्व सम्मिलित होकर ही काव्य हेतु थे। 'काव्य कवि, शास्त्र कवि और काव्यशास्त्र कवि' में 'उत्तरोत्तरो गरीयान्' बता कर शास्त्र ज्ञान और सहज प्रतिभा दोनों के समागम को ही महत्त्व दिया गया था।

पर जब कविता जाति विशेष की आजीविका का एक मात्र साधन रह गई तो प्रतिभा का आग्रह कहां तक रखा जाता। काव्य शास्त्र और छंद शास्त्र के कुछ आवश्यक अंशों के संकलन किये गये और उनके अध्ययन के बल पर प्रत्येक कवि के घर में कवि पुत्र ही जन्म लेने लगा। कुछ शास्त्र ज्ञान और कुछ छंद रचना का अभ्यास—बस यही सब आजीविका के लिए पर्याप्त संबल बन गया।

काव्य रचना राजसभा में प्रतिस्पर्धा की वस्तु बन गई थी अतः जितना अधिक ज्ञान-विस्तार और चमत्कार-वैभव प्रदर्शित हो पाता उतने ही अधिक पारितोषिक की आशा

बनी रहती। फल यह हुआ कि कविता का क्षेत्र सीमित हो गया। शास्त्रकार ने उसकी भूमि निश्चित कर दी। परिधि का अंकन कर दिया। मर्यादा का निर्धारण कर दिया। किस प्रसंग में किन-किन वस्तुओं का वर्णन किया जाए; किस रस की निष्पत्ति के लिए किन विभाव, अनुभाव, संचारी भाव का समावेश किया जाए; किन पशु-पक्षियों को नखशिख वर्णन में उपमान बनाया जाए; घोड़ों, हाथियों, वीरों, युद्धों आदि के वर्णन में किन-किन बातों का उल्लेख किया जाए आदि सभी कवि मार्गदर्शक तत्त्वों का संग्रह करने वाले ग्रंथ सुलभ हो गये और इन ग्रन्थों का अध्ययन कर के वंशानुवंश कवि प्रतिमा भी रिक्थ के रूप में मिलती रही। परिणामतः कविता में 'क्षणे क्षणे नवता को उपेत' होने वाली रमणीयता का ह्रास हो गया। वक्रोक्ति के स्थान पर उच्छिष्ट परंपरागत उक्ति ही काव्यजीवित बन गई। रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्दावली काव्य न रही; अपितु कौटलीय 'अर्थ' प्रापक शब्दावली काव्य रह गई। 'इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना' के स्थान पर 'इष्टार्थ व्यवस्थापिका' पदावली समारूढ़ हो गई।

वाल्मीकि के मुक्त कानन में स्वच्छंद विहार करने वाली कविता कामिनी जब राज सभा में स्वैराचारिणी वारांगना बनी तो उसे सभोचित आचरण-व्यवहार की शिक्षा लेनी पड़ी, अनुशिष्ट होना पड़ा, आपादमस्तक समुचित वेशभूषा और अलंकार धारण करने पड़े। कुल परंपरा तोड़ने पर भी राजसभा की परंपरा का, नियमावली का पालन करना पड़ा। यों वह कारागार के बंधनों में आबद्ध हो गई, यद्यपि भ्रमवश राजमान्या होने के गर्व से आप्लावित थी।

यह थी राजसभा की कमनीय कविता कामिनी की दयनीय दशा। यह थी सामंती परम्परा के कवि वर्ग की कर्मभूमि। ये थे उसके आदर्श। ऐसी ही कर्मभूमि में रह कर कवि कुंभकर्ण को भी अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना था; अपने भाषा वैदग्ध्य से राजसभा को चकित करना था; अपने वर्णन कौशल से विस्मित करना था; अपने वृत्त वैभव से हतप्रभ करना था और अपने आश्रय दाता द्वय—रामसिंह-शिवसिंह—को काव्य मदिरा से मत्त कर हर्षोन्माद में उनसे पुरस्कार पाना था। यह थी कुंभकर्ण की पृष्ठ भूमि जिसका ध्यान रख कर ही उसके उत्कर्ष का परीक्षण अपेक्षित है।

# २. पूर्व पीठिका : (ख) भाषा पक्ष

## (१) भारतीय भाषाओं का विकास

आज से दो शताब्दी पूर्व कलकत्ते के सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश श्री विलियम जोन्स को भारत की देववाणी संस्कृत और यूरोप के विद्वत्समाज की सम्मान्य भाषा यावनी (ग्रीक) और लातिन के बीच परस्पर सादृश्य के लक्षण प्रतीत हुए थे। उसी विद्वान् के हाथों मानो तुलनात्मक भाषा विज्ञान और भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन की आधार शिला की स्थापना हुई थी। समय पाकर भाषा अध्ययन की उस नींव पर एक विशाल भवन खड़ा हो गया। विलियम जोन्स के थोड़े समय बाद ही भाषाविदों को भारतीय भाषाओं में आर्य, द्रविड़, आग्नेय आदि विविध परिवारों की भाषाओं का पता चल गया था और संस्कृत, पारसी (प्राचीन रूप जेंद अवेस्ता), यावनी, लातिन आदि के एक ही उद्‌गम की संकल्पना की जा चुकी थी। यों यूरोप की अधिकांश भाषाओं और भारत की तथाकथित आर्य भाषाओं के मध्य एक दूर का बंधुत्व स्थापित हो गया था। उसी युग के कुछ विद्वानों ने दक्षिण भारत की द्रविड़ परिवार की भाषाओं का भी अध्ययन किया था और उनको उत्तर भारत की भाषाओं और द्रविड़ परिवार की भाषाओं के वाक्य रूपों में अद्‌भुत साम्य भी दृष्टिगोचर हुआ था। यत्र-तत्र एकाध विद्वान् ने इस साम्य का निर्देश करते हुए सभी भारतीय भाषाओं का पारिवारिक संबंध जोड़ने का भी यत्न किया था। पर ऐसी स्थापनाओं को विद्वानों से समादर नहीं मिला। पादरी काल्दवेल ने विस्तृत साम्य का उल्लेख करके भी कहमुकरनी कर दी और इस साम्य को काकतालीय या सिथियन परिवार की भाषाओं का उत्तर भारतीय भाषाओं पर प्रभाव बता कर टाल दिया। वस्तुतः विदेशी विद्वान् विद्वान् होने के साथ-साथ विदेशी शासक वर्ग के समर्थक भी थे अतः उन्हें यह सदा अभीष्ट प्रतीत होता था कि भारत की जनता को आर्य-द्रविड़-मुंड, ब्राह्मण-जैन-बौद्ध-सिक्ख, हिंदू-मुसलमान-ईसाई, उच्चवर्ण-हीनवर्ण आदि वर्गों में विभक्त रखा जाये, और इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए आर्य और द्रविड़ भाषाओं की बाड़ उत्तर और दक्षिण के मध्य लक्ष्मण रेखा बन सकती थी। फलतः उत्तर-दक्षिण की भाषाओं में परस्पर साम्य का प्रदर्शन करने वाले विद्वानों को यूरोपीय विद्वानों से कभी प्रोत्साहन नहीं मिला।

इधर उत्तर भारत के जन समुदाय में भी संस्कृत भाषा के प्रति इतनी असीम आस्था और श्रद्धा है कि वे किसी संस्कृतेतर भाषा से अपनी भाषा को संबद्ध करने की कल्पना भी उचित नहीं समझते। फलतः भारतीय विद्वानों ने इस विषय में विचार करना भी आवश्यक नहीं समझा कि उत्तर भारत की भाषाओं का द्रविड़ भाषाओं से पारिवारिक संबंध हो सकता है।

जिस समय में द्रविड़ और आर्य परिवारों का भाषा विभाजन प्रतिपादित किया गया था उस समय हड़प्पा और मोहें जो दड़ो की समृद्ध द्रविड़ सभ्यता का भी पता न चला था। अतः उत्तर भारत से द्रविड़ों के संबंध की कल्पना भी लोग नहीं करते थे। बलूचिस्तान में ब्राहुई के अस्तित्व ने यदि कभी किसी विद्वान् को चकित भी किया तो इसे अद्भुत घटना मात्र मान कर जिज्ञासा शान्त कर ली गयी। पर यह विचार करने का कष्ट नहीं उठाया गया कि उत्तर भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व द्रविड़ सभ्यता का प्रसार भी हो सकता है।

खैर, आज स्थिति बदल चुकी है। हड़प्पा और मोहें जो दड़ो के बाद सरस्वती घाटी की खुदाई और उत्तर प्रदेश तक में हुई खुदाई से यह सिद्ध हो गया है कि तथाकथित सिंधु सभ्यता केवल सिंधु तक सीमित न थी। वह दिन दूर नहीं जब यह सिद्ध हो जाएगा कि सिंधु सभ्यता की एक धारा का प्रवाह सिंधु प्रदेश से गुर्जर, महाराष्ट्र, कर्नाटक होता हुआ सागर-त्रय संगम तक पहुँचा था और दूसरा मगध, कलिंग, उत्कल, आंध्र होता हुआ सिंहल तक चला गया था। संभवतः ये ही दोनों धाराएँ परवर्त्ती काल में द्रविड़ और गौड नाम से अभिहित हुई थीं। इनमें प्रथम सूर्य को सृष्टि का मूल मानने वाली धारा थी और द्वितीय चंद्रमा को। आक्रान्ता आर्यों से अभिभूत होने के बाद भी पश्चिमी धारा बहुत समय तक जैन-संस्कृति, जैन धर्म, जैन आचार आदि के रूप में रक्षित रही और पूर्वी धारा बौद्ध संस्कृति, बौद्ध धर्म और बौद्ध आचार के रूप में। अभ्यागत आर्यों ने इन दोनों ही धाराओं के तत्त्वों का ग्रहण किया, उन्हें अपनी सांस्कृतिक धारा में समन्वित किया और हिंदू धर्म की त्रिवेणी का संगम हुआ।

निकट भूत में हुए अनेक अन्वेषण-अनुसंधानों के फलस्वरूप कुछ नवोदित इतिहासकार उत्तर भारत में भी द्रविड़ सभ्यता के प्रसार-विस्तार के तन्तुओं को खोज कर इतिहास-पट का निर्माण करने का यत्न करने लगे हैं और कुछ वयोवृद्ध भाषाविदों ने भी आर्य भाषा भवन के नीचे द्रविड़ भाषा की एक तह मानना आरंभ कर दिया है पर अभी तक ऐसा साहस बहुत कम लोगों में आ पाया है जो विलियम जोन्स के समय से शिलान्यस्त और विविध शास्त्र कलाविदों द्वारा निर्मित विचार-भवन को ध्वस्त करने की बात मन में ला सकें।

भारतीय भाषाओं के विकास के संबंध में अपनी धारणा की स्थापना करने से पूर्व हमें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम अब तक की रूढ़ मान्यताओं का एक संक्षिप्त परिचय पूर्व पक्ष के रूप में दें। विद्वानों का मत है कि आर्य लोग मूलतः मध्य एशिया के निवासी थे। उनका एक दल पश्चिम में यूरोप में जा बसा और दूसरा दल ईरान होता हुआ भारत की ओर आया। मध्य एशिया में स्थित आर्यों की भाषा के स्वरूप की कल्पना यावनी, लातिन, प्राचीन ईरानी (अवेस्तन) तथा वैदिक के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर की गई है और कल्पित भाषा का नाम भारत-यूरोपीय भाषा सुझाया गया है। उसकी

आदिम दो शाखाओं—यूरोपीय और भारत ईरानी—की विशेपताओं को ध्यान में रख कर प्रथम को केंतुम् शाखा और दूसरी को सतेम् शाखा कहा गया है । सतेम् शाखा की फिर दो प्रमुख उपशाखाएँ मानी गई हैं, एक ईरानी और दूसरी भारतीय या वैदिक । इन दोनों के मध्य दरद उपशाखा का समर्थन भी कुछ विद्वानों ने किया है जिसमें दोनों प्रमुख शाखाओं के कुछ लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं । हमारे प्रतिपाद्य विषय में भारतीय शाखा का विवेचन ही प्रासंगिक है अतः उसी की प्रशाखा, अनुशाखा, पल्लव, कलिकादि का उल्लेख किया जाएगा ।

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास को तीन प्रमुख कालों में विभक्त किया गया है:—प्राचीन आर्यभाषा काल, मध्य आर्यभाषा काल और अर्वाचीन आर्यभाषा काल । प्रथम काल में ऋग्वेद की भाषा से लेकर पाणिनि की लौकिक भाषा तक (लगभग ६०० ई०पू०) के भाषा विकास को सम्मिलित किया जाता है । उसके बाद प्राकृतापभ्रंशों का मध्यकाल माना जाता है जिसमें लगभग पांच सौ ईस्वी तक का उपकाल प्राकृतों का और फिर लगभग पांच सौ वर्षों का उपकाल अपभ्रंशों का माना जाता है । मान्यता के अनुसार इस काल में अनेक क्षेत्रीय प्राकृतों और अपभ्रंशों का उदय हो गया था और संस्कृत भाषा की अनेक ध्वनियां, अनेक शब्दाकृतियां, और अनेक वाक्य रचनाएं लुप्त हो गई थीं और उनका स्थान नये तत्त्वों ने ले लिया था । ध्वनि-स्वरूप में बहुत से मौलिक अंतर हो गये थे । शब्दरूपों में भी हुए होंगे पर प्राप्त व्याकरणों में उनकी संख्या बहुत नहीं है । वाक्य रचनाओं में प्रायः संस्कृत का अनुसरण है पर फिर भी यत्रतत्र नये रूप और नये वाक्य विन्यास दृष्टिगोचर होते हैं । गत एक सहस्र वर्ष के लगभग का काल आधुनिक आर्यभाषा काल माना जाता है जिसमें उत्तर भारत की सभी वर्त्तमान भाषाओं का उदय, उन्नयन और उन्नमन हुआ । प्राकृतापभ्रंशकाल में सुप्त और मृत हुई अनेक ध्वनियों को इस काल में पुनरुज्जीवन प्राप्त हुआ और अनेक विदेशी प्रभाव भी पड़े ।

यों भारतीय आर्य भाषाओं के विकास क्रम को तीन काल खण्डों में विभक्त किया जाता है और बताया जाता है कि प्रथम खण्ड में वैदिक संस्कृत लौकिक रूप में परिणत हुई, दूसरे खंड में प्रादेशिक प्राकृतों और उनसे भी छोटे क्षेत्रों की अपभ्रंशों का उदय हुआ और तीसरे खंड में आते-आते भारत में दर्जनों साहित्यिक भाषाएं विकसित होगई जिनमें से दस को तो संविधान में भी मान्यता मिली ।

अस्तु, आज इन सभी भाषाओं के व्याकरण भी बनाये जा चुके हैं और उनका विद्यालयों में अध्यापन भी होता है । जब मान लिया गया है कि ये सभी भाषाएं संस्कृत से विकसित हुई हैं तो यह मानना भी स्वाभाविक है कि संस्कृत व्याकरण पर आश्रित व्याकरण, से ये भाषाएँ सीखी जा सकेंगी । पर बीच में अंग्रेजी व्याकरणों का भी प्रभाव रहा । अतः आधुनिक आर्यभाषाओं के जो व्याकरण आज पढ़ाये जाते हैं उनमें एक ओर तो अंग्रेजी व्याकरणों के अनुकरण पर पदच्छेद और वाक्य विश्लेपण आदि पढ़ाए जाते हैं और संज्ञा,

सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रियाविशेषण आदि आठ शब्दरूपों का अध्ययन करा दिया जाता है; दूसरी ओर संस्कृत व्याकरणों की पूंछ पकड़ कर आठ कारकों, तीन वाच्यों, तीन कालों और उनके अनेक उपकालों तथा तद्धित, संधि, समास, कृदंत आदि तत्त्वों का ज्ञान कराया जाता है। विद्यार्थी इन सब तत्त्वों को भाषा-शिक्षा से असंबद्ध किंतु परम्पराप्राप्त पालनीय धर्मांगों के समान सीख लेता है। हां, वास्तविक भाषा-शिक्षा में उसे इन सब का कोई उपयोग प्रतीत नहीं होता।

बात यह है कि जिस भवन की नींव ही गलत लग गई हो उसमें निवास करना कितना सुरक्षित और सुखप्रद होगा यह सहज ही जाना जा सकता है। हमारा मत तो यह है कि भाषा की इकाई वाक्य है, शब्द नहीं। अतः वर्तमान भारतीय भाषाओं में तत्सम और तद्भव शब्दों की बहुत बड़ी संख्या देख कर ही यह न मान लेना चाहिए कि हमारी ये भाषाएँ संस्कृत के परिवार की हैं। यदि शब्दावली मात्र को प्रमाण माना जाएगा तब तो उर्दू को अरबी के परिवार में स्थान देना पड़ जाएगा। परन्तु क्या यह उचित होगा? वास्तव में हमें भाषाओं के वाक्य विन्यास की भी तुलना करनी चाहिए और देखना चाहिये कि क्या पुत्री मानी जाने वाली भाषा का वाक्य विन्यास माता मानी जाने वाली भाषा के वाक्य विन्यास से मेल खाता है। यदि भेद है तो उस भेद के औचित्य को सिद्ध करने वाले समुचित कारण होने चाहिये।

यदि हम वर्त्तमान भारत की प्रमुख भाषा हिंदी और उसकी पूर्वजा मानी जाने वाली संस्कृत के वाक्य विन्यास और शब्दरूपों की तुलना करें तो हमें दिन रात का अन्तर दिखाई पड़ता है। शब्दरूप के दो प्रमुख तत्त्व हैं प्रातिपादिक और क्रिया। संस्कृत में प्रातिपदिकों के साथ विभक्तियां जोड़ कर जैसे रूप बनते हैं वैसी स्थिति हिंदी में नहीं है। हिन्दी में तो बहुत कम ही रूप बनते हैं। यथा—बालक-बालकों, लड़का-लड़के-लड़कों। इन रूपों में वह शक्ति नहीं है जो संस्कृत की विभक्तियों में है। अतः इनकी सहायता के लिए यथावश्यक ने, को, से, में, का (की, के) और पर आदि परस्थानिक जोड़े जाते हैं। इनसे भी पूरा अर्थ नहीं प्राप्त होता तो कहीं दो परस्थानिक जोड़े जाते हैं जैसे में—से, पर—से आदि और कहीं 'के' के बाद पूरे शब्द जोड़े जाते हैं जैसे साथ, ऊपर, हेतु, लिए, द्वारा, मध्य आदि। यों कई तत्त्व मिल कर वह काम करते हैं जो संस्कृत में सुप् करते हैं। संस्कृत के सुप् प्रातिपदिक के साथ ही जुड़े होते हैं, और वैयाकरण ही उनकी पहचान करवा सकता है पर हिन्दी में परस्थानिकों और कारकार्थक शब्दों की पृथक् सत्ता है और वे अपने प्रतिपादिक से काफी दूर भी रह सकते हैं। यहां तक कि अनेक पंक्तियों के उपवाक्य भी बीच में आ सकते हैं। यों हिंदी और संस्कृत के प्रतिपादिक रूपों में कोई साम्य नहीं है।

क्रिया रूपों में तो संस्कृत और हिंदी में बहुत ही कम साम्य है। संस्कृत के क्रिया रूप दस लकारों और कुछ प्रत्ययों की सहायता से बनते हैं। हिंदी में लकारों और प्रत्ययों के अर्थों को व्यक्त करने का काम प्रायः क्रियाओं के जोड़े करते हैं। कहीं दो, कहीं तीन,

कहीं चार और कहीं उससे भी अधिक क्रियाएँ मिल कर अर्थ अभिव्यक्त करती हैं। इन क्रियाओं के अपने रूप भी होते हैं पर वे रूप अर्थ तत्त्व के साथ पूरी तरह बंधे हुए नहीं हैं। एक ही रूप पूर्वापर रूपों से प्रभावित होकर अर्थ व्यक्त करता है।

उदा० १. आपको यह काम करना ही **होगा**।
२. वह तो गत वर्ष ही पास होगया **होगा**।
३. वह अभी आ रहा **होगा**।
४. वह आज सवेरे **आया**।
५. क्यों शोर मचाते हो मैं अभी **आया**।
६. अरे याद करते ही तू भी **आया**।

इन क्रिया रूपों की किन्हीं लकारों से तुलना करने का यत्न व्यर्थ है। हमारा तो विचार है कि सकर्मक और अकर्मक तथा कर्मवाच्य, कर्तृवाच्य आदि की विस्तृत चर्चा भी प्रायः भ्रामक ही होती है। जिस व्यक्ति को पढ़ाया गया है कि 'आना' क्रिया अकर्मक है और कर्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता के अनुसार, कर्मवाच्य में कर्म के अनुसार तथा भाववाच्य में सदा पुंल्लिग और एक बचन होती है वह जब एक वाक्य देखता है : 'मुझको तो रोना आता है' तो असमंजस में पड़ जाता है। वैयाकरण शायद उसे समझाएगा कि यह कर्तृवाच्य है जिसमें 'आना' अकर्मक क्रिया है और उसका 'कर्त्ता' 'रोना' है तथा 'मुझको' पूरक है। हमको तो यह केवल द्राविड़ी प्राणायाम लगता है। इसमें यदि कोई क्रिया अभीष्ट है तो रोने की ओर उसके कर्तृत्व का आरोप यदि किसी पर हो सकता है तो 'मुझ' पर और 'आना' तो 'रोने' की अवस्था या स्थिति का द्योतक मात्र माना जा सकता है। पर वैयाकरण का तो दुर्ग ध्वस्त हो जाएगा। वाच्य और कर्म का क्या होगा !

वास्तविक बात यह है कि हिन्दी आदि अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओं का स्वरूप संस्कृत से बहुत भिन्न है। संस्कृत के सांस्कृतिक अभिभव में प्रोद्भूत, विकसित और पल्लवित होने के कारण इनको संस्कृत का बहुत अंश ग्रहण करना पड़ा है पर फिर भी कुछ मौलिक भेद ऐसे हैं जो बलात् ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहते। जब हिन्दी के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण संस्कृत से सर्वथा पृथक् मार्ग अपनाते हैं; जब क्रियाएँ अकेली लकारों की सहायता से अर्थाभिव्यक्ति न करके तीन-तीन, चार-चार सम्मिलित होकर एक भाव की अभिव्यक्ति करती है; जब अव्यय तक 'से', 'पर' आदि परस्थानिकों से समन्वित होते हैं और संस्कृत के अव्ययत्व का नियम तोड़ देते हैं तो साम्य रह कहां गया ? क्रियाओं के तो इतने लम्बे-लम्बे गुच्छे हिंदी में मिलेंगे कि उसके समकक्ष तत्त्वों को संस्कृत में ढूंढ़ना अरण्य रोदन से भी अधिक व्यर्थ होगा।

उदा० (१) बस की प्रतीक्षा में एक घण्टे भी **खड़े रह जाना पड़ सकता है**।
(२) यदि यह काम अभी **पूरा कर डालना पड़ जाएगा** तो क्या करोगे ?

क्रियाओं के इन समूहों से जिन भावों को हिन्दी में व्यक्त किया गया है उनको संस्कृत में व्यक्त करने के लिए वाक्य का स्वरूप ही भिन्न होगा। इस प्रकार के वाक्य विन्यास की संस्कृत में कोई व्यवस्था नहीं है। अतः यह सोचना कि हिन्दी के इन वाक्यों को बोलने वाले कभी संस्कृत बोलते थे और उस संस्कृत से ही विकसित वह भाषा रूप भी है, तर्क संगत नहीं। हिन्दी को संस्कृत की वंशजा मानने वाले भाषाविदों के सामने भी यह पक्ष आया था पर उन्होंने एक छोटा-सा उत्तर देकर टाल दिया—"भारतीय आर्य भाषाओं की प्रवृत्ति विश्लेषणात्मकता की ओर है।" साथ में यह भी कह दिया गया कि यह प्रवृत्ति भारत-यूरोपीय परिवार की अधिकांश भाषाओं में है। यूरोपीय भाषाओं में भी द्रष्टव्य है। संभव है यह तर्क कुछ लोगों के समाधान के लिए यथेष्ट हो क्योंकि 'एकोऽहम् बहुस्याम्' तो हमारे यहां का मूल मंत्र रहा है अतः एक धातु रूप को व्यक्त करने के लिए अनेक धातु रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति हमारी इस दार्शनिक विचार धारा के अनुरूप बताई जा सकती है। पर खेद है कि हमें इस तर्क में कोई तत्त्व प्रतीत नहीं होता। जो प्रवृत्ति बीज रूप में विद्यमान हो वह तो वृक्ष रूप में भी परिणत हो सकती है पर जब बीज रूप ही न हो तो वृक्ष खड़ा हो जाने की बात हमें समझ में नहीं आती।

बिना बीज ही वृक्ष के खड़े हो जाने की इस कहानी को हमने भी विवश होकर मान ही लिया होता यदि हमें इस कहानी के मिथ्या होने के तथा वृक्ष मूल के अन्यत्र होने के प्रमाण न मिले होते। बात यह है कि दस शताब्दी ईसा पूर्व के ब्राह्मण ग्रन्थों तक से यह स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा केवल उदीच्य प्रदेशों की भाषा थी। शरावती के दक्षिण पूर्व में विद्यमान उदीच्येतर प्राच्यादि प्रदेशों में मृध्रवाक् बोली जाती थी। कौषीतकी ब्राह्मण में कहा है—"तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते, उदंच उ वै यन्ति वाचं शिक्षितुं, यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति।" स्पष्ट है कि शुद्ध संस्कृत भाषा सीखने के लिए उदीच्य प्रदेश में ही जाना पड़ता था। उपनयन संस्कार पद्धति में स्पष्ट उल्लेख आता है—"ततः काश्मीर गमनम्" जिसे आजकल काशी गमन कहा जाता है। पतंजलि ने लिखा है—संस्कारोत्तर कालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते।" उपनयन संस्कार के बाद ब्राह्मण बालक को सर्व प्रथम व्याकरण पढ़ाया जाता था ताकि वह शुद्ध उच्चारण करना सीख सके और म्लेच्छों जैसा उच्चारण न करे—"तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित वै नापभाषित वै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयम् व्याकरणम्।" वेदों की रक्षा के लिए भी व्याकरण पढ़ना आवश्यक बताया गया है—रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।

जरा विचार कीजिए। क्या किसी को अपनी मातृभाषा सीखने के लिए व्याकरण की सहायता आवश्यक है। क्या प्राच्य प्रदेश के बालक को अपनी मातृभाषा सीखने के लिए सुदूर कश्मीर में जाकर सत्रह वर्ष तक निवास करना आवश्यक है? क्या इस ब्रह्मचर्य काल में उसके लिए यह आवश्यक है कि वह न तो माता-भगिनी तक के सम्पर्क में आये और न शूद्रों के, नहीं तो म्लेच्छों जैसे उच्चारण का भय रहेगा? क्या कोई यह कल्पना कर सकता है कि माता-भगिनी तक के संपर्क में आकर बालक अपनी मातृभाषा भूल जायेगा और

म्लेच्छों [1] की भाषा सीख जाएगा ? क्या यह आवश्यक है कि म्लिष्ट उच्चारण से बचने के लिए और मातृभाषा की रक्षा के लिए वह आठ वर्ष की आयु में ही सुदूर उत्तर में चला जाए और वहाँ सत्रह वर्ष तक रह कर अपनी मातृभाषा का शुद्ध प्रयोग सीखे और पुनः अपनी मातृभूमि में लौट कर भी प्रतिदिन स्वाध्याय का क्रम निभाये ताकि अपनी मातृभाषा को भूल न जाये और म्लेच्छों जैसा उच्चारण न करने लगे ? क्या अपनी मातृभाषा भी कभी इतनी कठिन हो सकती है कि उसे सीखने के लिए बीसों वर्ष विदेश में रहना पड़े और वहां व्याकरणों की सहायता से ही उसका उच्चारण सीखा जा सके ? किमाश्चर्यमतः परम् ।

मातृभाषा की सरलता के विषय में सुविख्यात भाषाविद् मेरियो पेइ ने लिखा है:— "कोई भाषा विदेशी को चाहे कितनी ही जटिल और कठिन क्यों न प्रतीत होती हो पर वह उसी भाषा के वक्ता के लिए अति सरल होगी । क्योंकि आखिर उसने उस भाषा को सर्वोत्तम रीति से सीखा है अर्थात् उसे बचपन से ही सीखना आरम्भ किया है और जीवन भर सीखता रहा है । वह उसे अपने बड़े-बूढ़ों से प्रत्यक्ष सुन कर सीखता है; सही प्रसंग में सही प्रयोग करना जान जाता है और इसी को सीखने में उसके जीवन का सम्पूर्ण काल बीतता है । वर्ष में बावन सप्ताह, सप्ताह में सात दिन और प्रति दिन सोलह घंटे जिस भाषा को सीखता है वह भाषा उसके लिए कठिन कैसे हो सकती है ।"

फिर भी लोगों का दावा है कि संस्कृत भाषा उसी के वक्ताओं के लिए अत्यधिक कठिन हो गई । वे म्लेच्छों की तरह उच्चारण करने लगे तो उन्हें शुद्ध रूप सीखने के लिए, मस्तिष्क-संस्कार के लिए सत्रह वर्ष की लंबी अवधि तक कश्मीर भेजा जाने लगा । उन्हें स्त्रियों और दासों से दूर रहने की कठोर आज्ञा होने लगी ताकि कहीं म्लिष्ट भाषण न करने लगें ।

आर्य भाषा की रक्षा के ये सब प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हुए और ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व ही, प्राकृतों का उदय हो चुका जबकि उधर उदीच्य में पतंजलि के समय तक—ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में भी—संस्कृत दैनंदिन वाग्व्यवहार की भाषा थी। आर्य भाषा से जिन प्राकृतों का विकास हुआ बताया जाता है उनके मूल रूप का तो कोई उदाहरण मिलता नहीं पर परवर्ती काल की साहित्यिक प्राकृतों की सामग्री से उनकी प्रवृत्ति पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। वैसे यह समस्त सामग्री उस काल की है जब विद्वानों के साहित्यिक प्रयोग की भाषा संस्कृत-मात्र थी और वे विद्वान् कुछ परंपराओं का निर्वाह मात्र करने के लिए संस्कृत में सोच कर प्राकृत व्याकरणों की नियमावली के अनुसार उनका प्राकृत भाषान्तर कर देते थे । उदीच्य प्रदेश में संस्कार-प्राप्त द्विजों को स्नातक बनने से कुछ पूर्व प्राकृत भाषाओं के कुछ लक्षण

१. इन म्लेच्छों का उल्लेख करते हुए ऋग्वेद में उन्हें मृध्रवाक्, अकर्मन्, अदेवयु, अयज्वन्, अब्रह्मन् और अवृद्ध होने के साथ साथ शिश्नदेव (लिंग पूजक) बताया गया है । डा० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार ये लक्षण सिंधु सभ्यता के लोगों में थे ।—हिन्दू सभ्यता

भी पढ़ाये जाते थे ताकि वे प्राकृत भाषी पत्नियों और दासों से भी वाग्व्यवहार कर सकें। ऐसे ही प्राकृत व्याकरणों से प्राकृत लक्षणों की जानकारी प्राप्त करने वाले विद्वानों की लेखनी से उद्भूत हुई रचनाएँ हमारे सामने प्राकृत साहित्य के रूप में उपलब्ध हैं। चाहे पालि साहित्य को देखें, चाहे अशोक के शिलालेखों को और चाहे परवर्ती नाटकीय प्राकृतों को, वे वास्तव में ऐसे व्यक्तियों की लेखनी से निःसृत हैं जो मूलतः संस्कृत में चिन्तन करते थे और फिर उसी बात को प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार व्यक्त कर देते थे क्योंकि यह परंपरा थी कि अमुक-अमुक कोटि के व्यक्तियों के लिए उद्दिष्ट बात प्राकृतों में ही कही जानी चाहिए। परंपरा से यह माना जाता रहा था कि बुद्ध और महावीर के वचन प्राकृतों में थे अतः उनसे संबंधित जो उपदेश-साहित्य-कथा-कहानी रचित हों वे प्राकृतों में हों; राजा-देश प्राकृतों में प्रसारित किये जाएं क्योंकि अधिकांश जनता प्राकृतों से परिचित है; नाटकों में द्विजपुरुषेतर पात्रों के मुख से प्राकृतों का ही उच्चारण कराया जाए क्योंकि किसी समय द्विभाषी समाज था। यों जिन परंपराओं के मूल कारणों को लोग भूल गये थे उनके भी निर्वाह के लिए उनका पालन होता रहा और संस्कृत और प्राकृतें दैनंदिन व्यवहार से लुप्त हो चुकने के सहस्रों वर्ष बाद तक तत्तत् निर्धारित कार्यों का संपादन करती रहीं। आज भी संस्कृत में नाटक लिखे जाएं तो यथावश्यक प्राकृत को स्थान देना ही पड़ेगा तथा ब्राह्मणों, जैनों और बौद्धों के धार्मिक कृत्य उन्हीं भाषाओं से संपादित करवाये जाएंगे चाहे उनका दैनंदिन प्रयोग कहीं न होता हो। वास्तव में प्राकृतों का जो स्वरूप परंपराओं के आरंभ में था उस स्वरूप की सही कल्पना संप्रति-प्राप्त प्राकृत सामग्री से नहीं की जा सकती। हिन्दी आदि वर्त्तमान भारतीय आर्य भाषाओं के वाक्य विन्यास का विकास जिस प्रकार संस्कृत के वाक्य विन्यास से संभव नहीं प्रतीत होता उसी प्रकार प्राकृतों और अपभ्रंशों की साहित्यिक रचनाओं की भाषा से भी संभव नहीं प्रतीत होता। परन्तु प्राकृतों के ध्वनि परिवर्त्तन के नियमों को देखें तो इतना स्पष्ट हो जाएगा कि प्राकृत मुख में आकर अनेक संस्कृत ध्वनियां विकृत या सर्वथा लुप्त हो गई थीं। प्राकृतों की शब्दावली में भी देशी नाम से अभिहित शब्दावली की मात्रा कम नहीं है जो निस्संदेह संस्कृत परिवार की तद्भव शब्दावली से भिन्न है। यत्र-तत्र ऐसे वाक्य विन्यास भी दृष्टिगोचर हो जाते हैं जिनका संस्कृत व्युत्पन्न होना संभव नहीं है। सारांश में हम कह सकते हैं संप्रति प्राप्त प्राकृत सामग्री में भी ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान हैं जो हमें यह सोचने के लिए बाध्य कर देते हैं कि आखिर इतने भारी परिवर्त्तन क्यों हुए। क्या यह संभव है कि कुछ ध्वनियां उसी भाषा के वक्ताओं के लिए भी सर्वथा दुरुक्त हो जाएं? यदि ऐसी ध्वनियों की संख्या काफी बड़ी हो तब तो निस्संदेह उसके कारणों की खोज आवश्यक है।

संस्कृत और प्राकृतों के वर्ण-समाम्नाय (ध्वनि समूह) में जो अंतर है उस पर विचार करें तो स्पष्ट पता चल जायेगा कि उतना बड़ा अंतर उसी भाषा के वक्ताओं द्वारा संभव नहीं है। उसमें निस्संदेह अन्य जातियों का हाथ है। और उन कारण भूत जातियों की खोज करने के लिए कुछ संभावित जातियों की भाषाओं के वर्ण-समाम्नाय से तुलना करें तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।

प्राकृतों में आ कर संस्कृत ध्वनियों में जो परिवर्तन आये उनका संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है:—

१. संस्कृत के ऋ, लृ वर्णों का प्राकृत में अस्तित्व नहीं रहा; वे अ इ या उ में परिवर्तित हो गए।

२. ऐ तथा औ वर्णों का संध्यक्षरत्व नहीं रहा। वे अइ, अउ या आइ, आउ में परिणत हो गए।

३. ह्रस्व ए, ओ संस्कृत में न थे पर प्राकृतों में विकसित हो गये।

४. संयुक्त व्यंजनों की संस्कृत में भरमार थी पर प्राकृत में वे लुप्त हो गये :

(क) कहीं तो उनमें स्वर भक्ति का प्रयोग हुआ; और

(ख) कहीं दो संयुक्त वर्णों में से स्पष्टतर वर्ण का द्वित्व हो गया।

५. संस्कृत में श, ष, स तीन सोष्म ध्वनियां थी पर प्राकृत में इनमें से केवल एक रह गई और उस एक की भी प्राय: 'च' में परिणति हो गई; यथा: संपीड्यते> चंपिज्जइ।

६. अघोष ध्वनियां शब्द के आदि में तो बनी रहीं पर मध्य में या तो लुप्त हो गईं या सघोष में परिणत हो गईं।

७. व्यंजनांत शब्द स्वरांत हो गये।

यदि हम इन सब ध्वनि परिवर्तनों पर विचार करते समय द्रविड़ परिवार के वर्ण समाम्नाय पर किंचित् दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि ये परिवर्तन स्पष्टत: द्रविड़ भाषा-भाषी मुख की सुविधा को ही ध्यान में रख कर हुए हैं। द्रविड़ भाषा का समग्र प्रदेश ही आर्य संस्कृति से अभिभूत रहा है अत: उस परिवार की भाषाओं में भी संस्कृत तत्त्व बहुत मात्रा में प्रविष्ट हो गया है पर उनमें तमिल ऐसी भाषा है जिसमें आज भी द्रविड़ तत्त्व अत्यधिक मात्रा में सुरक्षित हैं। तमिल के वर्ण-समाम्नाय की तुलना ऊपर वर्णित प्राकृत ध्वनि विकारों से करें तो स्थिति काफी स्पष्ट हो जाती है :

१. ऋ, लृ ध्वनियां तमिल में नहीं है और इन ध्वनियों वाले जो संस्कृत शब्द तमिल में प्रविष्ट हुए हैं उनमें वैसे ही परिवर्तन हुए हैं जैसे प्राकृतों में होते थे।

२. जिन वर्णों को तमिल में ऐ और औ के रूप में लिखा जाता है उनका उच्चारण आइ, आउ के तुल्य ही होता है। ध्यान रहे तमिल आदि द्रविड़ भाषाओं में 'अ' का संवृत उच्चारण न होकर विवृत ही होता है जिसके कारण हम उनके 'अशोक', 'गुप्त' आदि शब्दों के उच्चारण को जब देवनागरी में लिखते हैं तो अशोका, गुप्ता आदि बना देते हैं। वेमन, तिक्कन, नन्नय्य आदि को तो सदा ही वेमना, तिक्कना, नन्नय्या आदि ही लिखते हैं। उधर जिसे हम मिठाई, चटाई आदि के रूप में लिखेंगे उसे तमिल लोग मिठै, चटै आदि ही लिखेंगे। चटाई शब्द इसका बड़ा मनोरंजक उदाहरण है। तमिल नियमानुसार संस्कृत के

'आ' कारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'ऐ' कारान्त हो जाते हैं। यथा: सीता> चीदै या त कार का उच्चारण करने के लिए चीत्तै। इसी नियम के अनुसार संस्कृत का जटा शब्द तमिल में चट्टै (तमिल में आदि व्यंजन सदा अघोष उच्चरित होता है) बना और उसका उच्चारण हुआ चट्टाई।

३. ह्रस्व ए-ओ तमिल में हैं और उनका प्रयोग भी प्रायः वैसे ही स्थलों पर होता है जैसे स्थलों पर प्राकृतों में होता था। उदाहरणार्थ द्वित्व व्यंजनों से पूर्व।

४. प्राकृतों के समान तमिल में भी संयुक्त ध्वनियाँ नहीं पाई जाती हैं। हाँ, द्वित्व ध्वनियाँ बहुत हैं। और संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों वाले शब्द जब तमिल में गृहीत होते हैं तो या तो स्वरभक्ति का मार्ग अपनाते हैं या द्वित्व का।

५. संस्कृत की श, ष, स, ध्वनियों का तमिल वर्ण-समाम्नाय में कोई स्थान नहीं है और सामान्यतः उन्हें 'च' द्वारा व्यक्त किया जाता है पर कहीं कहीं संस्कृत मूल उच्चारण का निर्देश आवश्यक होने पर श को च से, ष को ट से और स को त से (उच्चारण स्थान के आधार पर) अभिव्यक्त किया जाता है। पर सामान्य नियम 'च' का ही है। यथा ऋषि 7 इरुचि।

६. प्राकृतों के समान तमिल में अघोष ध्वनियाँ शब्द के मध्य में नहीं आती हैं। वहाँ या तो द्वित्वरूप में आयेंगी या सघोष रूप में। पर यह सघोष रूप इतना क्षीण होगा कि उत्तर भारतीय श्रोता को लुप्त-सा ही प्रतीत होगा। काल्दवेल ने सघोष 'ज' के स्थान पर भी 'श' हो जाने का उल्लेख किया है। तिरुअनंतपुरम् का तमिल-मलयालम उच्चारण हमें 'तिरुवनंदुरम्' जैसा लगता है और इसीलिए अंग्रेजी वर्त्तनी के अनुकरण पर हम लोग त्रिवेन्द्रम् लिखते भी हैं। प्राकृत ध्वनि नियमों को देखते हुए प्राकृतों में भी संभवतः तिरुअनंतपुरं का 'तिरुवनंदुरम्' रूप ही बनता।

७. प्राकृतों में व्यंजनान्त रूप जैसे अजन्त हो जाते हैं वैसे ही द्रविड़ भाषाओं में भी होते हैं। तेलुगु में तो यह प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है और स्वरान्त होना भाषा माधुर्य का हेतु माना जाता है। तमिल-मलयालम में यह प्रवृत्ति कुरियल उकारं के रूप में विद्यमान है।

यों प्राकृतों और द्रविड़ भाषाओं की ध्वनि परिवर्तन विषयक नियमावली में बहुत अधिक साम्य है और यदि यह माना जाए कि प्राकृतों का ध्वनि परिवर्त्तन तत्कालीन द्रविड़ भाषाओं के प्रतिमान पर हुआ है तो आश्चर्य न होगा। द्रविड़ और प्राकृत ध्वनितंत्र में केवल एक प्रधान भेद है और वह यह कि कुछ द्रविड़ भाषाओं में महाप्राण ध्वनियों का अभाव है जबकि प्राकृतों में वे विद्यमान हैं अर्थात् शब्द के आदि में .घ, झ, ढ, ध, भ प्राकृतों में द्रष्टव्य हैं। पर ये ध्वनियाँ देशी शब्दों में नहीं है केवल तत्सम और तद्भव शब्दों

में हैं। सहस्रों वर्षों के सांस्कृतिक अभिभव के परिणाम स्वरूप आर्येतरों ने भी यदि शब्द के आदि में महाप्राण का उच्चारण सीख लिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं है। पर मध्यवर्ती महाप्राण का उच्चारण आज भी कठिन काम है। 'बाघ' के घ और 'घबराना' के घ में स्पष्ट भेद है। 'बाघ' का उच्चारण उत्तर भारत की अधिकांश बोलियों में 'बाग' से मिलता-जुलता होता है; हां, 'आ' पर महाप्राणत्व का कुछ प्रभाव रह जाता है जिसे भाषाविद् काकु (टोन) कहते हैं। 'कहना' शब्द के उच्चारण में मध्यवर्ती 'ह' का उच्चारण शायद ही कोई व्यक्ति 'हम' के 'ह' जैसा कर पाता हो। 'वह' को तो सभी लोग 'वो' बोलते हैं। अतः हम निस्संदेह यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राकृतों के समय से आज तक भारतीय आर्य ध्वनियों में जो परिवर्त्तन हुए हैं वे द्रविड़ मुख की सुविधा की दृष्टि से हुए हैं।

शब्द रूपों की दृष्टि से भी प्राकृतों में हुए परिवर्त्तन द्रविड़ प्रवृत्ति के ही अनुरूप प्रतीत होते हैं। यद्यपि जैसा कि पहले उल्लेख कर चुके हैं, प्राकृतों की अधुना प्राप्त सामग्री बोलचाल की भाषा का ठीक प्रतिनिधित्व नहीं करती फिर भी व्याकरणिक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट संकेत करती हैं कि प्राकृतों में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति थी। इसके अतिरिक्त संस्कृत के तीन वचनों के स्थान पर प्राकृतों में दो ही वचन हैं जो द्रविड़ भाषाओं के अनुरूप हैं। विभक्तियों की संख्या कम हो गई है। पर-स्थानिक दृष्टिगोचर होने लगे हैं। 'प्राकृत के शब्द अकारान्त, इकारान्त, उकारांत हो गए हैं। संस्कृत के हलन्त शब्द अजन्त हो गये हैं।········प्राकृत काल में विभक्तियों का भी सरलीकरण हुआ।········इसी प्रकार विभक्ति चिह्नों में भी संस्कृत में जो अनेकता है, वह यहाँ लुप्त हो गई।················संस्कृत में व्यजनांत धातु हैं पर यहाँ सभी धातु स्वरान्त हो गए हैं। संस्कृत के दस गणों का भेद भी यहाँ लुप्त होने लगा है। धातु के रूपों में द्विवचन का लोप हो गया है।··················· भूतकाल के लिए भूतकालिक कृदंतों का प्रयोग चल पड़ा है जो आगे जा कर अत्यधिक पल्लवित पाया जाता है।'[1] प्राकृतों की ये सभी प्रवृत्तियां द्रविड़ भाषाओं की प्रवृत्तियों से स्पष्ट मेल खाती हैं।

संस्कृत में विचारित और प्राकृतों में ध्वन्यंतरित प्राकृत साहित्य की सामग्री के आधार पर हम केवल यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राकृत काल में जो परिवर्तन हुए थे वे द्रविड़ मुख-सुख को ध्यान में रख कर हुए थे। यद्यपि इस तथ्य का उल्लेख भी प्राकृतों की विवेचना करने वाले विद्वानों ने संभवतः नहीं किया है; सर्वप्रथम हम ही कर रहे हैं पर फिर भी हम इतने साम्य प्रदर्शन मात्र से संतुष्ट नहीं हैं। हमारी स्पष्ट धारणा है कि यदि अधुना प्राप्त साहित्यिक प्राकृतों की सामग्री से भिन्न कोई सामग्री प्राप्त हो पाती तो निस्संदेह यह स्थापित हो जाता कि ईसा से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व उदीच्येतर समस्त भारत में प्राकृत परिवार की भाषाएं बोली जाती थीं। उनमें से एक सार्वदेशिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती थी। वही अंतः प्रादेशिक व्यवहार की भाषा थी। उसी का प्रयोग देश के विभिन्न भागों में विचरण करने वाले सार्थबद्ध और श्रेणीबद्ध व्यापारी करते थे। उसी

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १, पृ० २६६।

का प्रयोग देश के समग्र भागों में तीर्थाटन करने वाले साधु-संन्यासी किया करते थे। उसी का प्रयोग अभिनयों में होता था और उसी के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान का प्रसार होता था। उदीच्य प्रदेश से आगे बढ़ कर प्राच्यादि प्रदेशों में जब आर्य फैले और द्रविड़ स्त्रियों और दासों का उपयोग करते हुए उन प्रदेशों में बस गये तो उन्होंने भी दैनंदिन वाग्व्यवहार के लिए उसी द्रविड़ भाषा का सहारा लिया। आर्यजन जब उदीच्य से संस्कृत भाषा में पारंगत होकर अपने प्रदेश को लौटने लगते थे तो उन्हें उसी द्रविड़ प्राकृत भाषा के कुछ लक्षण बता दिये जाते थे ताकि वे आर्येतर स्त्रियों और दासों का उपयोग कर सकें। उन लक्षणों में यह निर्देश होता था कि वाक्य में भूत कृदन्त, वर्तमान कृदन्त, पूर्वकालिक कृदन्त, सर्वनाम, विशेषण आदि तत्त्वों का उपयोग किस-किस प्रसंग में होगा। वे संस्कृत आर्यजन इन तत्त्वों का तो ध्यान रखते थे पर जहां प्राकृत शब्दों के तत्तत् रूपों से अपरिचित होते थे वहां तत् समकक्ष संस्कृत रूपों का प्रयोग करते थे और गृहस्वामी के इन प्रयोगों का अनुकरण दास और स्त्रीजन भी करते थे। यों मूल ढांचा प्राकृतों का रहते हुए भी संस्कृत शब्दावली प्रविष्ट होती जा रही थी यद्यपि उनके ध्वनिसमूह में बहुत परिवर्तन स्वाभाविक था। यों बहुत समय तक यह स्थिति रही कि द्विजन्मा पुरुष वर्ग संस्कृत भाषी रहा और वेद-बाह्य स्त्री और शूद्र प्राकृत-जनों–द्रविड़जनों–की भाषा का प्रयोग करते रहे। पर फिर भी दैनंदिन प्रयोग में द्रविड़ प्राकृतों का ही बोलबाला था। विजेता आर्य ज्यों-ज्यों दक्षिण में आगे बढ़ते गये त्यों-यों वे उसी अखिल भारतीय प्राकृत के माध्यम से द्रविड़ों के हृदय को भी जीतते गये। यों गौरवास्पद और पूज्य पद संस्कृत को मिल जाने पर भी प्राकृत का महत्त्व बराबर बना रहा और दैनंदिन वाग्व्यवहार की भाषा वही बनी रही। दैनंदिन कृत्यों का संपादन उसी के माध्यम से होता रहा; व्यापार उसी के सहारे चलता रहा; दूर-दूर तक विजय घोष के लिए जाने वाली सेनाएं उसी की सहायता से विजित प्रदेशों में अपनी सत्ता स्थिर कर पाई। उसी अखिल भारतीय प्रधान प्राकृत के बल पर भारत एक सूत्र में बंधा रहा। आर्य अभिभव ज्यों-ज्यों बढ़ता रहा त्यों-त्यों संस्कृत ध्वनियों, शब्दों और मुहावरों तक का प्रवेश उसमें बढ़ता गया पर उसका मूल ढांचा ज्यों का त्यों बना रहा। विक्रम के बाद भी जितने आक्रान्ता भारत में आते रहे वे सभी उस प्रधान प्राकृत को अपनाते रहे। आज खड़ी बोली हिन्दी नाम से जो रूप देश के विशाल भाग में प्रचलित है वह उसी प्रधान प्राकृत से विकसित है। चाहे उसमें लाखों तत्सम और तद्भव रूप मिल गये हों पर उसका ढांचा आज भी द्रविड़ ही है। शब्दों के ग्रहण मात्र से भाषा का परिवार नहीं बदल जाता। यदि ऐसा होता तो हमें उर्दू को कदाचित् अरबी परिवार की भाषा मानना पड़ जाता। परन्तु ऐसा कौन मानेगा। भाषा का मूल ढांचा ही उसके परिवार का निर्धारक तत्त्व है, शब्दावली नहीं।

जहां तक शब्दावली का प्रश्न है, विजेता जाति की शब्दावली सदा ही विजित जाति की भाषा में प्रविष्ट होती है; गौरव के साथ अपनाई जाती है और अधिक अर्थगर्भित मानी जाती है। इसी कारण संस्कृत के हजारों शब्द हमारी भाषाओं में प्रविष्ट हुए थे और इसी कारण अरबी-फारसी के। विजेता जातियों ने अपनी सुविधा के लिए सदा ऐसे साधन भी

अपनाए हैं जिनसे कि विजित जातियों के शब्दों को स्वयं सीख सकें और अपने शब्द उनको सिखा सकें। खुसरो के खालिक बारी जैसे कोश इस बात के प्रमाण हैं। पर मुसलमान आक्रांता हिन्दू जनजीवन से बिलकुल घुले मिले नहीं थे अतः उनकी शब्दावली का जो प्रवेश भारतीय भाषाओं में हुआ वह केवल विजेता वर्ग की भाषा की शब्दावली होने के कारण था। पर उस समाज की कल्पना कीजिए जिसमें कुल-प्रमुख या कर्त्ता एक भाषा बोलने वाला है और शेष परिवार अन्य भाषा। स्त्रियां, बच्चे, दास, दासियाँ सभी प्राकृत भाषी हैं और अकेला आर्य पुत्र संस्कृत भाषी। परस्पर संपर्क तो आवश्यक था अतः खालिक बारी जैसे पता नहीं कितने कोश बने होंगे। और उन कोशों का पारायण करना सभी आबाल वृद्ध का प्रातःकालीन नित्य कर्म रहा होगा। शब्द कोशों के पाठों की यह परंपरा आज तक प्रातःकालीन नाम-स्मरण के रूप में विद्यमान है। विष्णु सहस्रनाम और गोपाल सहस्र नाम के पाठ आज भी उस परंपरा के प्रतीक हैं। याद करने के लिए सौ-सौ बार पाठ करने का महत्त्व बढ़ा और माला जपने तक का प्रचार हुआ। अधिक नहीं तो राम नाम के जप तक का माहात्म्य बताया गया। ऐसे नियमों के बल पर ही दो जातियाँ एक परिवार बनाने में सफल हुई थीं। पता नहीं इस प्रक्रिया में कितने द्रविड़ शब्द संस्कृत में प्रविष्ट हुए और कितने आर्य शब्द प्राकृतों में आये। पर्यायवाची कोशों की परंपरा तभी चली थी पर बाद में वे पद्यकार कवियों के लिए उपयोगी साधन मात्र रह गये।

अस्तु, जब आर्य द्रविड़ समागम का और भाषा समन्वय का यह प्रयत्न चल रहा था उस समय आर्यों और द्रविड़ों दोनों ही को अपनी भाषा के स्वरूप की रक्षा की भी चिंता हुई थी। बाह्य प्रभावों से भाषा के स्वरूप में आने वाले ये परिवर्तन ज्ञान विज्ञान के विकास में भी कुछ बाधक प्रतीत होने लगे थे। फलतः दोनों ओर से व्याकरणों के निर्माण के प्रयत्न प्रारंभ हुए। भाषाओं के विश्लेषण के रूप में व्याकरणों का प्रवर्तन हुआ तो परस्पर एक दूसरे की भाषाओं को सीखने की सुविधा के लिए था पर बाद में उनका प्रयोग भाषा की सुरक्षा के लिए होने लगा। आर्य भाषा का रक्षा केन्द्र तो उदीच्य प्रदेश के मध्यभाग कश्मीर में बना और द्रविड़ भाषा का रक्षा केन्द्र तमिलनाडु में। महेश्वर-अगस्त्य के व्याकरण परस्पर भाषा ज्ञान के लिए बने थे पर उन्हीं पर आधारित पाणिनि और तोलकाप्पियर के व्याकरण अपनी-अपनी भाषा के रक्षा स्तंभ मान लिये गये। प्रधान प्राकृत सभी तत्त्वों को आत्मसात् करती हुई फलती-फूलती रही पर विद्वत्समुदाय में आदरभाजन न बन सकी। उधर संस्कृत और तमिल अपने रूप की रक्षा में प्रवृत्त रहते हुए भी विद्वत् समुदाय से समुचित आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त करती रहीं।

प्राच्यादि प्रदेशों में द्रविड़ों और आर्यों का समागम ईसा से कम से कम दो सहस्र वर्ष पूर्व आरंभ हो गया था। वेदों की रचनाएँ द्रविड़ विजय काल की ही हैं। उनमें राजतंत्र के प्रतीक इंद्र से संबंधित मंत्र तो हैं ही पर द्रविड़ों के गणतंत्र के अधिपति 'गणपति' से संबंधित मंत्र भी मिल जाते हैं।[1]

---

१. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तवम् ।। ऋ० वे० २।२३।१

यों ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व की प्रधान प्राकृत (द्रविड़ भाषा) का आर्य भाषा से समागम हुआ था तभी से परस्पर समागम का साधन बनने के हेतु उसने संस्कृत तत्त्वों को आत्मसात् करना आरंभ कर दिया था। गृहपति बना हुआ आर्य सुदूर उदीच्य में जाकर सत्रह वर्ष की तपस्या के[1] बाद जिस भाषा-ज्ञान का संचय करके लाता था उसके शब्द तत्त्वों को वह गृहपतित्व के बल पर थोपे बिना कैसे रहता पर भाषा के मूल ढांचे पर उतना प्रभाव नहीं पड़ पाया। हाँ, जहाँ प्राकृत का भूत कृदंत था वहाँ उसने संस्कृत के क्तांत रूप भर दिये, जहाँ प्राकृत का वर्तमान कृदंत था वहाँ शत्रंत रूपों को समाविष्ट कर दिया। द्रविड़ धातुओं के स्थान पर संस्कृत धातुओं का भी खूब प्रवेश हुआ। पर लाख यत्न करने पर भी भाषा के मूल ढांचे में परिवर्तन नहीं हुआ। हां, संस्कृत और प्राकृत शब्दावली का मेल इतना अधिक हुआ है कि आज यह पहचान पाना कठिन है कि कितने शब्द तत्सम रूप में है, कितने तद्भव रूप में और कितने मूल देशी (प्राकृत) हैं।

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि आर्यों के उदीच्य प्रदेश से बाहर निकल कर प्राच्यादि देशों में विस्तृत होने के समय भारत के उदीच्येतर खंड में द्रविड़ सभ्यता का बोलबाला था। उनकी एक भाषा, जिसे सुविधा के लिए 'प्रधान प्राकृत' कहा जा सकता है, समग्र देश के अंतः प्रान्तीय सम्पर्क की भाषा थी। आर्य पुरुषों ने द्रविड़ वातावरण में रह कर जब द्रविड़ स्त्रियों से 'जन्मना शूद्र' किन्तु 'संस्काराद्द्विज' संतानें उत्पन्न कीं तो विजेता की भाषा होने के कारण संस्कृत के हजारों शब्द और शब्दरूप 'प्रधान प्राकृत' में प्रविष्ट हुए पर यों बनी भाषा को आर्य परिवार की भाषा कहना संगत न होगा। संस्कृत का जो तत्त्व गृहीत हुआ था वह भी प्राकृत ढांचे में ढलने के बाद ही गृहीत हुआ था। निस्संदेह शूद्रों, स्त्रियों और 'जन्मना जात शूद्रों' की संख्या की तुलना में 'संस्काराद्द्विजों' की संख्या बहुत कम रही होगी। साथ ही 'संस्कृत द्विजों' में भी उदीच्य में जाकर शुद्ध रूप सीखने वाले कम रहे होंगे। अधिकतर तो उदीच्य जाकर लौटे हुए द्विजों से अपने प्रदेश में ही संस्कृत सीख लेते रहे होंगे।[2] यों विजेता आर्य पुत्रों के सहस्रों शब्द और शब्दरूप तत्सम तथा तद्भव रूपों में शेष पुरजनों, परिजनों और परिवारजनों की भाषा में प्रविष्ट तो अवश्य हुए पर उसके मूल ढांचे को बदल नहीं पाये। सामान्य दैनंदिन वाग्व्यवहार में संस्कृत और प्रधान प्राकृत अथवा सामान्य बोलचाल की प्राकृतें प्रयुक्त होती रहीं। यों बहुत समय तक भारतीय समाज में, विशेषकर प्राच्य प्रदेश के समाज में, दो भाषाएँ एक

---

१. कश्मीर ठंडा प्रदेश है अतः वहां के अध्यापक ऋषि लोग अग्नि के सामने बैठे अध्ययन-अध्यापन करते रहे होंगे। पर वह वहां के आर्यजनों का दैनंदिन कृत्य था अतः ब्रह्मावर्त में प्रचंड सूर्य की तप्त किरणों के रहते हुए भी तपस्या का गौरव गान किया जाता रहा। कार्पास से अनभिज्ञ आर्यजन मृगचर्म और ऊन का प्रयोग करते थे पर कार्पास-प्रयोक्ता द्रविड़ जनों को भी उन्हें ही पवित्र वेष मानना पड़ा। यह सांस्कृतिक अभिभव की करुण कथा है।

२. यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति—कौषीतकी ब्राह्मण ७–६

साथ प्रयुक्त होती रहीं। उदीच्य प्रदेश तब भी केवल आर्यभाषा का प्रदेश रहा और प्राकृत भाषा का निर्द्वन्द्व स्थान सुदूर दक्षिण में जाकर सीमित हो गया। बीच के विशाल प्रदेश में एक साथ दो भाषाएँ चलीं और यह स्थिति कोई एक सहस्र वर्ष तक रही होगी––ई० पू० दो सहस्राब्द से लेकर ई० पू० एक सहस्राब्द तक। इसकी पुष्टि संस्कृत-प्राकृत (द्विभाषी) नाटक परम्परा से होती है। स्पष्ट है कि संस्कृत से प्राकृत की व्युत्पत्ति की कल्पना निराधार है और 'प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं प्राकृतम्' का सिद्धान्त बहुत बाद का और कल्पना प्रसूत है। नाटकों की परम्परा संस्कृत और प्राकृतों की समकालिकता का स्पष्ट उल्लेख करती है और दो सर्वथा भिन्न जातियों के संगम काल में ही ऐसी स्थिति संभव हो सकती है। भरत के नाट्यशास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि नाट्य का प्रवर्तन द्विजेतरों अर्थात् अनार्यों ही के मनोरंजन के लिए हुआ था। पर जब विजेता आर्यों को भी यह मनोरंजन प्रिय हुआ तो नाटकों में संस्कृत और प्राकृत दोनों का समावेश हो गया। यह समाज की स्थिति का सही स्वरूप है।

यह बात बिलकुल समझ में नहीं आती कि जहां एक ओर विक्रमाब्द के आरंभ काल तक (पतंजलि काल तक) संस्कृत बोलचाल की भाषा हो वहां दूसरी ओर उससे सहस्रों वर्ष पूर्व उसी में इतने ध्वनि परिवर्तन आजाएं कि व्यक्ति वाचक नामों तक में दिन. रात का अंतर हो जाए। हम तो ऐसी जाति की कल्पना नहीं कर सकते जिसका एक बहुत बड़ा वर्ग सहसा उसी के सैकड़ों ध्वनि रूपों के उच्चारण में असमर्थ हो जाए और अपने ही शब्दों का आधा भी उच्चारण न कर सके। पति जिसे 'प्रद्युम्न' बोलता हो उसे पत्नी 'पउम' ही बोल पाये और पुत्र को 'प्रद्युम्न' बोलना सीखने के लिए कश्मीर में जाकर सत्रह वर्ष तपस्या करनी पड़े तो निस्संदेह कहना होगा :—'हेतुस्तत्र भवेत्कोपि।'

हमें तो स्पष्टतः दो जातियों का संगम ही हेतु प्रतीत होता है। आर्य पुत्र अपने सगोत्र उदीच्यों से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उदीच्य में जाकर तपस्या करता था; अपने जन्मजात संस्कारों से मुक्त होता था; यों दूसरा जन्म धारण करता था; संस्कारोत्तर आर्य भाषा सीखता था जो संस्कृत भाषा (संस्कृत जनों की भाषा) के नाम से आर्यों के नये उपनिवेशों में प्रसिद्ध थी; पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए पुनः द्रविड़ पत्नियों का उद्वहन करता था (उठा लाता था) और गुरु ऋण से मुक्त होने के लिए अपने 'जन्मनाशूद्र' पुत्रों को उदीच्य प्रदेश में उपनीत करता था।

यह क्रम कई शताब्दियों तक चलता रहा होगा। इस बीच संस्कृतभाषी जनों की संख्या बढ़ने पर कुछ विद्वान् प्राच्यादि प्रदेशों में भी नगरों से सुदूर आश्रमों में रह कर आर्यपुत्रों को संस्कृत करने लगे होंगे। संस्कृतज्ञों की यों बढ़ती हुई संख्या, समाज में उनके प्रतिष्ठित स्थान और उनके साथ सतत सम्पर्क के फलस्वरूप 'पउम' भाषी जन समुदाय भी क्रमशः पदुमन 7 प्रदुमन 7 प्रद्युमन 7 प्रद्युम्न आदि सीखता रहा होगा। प्रा त प्राकृतों, अपभ्रंशों और आधुनिक भाषाओं का सम्यक् निरीक्षण करें तो हम इसी प्रवृत्ति को पायेंगे।

आज तक भाषाविद् जिस विकास क्रम की घोषणा करते रहे हैं वह विकास क्रम यदि ठीक होता तो प्रद्युम्न और पउम के बीच की शृंखलाओं का क्रम प्राप्त क्रम से सर्वथा विपरीत होता । यों हमें नाटकों की परम्परा को साक्ष्य मान कर यह स्वीकार करना ही होगा कि एक समय संस्कृत (आर्य) और प्राकृत (द्रविड़) भाषाएँ एक ही परिवार में एक साथ प्रयुक्त होती थीं । अभ्यागत आर्य बहुत समय तक उदीच्य में जाकर अपनी भाषा सीखता रहा और उसके शब्द प्राकृत भाषियों पर थोपता रहा पर भाषा सीखने का यह कठोर क्रम कब तक चलता । मूल स्थान—उदीच्य अर्थात् कश्मीर, सीमान्त प्रदेश, गांधार, आश्वकायन, उशीनर—ही जब विदेशी आक्रान्ताओं से पद दलित हो गये और तक्षशिला आदि के विद्याकेन्द्र ही नष्ट हो गये तो संस्कृत जीवित भाषा के रूप में कहां रहती ? पर इस स्थिति के आने तक संस्कृत देव वाणी के गौरव को प्राप्त कर चुकी थी अतः उसकी शब्दावली के अधिकाधिक ग्रहण और शुद्ध उच्चारण के यत्न का क्रम चलता और द्रुततर होता रहा । यह गत तीन सहस्र वर्षों के भाषा विकास से स्पष्ट है ।

यों हमें उदीच्येतर उत्तर भारत की भाषाओं के विकास क्रम को नये सिरे से समझना होगा । अब तक विकास क्रम संस्कृत से विकृत की ओर बताया जाता रहा है । अब हमें प्राकृत से संस्कृत की ओर मानना पड़ेगा । विक्रम से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व प्राच्य प्रदेश में सर्व प्रथम आर्य-द्रविड़ समागम हुआ होगा । प्राच्य प्रदेश जब आर्यों का उपनिवेश बन गया और आर्य उपनिवेशवाद क्रमशः अन्यान्य द्रविड़ प्रदेशों में भी बढ़ता गया तो आर्य शब्दावली का बहुत बड़ा अंश प्राकृतों में प्रविष्ट हुआ । पर इस क्रम में उस शब्दावली का उच्चारण द्रविड़ मुख सुख के अनुरूप ही हो पाया । शनैः शनैः संपर्क वृद्धि और विजेताओं के अनुकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्राकृतों में देशी तत्त्व क्षीण होता गया और संस्कृत तत्त्व यथासंभव तत्सम, पर अधिकतर तद्भव, रूपों में ही वृद्धिगत होता रहा । इस क्रम में संस्कृत मुहावरों, वाक्य विन्यासों आदि का भी कुछ प्रवेश होता रहा पर उसकी मात्रा कम रही । 'प्राच्य प्रदेश' की 'प्रधान प्राकृत' में संस्कृत शब्दावली का प्रवेश तो बहुत अधिक हुआ—तत्सम रूप में भी और तद्भव रूप में भी—पर उसके वाक्य विन्यास को क्षति कम पहुँची क्योंकि उसे भी संस्कृत के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त रहा । अन्य प्रान्तों की भाषाओं पर आर्य भाषा के वाक्य विन्यास का भी प्रभाव पड़ा पर फिर भी मूल प्राकृत वाक्यों के अधिकांश लक्षण बने रहे ।

चार सहस्र वर्ष पूर्व की प्राकृत के विकास को हम चार कालों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. एक सहस्र विक्रम पूर्व तक का प्रथम काल जब भाषा में देशी तत्त्व की बहुलता थी और तद्भव तत्त्व कुछ मात्रा में प्रविष्ट हो गया था ।

२. एक सहस्र विक्रम पूर्व से विक्रमाब्दारंभ तक का द्वितीय काल जब भाषा में देशी तत्त्व कम हुआ और तद्भव तत्त्व बढ़ा और यत्र-तत्र तत्सम तत्त्व का

भी प्रवेश हुआ । इस काल में वाक्य रूप में भी संस्कृत प्रभाव का प्रवेश हुआ। इस काल की कुछ साहित्यिक सामग्री भी मिलती है पर वह सामान्य जन व्यवहार की भाषा के वास्तविक नमूने प्रस्तुत नहीं करती । वह उन विद्वानों की भाषा है जो अपनी भाषा को आर्य भाषा के तुल्य पद दिलाने को उत्सुक थे और जो प्रथम काल में बनाये गये व्याकरणों के लक्षणों के सहारे साहित्यिक संस्कृत को प्राकृत रूप में अनुवादित करते थे—परंपरा निर्वाह मात्र के लिए । वे स्वयं संस्कृत में सोचते थे और प्राचीन व्याकरणों की सहायता से अनुवादित कर देते थे क्योंकि कुछ प्रसंगों में प्राकृतों के प्रयोग की ही परंपरा चल पड़ी थी । इस काल की एक साहित्यिक भाषा को 'पालि' नाम दिया गया है जिस पर आगे विचार करेंगे ।

३. विक्रमारंभ से एक सहस्र विक्रमी तक का तृतीय काल जिसमें क्रमशः देशी तत्त्व क्षीणतर हुआ, तद्भव तत्त्व बहुत बढ़ा, और तत्सम तत्त्व का भी यथेष्ट प्रवेश हुआ । इस काल का तथाकथित प्राकृत अपभ्रंश साहित्य प्रभूत परिमाण में प्राप्त तो है पर उसे तत्कालीन वाग्व्यवहार की भाषा का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता । वह तो परंपरा निर्वाह के लिए निर्मित साहित्य है । दैनंदिन प्रयोग की भाषा का अनुमान उस साहित्य से बहुत कम लगाया जा सकता है । वास्तव में समसामयिक बोलचाल की भाषा में रचना करना भारतीय काव्यकार को बहुत ही कम प्रिय रहा है ।

४. गत एक सहस्र वर्षों का काल आधुनिक प्राकृत काल कहा जा सकता है जिसमें स्पष्टतः देशी शब्दों की संख्या घटी; तद्भव शब्दों की संख्या स्थिर रही; तत्सम शब्दों की संख्या बढ़ी पर इन तत्त्वों के साथ एक और तत्त्व प्रविष्ट हुआ विदेशी शब्दों का ।

यह सांस्कृतिक अभिभव का दूसरा काल था । अतः विदेशी शब्दों के ग्रहण में गौरव समझा जाता रहा । बोलचाल में यह तत्त्व अपने तद्भव रूप में जितना प्रविष्ट हुआ उतना साहित्य में नहीं हुआ क्योंकि उस युग में अधिकतर साहित्यकारों के लिए यह प्रयोग प्रासंगिक न था । पर फिर भी तुलसी तक में 'गरीब निवाजू' जैसे प्रयोग दृष्टिगोचर हुए । उधर दरबारी कवि वर्ग में विदेशी तत्त्व के ग्रहण की कुछ प्रवृत्ति आई—पांडित्य प्रदर्शन के लिए । प्रस्तुत ग्रन्थ रतन रासो का रचयिता कुंभकर्ण इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा उदाहरण है । उधर एक पूरी काव्य शैली ही तैयार होगई जिसे उर्दू कहा जाता है और जिसमें विदेशीपन की गंध भाव धारा, वस्तु विन्यास, काव्य मीमांसा, छंदोविधान, शब्द वैभव सभी में स्पष्ट है ।

यह प्राकृत भाषाओं के विगत तीन सहस्र वर्षों का क्रमिक इतिहास है ।

विविध प्राकृतों के विषय में विद्वानों में बहुत चर्चाएं हो चुकी हैं। उनके अच्छे अच्छे व्याकरण उपलब्ध हैं, उनका वर्ण, शब्द और वाक्य मूलक विश्लेषण होता रहा है और उनका संबंध विविध प्रदेशों के साथ जोड़ा जाता रहा है यथा—मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि और उनके नाटकादि में यथास्थान प्रयोग के नियम बने हुए हैं। अतः उनके विषय में विस्तार से यहाँ लिखना अनावश्यक या पुनुरुक्तिमात्र होगा। अधिक से अधिक इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जो साहित्यिक सामग्री उपलब्ध है वह अपने निर्माण काल की वास्तविक दैनंदिन प्रयोग की भाषा की प्रतिनिधि नहीं है। भारतीय साहित्यकार समसामयिक भाषा को साहित्य में प्रयुक्त करते हुए सदा हिचकिचाता रहा है और व्याकरणों के सहारे सीखी हुई भाषा का ही प्रयोग उसे रुचिकर प्रतीत हुआ है। बोलचाल की भाषा के गीत आदि अलिखित रहने के कारण परिवर्तित होते रहे हैं। फिर भी प्राकृतों की उपलब्ध सामग्री इस बात का संकेत तो देती ही है कि प्राकृतों के प्रादेशिक भेद थे और उन भेदों के कुछ कारण भी रहे होंगे।।

यहाँ तीन भाषाओं के विषय में कुछ उल्लेख करना आवश्यक है। एक है पालि, दूसरी पैशाची प्राकृत और तीसरी प्राच्य या प्रधान प्राकृत जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है। 'पालि' के विषय में चर्चा इसलिए आवश्यक है कि यह एक नया नाम है, पाश्चात्य विद्वानों का दिया हुआ। दूसरे, प्राकृत व्याकरणों में इसके लक्षणों आदि के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं। तीसरे, परंपरा से पालि का साहित्य मागधी साहित्य के नाम से अभिहित होता रहा है। परंतु प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी के जो लक्षण बताए उनसे पालि का मेल नहीं बैठता। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार पालि मध्यदेशीय प्राकृत है जिसमें शौरसेनी के लक्षण प्रचुर मात्रा में हैं। अस्तु, पालि और वैयाकरणोक्त मागधी के स्वरूप भेद को ध्यान में रख कर ही विद्वानों ने बुद्ध वचनों के संग्रह की भाषा को 'पालि' नाम से अभिहित किया था क्योंकि उनको ऐसा लगा था कि 'पालि' शब्द का अनेक स्थानों पर प्रयोग भाषा भेद सूचक हो सकता है। ऐसे कुछ प्रयोग निम्नलिखित हैं:—

(१) इमानि ताव पालियं अट्ठकथायं पन।
(२) पालिमुत्तकेन पन अट्ठकथानयेन।
(३) नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति।
(४) इमाय पन पालिया सुमेधपंडितेन अस्समपण्ण साल चंकमा सहत्था विय वुत्त मापिता।
(५) अनेकेसु साट्ठकथेसु पालिपदेसेसु।
(६) इमिस्सा पालिया अत्थं वदन्तेहि।
(७) पालि एव पमाणं।

इन सभी प्रयोगों में हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि पालि का प्रयोग 'देशी' या 'देश संबद्ध' के अर्थ में हुआ है। हम बता चुके हैं कि प्राकृतों में द्रविड़ मूल के शब्द देशी कहलाते थे और संस्कृतजन्मा शब्द तत्सम और तद्भव कहलाते थे। पालि शब्द का प्रयोग भी ऊपर के उद्धरणों में 'देशी' के अर्थ में ही प्रतीत होता है। तमिल आदि द्रविड़ भाषाओं

में पालै शब्द का एक अर्थ देश भेद है और उसी से बना पालि शब्द 'देशी' का पर्याय होगा। संभवतः भाषाओं के देशीय तत्त्व का निर्देश करने के लिए 'पालि' और 'देशी' दोनों ही शब्दों का प्रयोग किसी समय होता था। पर वैयाकरण मूलतः संस्कृतज्ञ थे अतः उन्होंने 'पालि' के स्थान पर 'देशी' शब्द को ही प्राथमिकता दी। यों 'पालि' शब्द द्रविड़ मूलक है पर आज उसका प्रयोग उस कृत्रिम भाषा के लिए हो रहा है जिसमें संस्कृतज्ञ बौद्धों ने रचना की थी और बुद्ध वचनों के देशी भाषा में रहे होने की परंपरा को ध्यान में रख कर उन्होंने अपनी संस्कृत में सोची हुई वाक्यावली को ही कुछ नियमों के अनुसार देशी रूप दे दिया था। बौद्धों में संस्कृत के स्वच्छंद प्रयोग की परंपरा तो बहुत बाद तक रही थी पर उसका आरंभिक रूप 'पालि' में ही द्रष्टव्य है जो मूलतः संस्कृत में सोची हुई बात को व्याकरणों की सहायता से बुद्ध वचनों की भाषा में परिणत करने का यत्न था। अस्तु, पालि एक कृत्रिम भाषा थी जो वस्तुतः किसी प्रदेश की बोलचाल की भाषा न थी। हां, उसका यह नामकरण यूरोपीय विद्वानों का है।

पैशाची प्राकृत—स्टेन कोनो ने इसको उज्जैन के आसपास की भाषा बताया था और हमारी भी धारणा है कि उसी का मत ठीक है। पिशेल, ग्रियर्सन आदि ने उसे सीमान्त प्रदेश—पिशाच प्रदेश—की भाषा माना है जो ठीक नहीं। पैशाची की एक मात्र बताई जाने वाली रचना बड्ढकहा थी। कथासरित्सागर आदि में सुरक्षित उसकी कथा से यही पता चलता है कि वह अश्मक प्रदेश की भाषा होनी चाहिए जिसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर थी। पैशाची का पिशाचों से कोई संबंध नहीं। वास्तव में संस्कृत के तद्भव रूपों को पुनः संस्कृत करते समय उनसे मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग कर लिया जाता था। उदयिनी का प्राकृत रूप उजेणी जब पुनः संस्कारित हुआ तो 'उज्जयिनी' के रूप में प्रकट हुआ। उसी प्रकार लाल पत्थर के प्रदेश पिशाश्मक की भाषा पिशाश्मकी रही होगी और उसी का प्राकृत रूप पिशाच्ची रहा होगा जिसका कथासरित्सागर आदि में पुनः संस्करण हुआ तो पैशाची बन गया। 'अश्मक' प्रदेश का सीधा अर्थ है पथरीला प्रदेश और लाल पत्थर का प्रदेश पिशाश्मक कहलाता होगा।

प्राच्य प्राकृत[1]—अन्त में हम प्राच्य प्राकृत या प्रधान प्राकृत का उल्लेख करेंगे जो एक समय अन्तःप्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी और जिसे विजेता आर्यजनों ने भी अनेक प्रसंगों में प्रयुक्त करना नियम बना दिया था। क्या तीर्थाटन करने वाले साधु संन्यासी, क्या दिग्विजेता सैनिकजन और क्या सार्थबद्ध और श्रेणीबद्ध व्यापारी सभी लोग अंतःप्रान्तीय व्यवहार की भाषा के रूप में इसी प्राकृत का प्रयोग करते थे। हां, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृत उसे पदभ्रष्ट करती जा रही थी। उसी प्राकृत के विकसित रूप

---

१. नाट्यशास्त्र में सात प्राकृतों में प्राच्य प्राकृत का उल्लेख है। उसे विदूषकों की भाषा बताया गया है। यह उल्लेख बहुत बाद का है जब प्राकृतें देश भेद पर आश्रित न होकर पात्र भेद पर आश्रित करदी गई थी। ना० शा० अ० १८।

गत तीन सहस्र वर्षों में देश के बहुत बड़े भाग में ग्रंतः प्रादेशिक व्यवहार में प्रयुक्त होते रहे हैं । उसी प्राकृत की कल्पना करके महापंडित राहुल सांकृत्यायन और श्री किशोरीदास बाजपेयी ने कौरवी प्राकृत का ग्रभिधान चलाया था । उसी को हम 'प्राच्य प्राकृत' कहना ग्रधिक उपयुक्त समझते हैं ।

इस प्राकृत पर विचार करने से पूर्व यदि हम 'प्राच्य' शब्द पर विचार करलें तो उचित होगा । इतिहासकार बहुत समय तक मगध ग्रादि के पूर्वी भारतीय प्रदेश को प्राच्य मानते रहे हैं और देश के मूर्धन्य भाषाविदों ने भी इसी का समर्थन किया है । परन्तु पाणिनि ग्रादि प्राचीन वैयाकरणों और ग्रमर ग्रादि कोशकारों ने इस बात की पुष्टि नहीं की है । सर्व प्रथम डा० वासुदेव शरण ग्रग्रवाल[1] ने इस ग्रोर ध्यान ग्राकृष्ट कराया था । और उसके बाद बंधुवर पं० रामदत्त सांकृत्य ने 'मोगोस्थनेस का पालिबोथ्र-पारिभद्र' लिख कर 'प्राच्य' विषयक भ्रम का निवारण तो किया ही साथ ही भारतीय इतिहास के बहुत बड़े भ्रम—'मेगस्थने की पाटलीपुत्र में नियुक्ति'—का भी निवारण कर दिया ।

ग्रमरकोश में प्राच्य और उदीच्य का सीमा विभाजन यों बताया है:—

लोकोयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः
देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः ।

शरावती से दक्षिण पूर्व का भाग प्राच्य और उत्तर पश्चिम का उदीच्य है । शरावती ही संस्कृत और प्राकृत की सीमाग्रों का विभाजन करती थी । नागेश ने इसी भाव को द्योतित करने वाला एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है:—

प्रागुदंची विभजते हंसः क्षीरोदके यथा ।
विदुषां शब्द सिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती ।।

श्लोककार ने संभवतः संस्कृत को क्षीर और प्राकृत को नीर बताया है । श्लोक के तीसरे चरण से स्पष्ट है कि श्लोककार का उद्देश्य केवल मात्र भौगोलिक भेद का प्रतिपादन नहीं; भाषात्मक भेद का प्रतिपादन भी है ।

वास्तव में प्राच्य की प्रादेशिक सीमाग्रों के विषय में भ्रम यों फैला था कि वर्तमान उत्तर प्रदेश के भूखंड को ब्रह्मावर्त, मध्यदेश, ग्रंतर्वेद ग्रादि न जाने क्या-क्या मानकर उसका उल्लेख किया जाने लगा । जब यह मध्य देश हुग्रा तो प्राच्य पूर्व में होना चाहिए । यों उत्तर प्रदेश से पश्चिमोत्तर के एक बड़े भूखंड को उदीच्य और पूर्व के एक बड़े भूखंड को प्राच्य मान लिया गया और दोनों के बीच का भाग तो मध्य देश हो ही गया । इस भ्रम की पुष्टि उन लोगों ने कर दी जिन्होंने मेगस्थने के 'इंडिका' से यह सार निकाला कि मेगस्थने मगध नरेश चंद्रगुप्त की राजधानी पाटलीपुत्र में राजदूत रहा था और पाटलीपुत्र प्राच्य का एक महानगर था ।

---

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष ।

मध्यदेश तो सीधा साधा मध्य रेखा (लंकोदय रेखा) पर स्थित प्राच्य का ही एक अंग था और उसकी व्युत्पत्ति वैसी ही है जैसी हम मध्यपुर, माध्यमिका आदि की पहले बता चुके हैं। एक माध्यमिका प्राच्य के इसी मध्य देश में थी जो रोहतक-हिसार के बीच आज भी 'महम' नाम से विद्यमान है। उसके पास ही विहाणी (सूर्योदय का नगर), दिनोद (दिनोदय का नगर) आदि कस्बे भी हैं। इसी मध्यदेश में काशिका वृत्ति के अनुसार भद्रकार जनपद था जो साल्वावयवों का एक जनपद था। भद्रकार जनपद वर्तमान रोहतक, अग्रोहा आदि स्थानों से बहुत दूर नहीं होना चाहिए। महाभारत, वन पर्व, अध्याय २५५ श्लोक २० में कर्ण की दिग्विजय यात्रा के प्रसंग में लिखा है :—

भद्रान् च रोहितान् चैव, आग्रेयान् मालवानपि ।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ।

अस्तु, यह मध्य देश और भद्रकार जनपद प्राच्य के ही भाग थे और प्राच्य में आने वाला मेगस्थने मगध वाले प्राच्य में आया था या भद्रकारों वाले प्राच्य में यह तो उसी के वक्तव्यों से समझिए। उसके कुछ वक्तव्य नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं (मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन—अनुवादक पं० रामचन्द्र शुक्ल से उद्धृत।)

१. 'प्रेसिआई' (प्राच्य) शक्ति में बढ़े हैं............उनकी राजधानी पलिबोथ्र है। यह नगर बहुत बड़ा और धनी नगर है। इस नगर के कारण अनेक लोग इस नगर के निवासियों को पलिबोथ्री कहते हैं।

२. जोमनेस (यमुना) नदी पलिबोथ्र में से बहती हुई मेथोरा और क्लिस बोरा के मध्य गंगा में मिलती है।

३. एक पथ है (यूनान की ओर से आने वाला) जो पलिबोथ्र में से होकर भारत को जाता है।

४. पलिबोथ्र का संड्रोकोटस 'प्रजापालित शासन प्रणाली का समर्थक था, उसने सिकन्दर के आक्रमण तक किसी दूसरे राजा पर चढ़ाई तक न की थी।

५. पलिबोथ्र के चारों ओर काठ की दीवार थी।

६. इंडस प्रेसिआई (प्राच्य) की सीमाओं को घेरे हुए है।

अब विचार कीजिए जरा कि पाटलीपुत्र के निवासी मागध कहलाते थे या पाटलीपुत्री कहलाते थे? वहाँ का सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रजापालित शासन प्रणाली (गणतन्त्र) का समर्थक था या घोर राजतंत्र का? यमुना नदी किस युग में पाटलीपुत्र के बीच से बही थी और मथुरा होती हुई गंगा में जा मिली थी? क्या सिकन्दर के समय संड्रोकोटस पाटलीपुत्र का राजा था? और फिर भी तब तक किसी पर चढ़ाई न की थी? वह कौनसा भारतवर्ष था जहां लोग पाटलीपुत्र के मार्ग से आते थे। पाटलीपुत्र के चारों ओर लकड़ी की दीवार कब तक रही और फिर कब टूट गई? इंडस मगध की सीमा पर कब बहती थी?

बंधुवर रामदत्त जी सांकृत्य ने बहुत पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया है कि पलिबोथ्र प्राच्य प्रदेश का पारिभद्र जनपद था जहां के नागरिक भद्रक या पारिभद्रक कहलाते थे और जिसकी राजधानी भद्रा थी। महाभारत के भीष्म पर्व के अध्याय १०, श्लोक २१ के अनुसार इस पारिभद्र के मध्य से यमुना बहती थी और इसके साथ ही सिंधु पुलिंदक देश था। धृष्टद्युम्न पारिभद्रों का नेता था। यमुना का प्रवाह शनैः शनैः पूर्व की ओर होता गया है और आज वह भद्रा से काफी पूर्व में पड़ता है यद्यपि महमूद गजनवी के समय इतना पूर्व में न था। भारत उस समय यमुना से पूर्व के प्रदेश को ही कहते थे और पश्चिम का प्रदेश सिन्धु कहलाता था और उसकी एक सीमा सिन्धु नदी थी। यही प्रदेश इंडिका कहा गया है। पश्चिम से आने वाला एक पथ भद्रा होता हुआ भारत में जाता था। भद्रा ही नहीं उसके आसपास के सैकड़ों गांवों के किलों के चारों ओर आज भी लकड़ी की दीवार (बाड़) होती है जिसे धूलकोट कहते हैं। सांकृत्य जी की पूरी स्थापनाओं का सार तो यहां दे पाना कठिन है। वह तो उन्हीं की पुस्तिका में द्रष्टव्य है पर इतना कह देना अनुचित न होगा कि प्राच्य को मगध से जा मिलाना घोर भ्रांति है। वह तो शरावती (रावी) के दक्षिण का भाग है जिसमें हरियाणा, राजस्थान का उत्तरी भाग, और सिंधु तक पहुँचता हुआ प्रदेश है। सरस्वती घाटी और सिंधुघाटी की सभ्यता इसी प्रदेश में सर्वाधिक फैली थी। वेदों की भाषा से आक्रांत हुआ इसी प्रदेश का एक नागर वर्ग अपनी भाषा को सुरक्षित रखने के लिए सुदूर दक्षिण में मलयाचल के दुर्गम दुर्ग पर जाकर आसन जमा बैठा था। आश्चर्य है कि बाद में जब 'को वेदानुद्धरिष्यति' का आह्वान हुआ तो उसी मलय उपत्यका के एक नागरिक ने वेदों की भी रक्षा का बीड़ा उठाया था। संस्कृति के प्राचीन तत्त्वों की रक्षा करने की क्षमता द्रविड–कर्णाटक–केरल की जनता में आज भी प्रभूत मात्रा में है।

प्राच्य प्रदेश के इस प्रत्यभिज्ञान के पश्चात् मूल प्राच्य प्राकृत के विषय में चर्चा करना उपयोगी होगा। निस्संदेह उस प्राकृत में अभिलिखित कोई सामग्री आज सुरक्षित नहीं है, परन्तु फिर भी आर्यों की संस्कृत भाषा से ही नहीं अपितु अन्य अनेक विदेशी संस्कृतियों और भाषाओं से आक्रान्त रहने पर भी प्राच्य की भाषा के ढांचे में आज भी जितना द्रविड तत्त्व विद्यमान है वह इस बात को प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट है कि उसका संबंध द्रविड़ प्राकृतों से है और आज की खड़ी बोली न तो अंग्रेजों की कृपा से गौरव पद को प्राप्त हुई थी और न मुसलमान आक्रांताओं की कृपा से। उसे तो सिन्धु सभ्यता के काल में भी गौरव पद प्राप्त था और जो भी विदेशी आक्रान्ता—आर्य, हूण, पठान, तुर्क, अंग्रेज—आते रहे, इसी भाषा को प्रतिष्ठित पाकर इसे सार्वदेशिक भाषा के रूप में अपनाते रहे। अब हम प्राच्य की वर्तमान प्रमुख भाषा खड़ी बोली और दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं के स्वरूपों की तुलना करेंगे और बतायेंगे कि उनमें कितना अधिक साम्य है और उन्हें एक ही परिवार की भाषाएं मानना कितना संगत है।

आर्य सभ्यता का प्रथम आक्रमण द्रविड सभ्यता के प्राच्य प्रदेश पर ही हुआ था। सब से अधिक संख्या में आर्य जन इसी प्रदेश में आये थे और आर्य महिलाएं भी द्रविड

प्रदेश में यदि कुछ सीमा तक आई थीं तो प्राच्य तक ही। अतः यह स्वाभाविक था कि संस्कृत के शब्द अपने विविध रूपों के साथ बहुत बड़ी संख्या में इस प्रदेश की प्राकृत में प्रविष्ट होते। परन्तु द्रविडों और आर्यों के वर्ण समाम्नाय में बहुत अधिक अन्तर था अतः यह आवश्यक था कि इन तथाकथित संस्कृत शब्दों का द्रविड परिवार में प्रवेश होने से पूर्व द्रविड संस्कार होता। यह हुआ भी। तत्सम और तद्भव के ध्वनि भेद का निरूपण करते समय द्रविड ध्वनि समुदाय से भी उसकी तुलना कर चुके हैं। निस्संदेह संस्कृत शब्दों का प्रवेश बहुत बड़ी मात्रा में हुआ है और द्रविड शब्दावली का विनाश भी बहुत बड़ी संख्या में हुआ है। पर आज भी द्रविड़ शब्दावली की संख्या कम नहीं है और तत्सम शब्दों को भी प्रविष्ट होने से पूर्व अपना स्वरूप बहुत कुछ बदल देना पड़ा है। आज की खड़ी बोली का भाषात्मक अध्ययन करके हम उसके द्रविड़ स्वरूप की प्रत्यक्ष पहचान कर सकते हैं।

**वर्ण-समाम्नायः**--आज की लिखित साहित्यिक खड़ी बोली में तो संस्कृत के सभी शब्द तत्सम रूप में गृहीत होते हैं और हम सभी उनके शुद्ध उच्चारण का दंभ भी करते ही हैं पर यह मानना ही पड़ेगा कि तत्सम संपदा हिन्दी की अपनी नहीं, उधार ली हुई संपदा है। विद्यालयों में प्राप्त शिक्षा के बल पर ही हम इन शब्दों को सीखते और बोलते हैं। हां, संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों की भी भाषा होने के कारण जन- साधारण तक भी पर्याप्त तत्सम शब्दावली पहुँची पर उनका उच्चारण वहीं तक संभव हुआ जहां तक वे तद्भव ध्वनियों के निकट थीं। यदि तत्सम शब्दों के सही उच्चारण की क्षमता पूरे समाज में रही होती तो तद्भव रूप का जन्म ही न हुआ होता। जान बूझ कर भ्रष्ट रूप में कोई नहीं बोलता। और यदि तत्सम ध्वनियां प्राच्य समाज की भाषा की निजी ध्वनियां रही होतीं तो उनके दुरुक्त होने का और विकृत होने का प्रश्न ही न उठा होता।

**स्वर**--हम प्राकृतों के प्रसंग में पहले बता चुके हैं कि कौन सी संस्कृत ध्वनियां प्राकृतों में लुप्त और परिवर्त्तित हुई। लगभग वही स्थिति खड़ी बोली की तद्भव संपदा की है।

**अ**--संस्कृत शब्दों में यह स्वर पदांत में संवृत रूप में उच्चरित होता था पर द्रविड मुख से उसका उच्चारण विवृत ही हो सकता है। अतः स्वाभाविक था कि उसका उच्चारण विवृत हो जाता। संस्कृत के अकारान्त शब्दों के 'आ' कारान्त हो जाने का यही कारण है। बड़ा (वट), घड़ा (घट), गोला (गोल), गुच्छा (गुच्छ), फोड़ा (स्फोट), बाजा (वाद्य), पत्ता (पत्र) आदि। भाषाविदों ने संस्कृत अकारान्तों में स्वार्थे 'क' जोड़ कर 'आ' को व्युत्पन्न करने का निरर्थक प्रयत्न किया है।

इस बीच, 'अ' के संवृत उच्चारण के समर्थकों ने विवृत उच्चारण. करने वालों का परिहास किया होगा और संवृत उच्चारण पर जोर दिया होगा। इसी शुद्धि के प्रयत्न में हजारों शब्दों में वह बेचारा लुप्त हो गया। आज हम जिसे अकारान्त लिखते और बोलने का दावा करते हैं उसमें 'अ' लुप्त माना जा सकता है और उस शब्द विशेष को हलन्त

कहा जा सकता है । पाठक, बालक, पाठ, गोठ, घाट आदि में अंतिम 'अ-कार' आज अपना स्वरूप खो बैठा है । यह संवृत उच्चारण के यत्न का फल है । चौबेजी दूबे रह गये हैं । कहते हैं 'कौवा चला हंस की चाल अपनी भी भूल गया ।' संस्कृत 'घट' का उच्चारण प्राच्यों ने 'घड़ा' कर लिया, यही बहुत था । वे तो कड़ा भी कर सकते थे और उनके पड़ौसी तो आज भी क्हड़ा (पजाबी) करते ही हैं । द्रविड़ मुख से स्वाभाविक उच्चारण कड़ा ही होता है । आज भी दाक्षिणात्य संस्कृत उच्चारण में आप यह देख सकते हैं । पर जिन्होंने 'घट' के शुद्ध उच्चारण पर जोर दिया उन्होंने उसे 'घट्' कर दिया ।

यों आदि-मध्य में तो 'अ' का संवृत रूप सुरक्षित है (जो द्रविड सुविधा के अनुकूल है) पर पदान्त का 'अ' या तो विवृत होकर 'आ' हो गया या लुप्त हो गया । संस्कृत का 'आ' संयुक्त ध्वनियों के पूर्व भी प्रायः 'आ' हुआ है जहां संयुक्त में से एक ध्वनि लुप्त हुई है । जैसे सप्त 7 सात ।

**आ**--संस्कृत में 'आ' टाप् आदि प्रत्ययों में स्त्रीलिंग का द्योतक था.। हिन्दी में जब पुंलिंग 'अ' कारान्त आकारान्त हो गए तो स्त्रीलिंग का सूचक 'आ' 'ई' के रूप में रह गया । 'ई' संस्कृत में ङीप् आदि में स्त्रीलिंग सूचक प्रत्यय था भी । स्त्रीलिंग 'आ' के 'ई' होने की घटना केवल खड़ी बोली की नहीं; अन्य द्राविड़ी भाषाओं की भी है । तमिल में यह 'आ' 'ऐ' में परिणत होता है और यह पहले बताया जा चुका है कि यह 'ऐ' तमिल में 'आइ' या 'आई' जैसी ही उच्चरित होती है । 'जटा' के 'चटाई' होने की कहानी हम पहले बता चुके हैं । हिन्दी में प्रायः मध्य के 'अ' 'आ' लुप्त हो गए हैं और अकेला 'ई' ही रह गया है ।

इ, उ--पदान्त में 'इ', 'उ' की दो स्थितियां हुई हैं : एक लोप की और दूसरी दीर्घीकरण की । ये दोनों परस्पर विरोधी स्थितियां हैं पर फिर भी एक ही भाषा में एक साथ मिलती हैं । इसका भी कारण पठित और अपठित, आर्य और द्रविड़ का झगड़ा है । हम बता चुके हैं कि द्रविड़ भाषाओं में एक प्रवृत्ति हलन्त को अजंत बनाने की थी । फलतः संस्कृत हलंतों को इ या उ से समन्वित कर दिया जाता था । इसे जब पंडितों ने दोषपूर्ण बताया तो फल यह हुआ कि इस दोष के निवारण के प्रयत्न में लोगों ने 'इ', 'उ' का वहां भी लोप कर दिया जहां वह अभीष्ट था ।[1] पंडितों को फिर चिन्ता हुई तो उन्होंने स्पष्टता के लिए इ-उ के उच्चारण पर जोर देना आरंभ किया । फल यह हुआ कि वे दीर्घ हो गये । यों दोनों प्रवृत्तियां आई--लोप की भी और दीर्घीकरण की भी । आई (ऐ) के स्थान पर भी 'ई' होता रहा है । जैसे 'चढ़ाई', परन्तु 'घुड़चढ़ी' ।

---

१. प्रसंगवश हम यहां अपने बचपन के एक जोधपुरी साथी का उल्लेख करेंगे जिसे गुरुजी ने सिखाया 'सच' कहो 'हच' नहीं, 'सब' कहो 'हब' नहीं । उसने 'स' का उच्चारण सीखा तो सही पर उस दिन हम सब को हंसी आई जब उसने 'हम' का उच्चारण 'सम' किया ।

**ऋ, लृ**—लृ के विषय में तो संस्कृत में ही झगड़ा चल गया था—'लृकारोपदेशः किमर्थः ।'[1] अतः हिन्दी में वह कहां से रहता । 'ऋ' या तो रि के रूप में बचा; यथाः रितु; या 'रु' के रूप में; यथाः रूख (वृक्ष) । तमिल आदि दक्षिणी भाषाओं में उसका 'रु' होता है। यथा इरुचि (तमिल), रुषि (तेलुगु) आदि ।

**ए, ओ**—संस्कृत में इनके ह्रस्व रूप नहीं थे । द्रविड़ परिवार की सभी भाषाओं में इनके ह्रस्व रूप पाये जाते हैं और तदनुरूप हिंदी में भी । हां, वर्तनी में उनका स्थान नहीं है । अतः या तो उन्हें इ—उ के रूप में लिखा जाता है या दीर्घ ए—ओ के रूप में । लोहार-लुहार, इक्का—एक्का जैसे हजारों शब्द हिंदी में हैं और साहित्यिक प्राकृतों और अपभ्रंशों में भी थे; अन्य भारतीय भाषाओं में भी हैं ।

**ऐ, औ**—इनका द्रविड़ उच्चारण आइ, आई और आउ, आऊ जैसा है । वैसा उच्चारण करने पर शुद्धिवादी टोकते थे । शुद्ध उच्चारण के प्रयत्न का परिणाम वही हुआ जो 'अ' के प्रसंग में हुआ था । नये उच्चारण उत्पन्न हो गये जो हिन्दी के **ऐसा, है, और** आदि में द्रष्टव्य हैं ।

**विसर्ग**—द्रविड़ परिवार में नहीं था । 'आयतम्' की कल्पना विसर्ग के अनुकरण पर ही तमिल वैयाकरणों ने की है । दोनों के लक्षण एक-से हैं । पर विभक्ति सूचक विसर्ग तो हिन्दी में आया नहीं क्योंकि द्रविड़ परिवार में विभक्तियां ही नहीं होतीं और मध्यग विसर्ग के तो संस्कृत में भी अनेक रूप थे ही: उपध्मानीय, जिह्वामूलीय आदि जो परवर्त्ती ध्वनि के अनुरूप परिवर्तन हैं । यही स्थिति हिन्दी में भी होती है । दुःख का उच्चारण दुक्ख जैसा; पुनः पुनः का पुनप्पुनह् जैसा ।

**स्पर्श वर्ण**—संस्कृत में संयुक्त व्यंजन ध्वनियों की भरमार है । द्रविड़ भाषाओं में सर्वथा अभाव है । 'य-व' श्रुतियां हैं पर उनको व्यंजन नहीं मानना चाहिये । द्वित्व वर्ण द्रविड़ परिवार की भाषाओं में हैं और तद्वत् हिन्दी में भी । पक्का, सुग्गा, चक्का, पत्ता आदि सहस्रों उदाहरण मिलेंगे ।

स्पर्श वर्णों के विषय में तमिल वैयाकरणों ने नियम बना दिया है कि वर्ण के आदि में और द्वित्व रूप में अघोष अल्पप्राण क च ट त प आदि होंगे और अन्यत्र सघोष अल्पप्राण—ग ज ड द ब आदि । महाप्राण ध्वनियां तमिल में नहीं हैं । हिन्दी में इस नियम का पूरा पालन तो नहीं [पर लक्षण कुछ] मेल अवश्य खाते हैं । संस्कृत में जहां मध्यग ध्वनियां अघोष थीं वहां वे या तो सघोष हो गईं या लुप्त हो गईं तथा केवल स्वर बच गया । स्वर भी सघोष होते हैं । अतः सघोष ध्वनियां ही मध्यग ध्वनियां रह पाई हैं । जाता, आता आदि के 'त' को देख कर इस नियम के अपवाद की कल्पना नहीं करनी चाहिये । क्योंकि तथाकथित पंजाबी भाषी तो आंदा, जांदा कहते ही हैं पर मेरठ दिल्ली

---

१. 'ऋलृक्' सूत्र पर वार्तिक—पतंजलि कृत महाभाष्य ।

के साधारण नागरिक का उच्चारण भी आत्ता, जात्ता आदि होता है। पढ़े-लिखे लोगों के हीं प्रयत्न प्रसूत उच्चारण में यदि द्वित्व का आभास न होता हो तो दूसरी बात है। वैसे तमिल मलयाली लोग तो हमारे 'जाता-आता' के उच्चारण में भी द्वित्व त ही मानते हैं। काग, बड़ा (खाने का), घोड़ा, कीड़ा आदि मध्यग सघोष के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। वैसे लोटा, सोटा, रोटी आदि में मध्यग 'ट' भी है पर संभवतः इनमें पहले द्वित्व उच्चारण रहा होगा। वैसे मध्यग अघोषों के निषेध का यह नियम कुछ लोग तमिल में भी कृत्रिम मानते हैं और अन्य द्रविड़ भाषाओं में तो यह नियम टूट ही चुका है। अतः यदि हिन्दी में भी टूटा, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

**ख, छ, ठ, थ, फ** आदि अघोष अल्पप्राणों का उदय हिन्दी और उसकी पूर्वजा प्राकृत में संस्कृत के सम्पर्क से हुआ। बात यह है कि द्रविड़ भाषाओं में मूलतः कदाचित् ऊष्म ध्वनियां बिलकुल न थीं। तमिल में उनके लिए वर्ण नहीं हैं पर वे यत्र-तत्र उच्चरित होती हैं। लिपि में उनका प्रतिनिधित्व **च** करता है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी रही है। संस्कृत की वस् धातु जब गृहीत हुई तो दो रूपों में हुई वस और बच। इन दोनों का पर्याय द्रविड़ में इरुक् था। वह हिन्दी में रह और **रख** दो रूपों में आज भी विद्यमान है। हिन्दी में जब हम 'कहां है?' का उत्तर देते हैं तो प्रायः कहते हैं **'यह रहा'** या **'यह रखा'**। यही तमिल में होगा इन्द इरुक्क या इदु इरुक। ध्यान रहे तमिल व्याकरण के नियमानुसार र, ल आदि से पूर्व 'इ' स्वर लिखने में जोड़ा जाता है। **'राम'** तमिल में **'इरामन्'** होंगे, **'लक्ष्मण'** **'इलक्कुवनार्'** होंगे। यही इत् संज्ञक इ इरुक्क में भी है। तो तमिल में भी धातु मूलतः 'रक' है जिसके दो उच्चारण हैं रह (एक 'क' लिखा होने पर), और रक्क (दो 'क' लिखने पर)। अस्तु, प्रसंग **'बच-बस'** का था। प्रसंगवश **'रह'** का उल्लेख करना पड़ गया। 'रह' का संस्कृत पर्याय है। **'बस'** उसका निवास के अर्थ में तो **'बस'** ही रहा पर कुछ प्रसंगों में **'बच'** हो गया। जैसे पांच में से दो घटाएँ तो क्या बचा (क्या रहा)? अस्तु, यह विषयान्तर हुआ। मूल प्रसंग था ख छ आदि महाप्राणों का। उसी में प्रसंग आया ऊष्मों का क्योंकि हिन्दी की ये महाप्राण ध्वनियां प्रायः उन शब्दों में उत्पन्न हुई जिनमें कोई ऊष्मवर्ण भी था। जैसे अष्ट > आठ, वत्स > बच्छा, **इक्षु** > ईख, पुस्तिका > पोथी। और जब इस प्रकार ये अघोष महाप्राण प्राच्य भाषा के अंग बन गये तो वे अन्यत्र भी अर्थात् तद्भव रूपों में भी उच्चरित होते रहे। वैसे तमिल का स्पर्श वर्णों से सम्बन्धित नियम अन्य द्राविड़ी भाषाओं में भी नहीं चलता है। हिन्दी ही कोई अकेली अपवाद नहीं है।

यों वर्ण समाम्नाय और ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से हिन्दी में इसी बात के पोषक तत्त्व मिलते हैं कि वह द्रविड़ परिवार की भाषा है। यदि संस्कृत परिवार की भाषा होती तो एक साथ इतनी ध्वनियों का लोप हो जाना संभव न था।

**शब्द रूप**—शब्द रूपों की दृष्टि से भी हिंदी द्रविड़ परिवार की ही भाषा प्रतीत होती है, आर्य परिवार की नहीं। संस्कृत के सुबंत और तिङंत हिंदी में सर्वथा अदृष्ट हैं।

तद्धित और कृदंत भी जितने हैं वे सब केवल उधार लिए हुए तत्सम शब्दों में हैं क्योंकि वे बने–बनाए शब्द गृहीत हुए हैं। तद्धित और कृदन्त वे ही गृहीत हुए जिनके समकक्ष द्रविड रूप थे, अन्य नहीं। संस्कृत के प्रत्यय न तो तद्भव शब्दों में जोड़े जाते हैं और न देशी शब्दों में। जो प्रत्यय हिंदी के अपने हैं, उनका मूल संस्कृत में नहीं ढूंढ़ा जा सकता, अधिकांश को द्रविड़ प्रत्ययों में ढूंढ़ा जा सकता है। सार यह है कि शब्द रूपों की दृष्टि से भी हिंदी द्रविड़ परिवार से मेल खाती है, न कि संस्कृत से। संज्ञा, सर्वनाम आदि सभी शब्द रूपों पर क्रमश: विचार करके इस तथ्य को सिद्ध किया जा सकता है।

**संज्ञा**—ऊपर हम हिंदी में 'सुबन्त' के अभाव का उल्लेख कर चुके हैं। संस्कृत में सुप् अर्थात् विभक्तियाँ हैं; जो संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि प्रातिपादिकों में जुड़ कर विविध अर्थों को उत्पन्न करती हैं। हिंदी में संज्ञादि के ये रूप बहुत कम रह जाते हैं। जो रूप भेद हैं, वे भी प्राय: तीन कारणों से हैं। एक लिंग भेद के कारण, दूसरा वचन भेद के कारण और तीसरा इस आधार पर कि शब्द अकेला है या उसके बाद कोई पर-स्थानिक जुड़े हैं। पहला अर्थात् लिंग भेद मूलक शब्द भेद यहाँ छोड़ा जा सकता है क्योंकि ऐसे भेद वाले शब्दों को प्राय: दो पृथक् शब्द ही माना जाता है यथा लड़का–लड़की। निस्संदेह यहाँ **'आ'** पुम् तत्त्व है और **ई** स्त्री तत्त्व। पर फिर भी इन दोनों शब्दों को ही पृथक् मान लेने की प्रथा है। अब दूसरा भेद है वचन मूलक अर्थात् लड़का (ए०व०) और लड़के (ब०व०) या लड़की (ए० व०) और लड़कियां (ब० व०)। तीसरा भेद पर-स्थानिक मूलक, अर्थात् शब्द के बाद पर-स्थानिक हों तो एक रूप होगा; न होने पर दूसरा। जैसे लड़का-लड़की या लड़के–लड़कियां और लड़कों (ने, का, से आदि), लड़कियों (ने आदि), लड़की (ने आदि), लड़के (ने आदि)। द्रविड़ परिवार की दक्षिणी भाषाओं में भी स्थिति लगभग ऐसी ही है। लिंग सूचक प्रत्यय हैं अन्, अळ्, अदु आदि; वचन सूचक भी हैं और पर-स्थानिक वही काम करते हैं जो हिंदी में। हिंदी पर-स्थानिक जहाँ पूरा अर्थ देने में असमर्थ रहते हैं वहाँ या तो दो पर-स्थानिक मिलाये जाते हैं जैसे **में–से** या **का–की–के** के बाद पूरे शब्द जोड़े जाते हैं। ऐसी ही स्थिति द्रविड़ परिवार की दक्षिणी भाषाओं में भी है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि हिंदी के ये पर-स्थानिक या तो द्रविड़ के ही पर-स्थानिक हैं या उनके संस्कृत पर्याय हैं। **'ने'** पुंलिंग सूचक द्रविड़ प्रत्यय **(अ) न्** का अजन्त रूप है—**इरामन्-राम** ने। उसे, तुम्हें आदि का **ए** द्रविड़ के इरामनै, अवनै आदि के **'ऐ'** का विकार है। **'को'** द्रविड़ का **'कु'** है:—रामनुक्कु–सीतावुक्कु, रामको–सीता को। 'से' संस्कृत 'सह' से व्युत्पन्न है और द्रविड़ 'इन्' का पर्याय है। ज्यूल्स ब्लाक ने लिखा है—

In Tamil are found again these two values of **in** : **Vetikeyin** : 'by desire', **Kallin** : 'by the wine,' **mugat-in** : 'from the face.'

हिंदी का 'से' भी कई अर्थ देता है और हिंदी के वैयाकरण उसे करण और अपादान का चिह्न बताते हैं। 'में' और 'पर' **मध्ये** और **उपरि** के तद्भव रूप हैं और द्रविड़

इल्, **मेल** आदि के पर्याय हैं। **का–की–के** का 'क' कुई आदि में 'क' ही है जो 'कोर्क'=भैंसे का (कोरु=भैंसा) आदि उदाहरणों में द्रष्टव्य है। तमिल 'तन्नाळ्' आदि का 'आळ्' संभवतः किसी समय भ्रम से 'नाल्' समझा गया था और उसी रूप में आज तक पंजाबी में अवशिष्ट है। तइरोडु (तमिल) (=दही के साथ) का 'ओडु' और संस्कृत 'सार्थं' जब संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हों तो पर्याय होते हैं। **सार्थ** का ही तद्भव '**साथ**' पर-स्थानिक '**के**' के बाद उसी प्रकार जुड़ता है जैसे तमिल में 'ओडु'।

यों स्थिति स्पष्ट है। हिंदी का संपूर्ण कारक प्रकरण द्रविड़ परिवार के कारक प्रकरण से मेल खाता है। कहीं द्रविड़ तत्त्व यथावत् विद्यमान है तो कहीं उसका संस्कृत पर्याय तद्भव रूप में विद्यमान है। पर ढांचा स्पष्टतः द्रविड़ है।

वचन संस्कृत में तीन हैं, हिंदी में केवल दो और द्रविड़ भाषाओं में भी दो ही।

लिंग संस्कृत में तीन हैं, हिंदी में दो और द्रविड़ परिवार की स्थिति द्रविड़ भाषा-विद् ज्यूल्स ब्लाक के शब्दों में सुनिए :—

"In Tolkappiyam the oldest grammar of Tamil that we have got, the classification of words begins thus : "It is directed that 'superior kind' (or 'noble class' **uyar tinei**) indicates the human beings (**makkal**); 'outside class' (**aharinei**) the remaining. The grammarians of Telugu divide in the same way by using the Sanskrit terms **mahat, amahat.**" The strange mention of hermaphodites is perhaps conceived after napunsaka—terms indicating the neuter in Sanskrit.

ज्यूल्स ब्लाक ने इस से आगे भी यही बताने का यत्न किया है कि द्रविड़ भाषाओं का तथाकथित तीसरा लिंग संस्कृत की अनुकृति पर बना लिया गया; वैसे मूलतः दो ही लिंग थे जैसा कि तेलुगु मंचिवाडु=अच्छा (आदमी), मंचिडि=अच्छी (स्त्री, चीज) में द्रष्टव्य है। तमिल के उयर्तिणै और अहरिणै शब्द तथा उनके तेलुगु में प्राप्त संस्कृत पर्याय महत्—अमहत् स्पष्टतः घोषणा कर देते हैं कि द्रविड़ में मूलतः दो ही लिंग थे और वे भी महत्—अमहत् पर आश्रित। यह स्थिति हिंदी के भी अनेक शब्दों में द्रष्टव्य है—लोटा-लुटिया, लट्ठ-लाठी, सोटा-सोटी, कड़ाही-कड़ाहा, पोथी-पोथा, कुल्हाड़ी-कुल्हाड़ा। संस्कृत से तद्भव रूप में आये शब्द अपने साथ संस्कृत का वर्गीकरण भी लाये पर दो ही रूपों में समा गये। नपुंसक लुप्त हो गया। वैसे संस्कृत में ही बहुत कम भेद था, उसका और पुंल्लिंग का।

**सर्वनाम, सार्वनामिक विशेषण और सार्वनामिक अव्यय:**—सर्वनाम भाषा के प्राण माने जाते हैं। भाषा शास्त्री सर्वनामों के बल पर भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण तक करने को तैयार हो जाते हैं और हिंदी आदि उत्तर भारतीय भाषाओं को द्रविड़ से संबद्ध

न मानने में भाषा शास्त्रियों ने एक बड़ा तर्क यही दिया है कि सर्वनाम मेल नहीं खाते। हमें इस तर्क में कोई बल नहीं दिखाई पड़ता। जहां एक वर्ग अपनी भाषा दूसरे को सिखाने पर तुला हुआ हो और दूसरा वर्ग अभिभूत वर्ग होने के कारण स्वयं सीखने को उत्सुक हो; जहां सीखने की सुविधा के लिए पद्यबद्ध पर्यायवाची कोश बना दिये गये हों; जहां उन कोशों का पारायण नित्यकर्म बना दिया गया हो; जहां कोशों के शब्द भी स्मरण कर्त्ता की आवश्यकता के अनुरूप वर्ग बद्ध कर दिये गये हों; वहां छोटे से सर्वनाम वर्ग को निस्संदेह बहुत शीघ्र याद करके पत्नी, संतान और दास वर्ग ने गृहपति को सुना दिया होगा। सात बार, इक्कीस बार, एक सौ आठ बार पाठ करने का माहात्म्य उस समय चला था जो आज तक चलता आ रहा है। यों जहां कोशों और नामस्मरण के माहात्म्य के बल पर हजारों शब्द द्रविड़ जनों के गले उतारे गये वहां सर्वनाम वर्ग का स्मरण तो बहुत ही साधारण काम रहा होगा। यों यदि कुछ आर्य सर्वनाम द्रविड़ प्राच्य भाषा में सम्मिलित और गृहीत हो गये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परंतु फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि ये शब्द संस्कृत के सांचे में ही ढले रहे या द्रविड़ ढांचे के अनुरूप उन्हें काया पलट करना पड़ा। हमें तो दूसरी स्थिति ही दिखाई देती है और इसलिए हम तो यही मानने को बाध्य हैं कि कुछ सार्वनामिक शब्द हिंदी की पूर्वजा प्राच्य प्राकृत में प्रविष्ट हुए पर प्राकृत के ढांचे के अनुरूप ही। आगे हम प्रत्येक सर्वनाम की परीक्षा करके बतायेंगे कि उसमें कितना तत्त्व आर्य है और उसको किस तरह द्रविड़ रूप मिला है। सामान्य नियम प्रथमा एक वचन के रूप को ग्रहण करने का है। क्योंकि द्रविड भाषाओं में प्रथमा एक वचन में शब्द का मूल रूप ही होता है।

**उत्तम पुरुष एक वचन**—संस्कृत सर्वनामों का यही तत्त्व सबसे अधिक सुरक्षित रहा है। हिंदी में अधुना प्राप्त रूप हैं 'हूँ' (अहम्), मैं (मया), मुझ (मह्यं) और मेरा जिसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं। संभव है 'मम' में कोई 'केर' प्रत्यय जुड़ा हो। इनमें 'हूँ' तो केवल क्रिया भाग के रूप में रह गया है (द्रविड़ परिवार में क्रिया भाग के रूप में सर्वनाम की पुनरुक्ति होती है)। **मैं** संस्कृत '**मया**' का परिवर्तित रूप है। वह यथा प्रसंग अकेला भी प्रयुक्त होता है और 'ने' पर-स्थानिक के साथ भी। **मुझ मह्यं** से बना है। 'ने' के अतिरिक्त सभी पर-स्थानिक इसी रूप में जुड़ते हैं। इस, उस, आदि के नियमानुसार तो 'ने' भी **मुझ** में ही जुड़ना चाहिए था पर **मैं**, **तू**, दो अपवाद हैं जिनमें 'ने' सीधा जुड़ जाता है। **मेरा, मेरे, मेरी** आदि के विषय में **मम** के पश्चात् केर वाली कल्पना की जा सकती है जो कोई संबंधार्थक द्रविड़ प्रत्यय रहा होगा। शब्द के मध्यग होने पर 'क' तो उड़ गया और 'मम' के भी दो मकारों में से एक लुप्त हो गया। ये एक वचन के रूप बाद में प्रविष्ट हुए। आरंभ में 'अहम्' का ही 'हम' के रूप में प्रयोग हुआ। आज भी 'हम' का प्रयोग एक के लिए होता है।

**उत्तम पुरुष बहुवचन**—द्विवचन का तो द्रविड़ के अनुरूप लोप हो ही गया था, संस्कृत का 'वयं' भी हिंदी में नहीं आ पाया। उसके स्थान पर भी 'अहम्' का घिसा हुआ रूप 'हम' रहा। 'अस्मद्' से 'हम' को जोड़ने की बात हमें ठीक नहीं लगती चाहे प्राकृतों में **अम्ह**

मिलता हो क्योंकि वे प्राकृतें कृत्रिम हैं। बात यह है कि 'हम' शब्द एक के लिए **मैं** के स्थान पर भी प्रयुक्त होता है और अनेक के लिए भी। वक्ता अपने लिए आदरार्थक बहुवचन का प्रयोग नहीं करता अतः 'हम' को अहम् से ही व्युत्पन्न समझना उचित है। उसका क्रिया भाग के रूप में जब प्रयोग होता है तो 'हैं' के रूप में होता है जिसका भ्रम वश प्रथम पुरुष के 'हैं' के साथ तादात्म्य हो गया है। वैसे हम जाते हैं का 'हैं' 'अहम्' का ही विकार है। 'हम' का **वयम्**, **अस्मान्** आदि विविध रूपों के समकक्ष कोई रूप नहीं मिलता और यथावश्यक 'ने' 'को' 'से' 'में' आदि उसी में जुड़ते हैं। हम में संस्कृत के अनुरूप श्रोता समावेशी अर्थ भी है और श्रोता व्यतिरिक्त रूप भी। पर यह स्थिति केवल साहित्यिक रूप की है। बोलचाल में द्रविड़ के अनुसार श्रोता–समावेशी रूप अलग है 'अप्पन'।

**मध्यम पुरुष एक वचन**—तू, तुझ, और तेर (आ, ए, ई) ये ही रूप 'तू' के मिलते हैं। 'तू' 'त्वम्' से व्युत्पन्न हैं। अनेक बोलियों में तो आज भी 'तूँ' के रूप में बोला जाता है। 'ने' तू के साथ भी वैसे ही सीधा जुड़ जाता है जैसे **मैं** के साथ। पर 'को', 'से' 'में' आदि 'तुझ' के साथ जुड़ते हैं। **तेरा** आदि की स्थिति **मेरा** आदि जैसी ही है। संस्कृत '**त्वम्**' के अन्य रूप हिंदी में नहीं रह पाये। प्राच्य प्राकृत में ही नहीं आये होंगे। 'मैं' के समान 'तू' का भी प्रवेश बाद में कृत्रिम रूप से हुआ। वैसे 'तुम' एक के लिए भी प्रयुक्त होता है और वह त्वम् का स्वाभाविक तद्भव है।

**मध्यम पुरुष बहुवचन-'तुम'**:—'**हम**' के समान 'तुम' भी एक वचन रूप से ही बना है। **त्वम्** से सीधा 'तुम' ही बनेगा। इसका प्रयोग एक के लिए भी होता है और अनेक के लिए भी। **यूयम्** या **युष्मद्** के साथ इसका कोई मेल नहीं बिठाया जा सकता। '**तुम**' के साथ ही सभी पर-स्थानिक जुड़ते हैं। कोई रूप परिवर्तन नहीं होता। पूरा द्रविड़ ढांचा है। **तू**, **तुम** का क्रिया भाग के रूप में कोई प्रवेश नहीं हुआ क्योंकि **है**, **हैं**, **हो**, **हूं**, के साथ '**त**' का मेल नहीं बैठता था। उसके साथ क्या व्यवहार हुआ सो आगे देखिये।

**आदरार्थक 'आप'**—हम ऊपर 'अप्पन' का उल्लेख कर चुके हैं जो श्रोता-समावेशी रूप है। उसी का वक्ता व्यतिरेकी रूप 'आप' है। संस्कृत में आदरार्थक 'भवान्' था। उसके अनुकरण पर प्राकृत में भी आदरार्थक रूप चलाया गया 'आप'। संस्कृत में **भवान्** का अर्थ मध्यम पुरुष वाला होने पर भी उसके साथ क्रिया रूप प्रथम पुरुष का ही जुड़ता था। इस नियम का विचित्र प्रयोग हिंदी में रहा। हम ऊपर बता चुके हैं कि **त्वम्** का कोई रूप 'है' आदि के साथ मेल नहीं खाता अतः '**तू**' और **आप** के साथ तो **भवान्** के अनुकरण पर प्रथम पुरुष के रूप रखे गये है, हैं आदि। पर '**भवान्**' का भी उपयोग कर लिया गया। संस्कृत के अनेक शब्दों में 'आन्' द्वितीया बहुवचन का रूप था। यही ध्यान में रख कर संभवतः 'भवान्' का 'आन्' निकाल कर उसके '**भव**' रूप का प्राकृतीकरण '**हो**' हुआ। यह मध्यम पुरुष '**तुम**' के साथ क्रिया भाग के रूप में जुड़ा। आखिर '**भवान्**' में अर्थ तो मध्यम पुरुष का ही था।

**प्रथम पुरुष के सर्वनाम**—इनकी संख्या सबसे अधिक है, इनके रूपों में एकरूपता भी बहुत हैं और ये किसी न किसी रूप में विशेषणों तथा अव्ययार्थकों तक के साथ जुड़ते हैं अतः उनके विवेचन से इस विषय में बहुत प्रकाश पड़ेगा कि हिन्दी के इन प्रथम पुरुष सर्वनामों में कितना संस्कृत तत्त्व सुरक्षित है और कितना प्राकृत (द्रविड) रूप।

द्रविड भाषाशास्त्री ज्यूल्स ब्लाक ने लिखा है:—

The demonstrative stems are in general, in the order of remoteness from the subject **i-u-a**. The interrogative is less uniform.

यों तमिल आदि में इ (यह), उ (वह), अ (वह), ए (कौन) आदि हैं। इनके आगे कोष्ठ में शब्द इनसे व्यक्त भावों को बताने के लिए दिये गये हैं।

इनमें से 'इ', 'उ' तत्त्व हिन्दी में सुरक्षित रहे। ए तत्त्व का स्थान संस्कृत 'क तत्त्व ने ले लिया क्योंकि आर्यों को ह्रस्व ए के उच्चारण में कुछ कठिनाई रही होगी। इनके अतिरिक्त संस्कृत के यत्, **तत्** के भी रूप ज, **त** के रूप में बचे रहे। यों कहीं द्रविड़ उपसर्ग रहा और कहीं उसका संस्कृत समकक्ष। यह समझ लेने के बाद **यह**, **वह**, **कौन**, **क्या**, **जो**, **इस**, **उस**, **किस**, **जिस**, **कब**, **तब**, **जब**, **अब**, **कहां**, **जहां**, **तहां**, **यहां**, **वहां**, **कितना उतना**, **इतना**, **जितना**, **क्यों**, **ज्यों**, **त्यों**, **यों**, **कैसे**, **जैसे**, **तैसे**, **ऐसे**, **वैसे** आदि को समझना कठिन न होगा।

तमिल से तुलना करें तो स्थिति काफी स्पष्ट हो जाएगी। तमिल में **अवन्**, **इवन्**, **उवन्**, **एवन्** आदि शब्द हिन्दी के **यह**, **वह**, **कौन**, **जो**, के समकक्ष हैं। तमिल में इनके अतिरिक्त **अन्द**, **इन्द**, **उन्द**, **एन्द** आदि रूप भी हैं जिनकी माला वैसे ही है। हिन्दी में यह, वह, कौन, क्या का प्रयोग उस अवस्था में होता है जब उनके बाद पर-स्थानिक नहीं होते। पर-स्थानिक से पूर्व **इस**, **उस**, **किस**, **जिस** आदि हो जाते हैं। यदि हम इनके 'स' को समझलें तो बाकी स्थिति ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। यह 'स' संस्कृत का प्रथम पुरुष 'सः' है। संस्कृत का **सः** चाहे अकेले '**वह**' का पर्याय था पर जब उसे प्राच्य प्राकृत में गृहीत किया गया तो तमिल '**व**' के समकक्ष मान कर। **इव** (न्) का समकक्ष बना **इस**, **उव** (न्) का समकक्ष '**उस**', **एव** (न्) का समकक्ष '**किस**' और संस्कृत **यत्** का समकक्ष '**जिस**'। यों 'स'=='व' है। '**स**' का उच्चारण अनेक बोलियों में और अनेक स्थलों पर 'ह' भी था वही '**यह**, **वह**' में सुरक्षित है यद्यपि आज **यह-वह** और **इस-उस** के प्रयोग-स्थल भिन्न-भिन्न हो गये हैं। पर 'स' का 'ह' में परिवर्तन बहुत स्वाभाविक सा है। **कौन** की व्युत्पत्ति बड़ी रोचक है। आज तो भाषा शास्त्री इसे कः पुनः 7 कवण 7 कौन बताते हैं। हम प्राकृत रूप '**कवण**' से तो सहमत हैं पर **कः पुनः** का एक साथ और इस अर्थ में प्रयोग हमने कहीं नहीं देखा। वास्तविक बात यह है कि **इवन्-उवन्** का इ-उ अंश तो **इस-उस** या **यह-वह** में रहा पर **एवन्** के **ए** को आर्यों ने चलने नहीं दिया। उसके स्थान पर संस्कृत से 'क' लिया गया। यह ऊपर बता चुके हैं। पर इस प्रसंग में समझौता दूसरे रूप में हुआ। '**क**' संस्कृत से लिया तो '**वन्**' प्राकृत से, और बना '**कवन्**' जो आज '**कौन**' रूप में विद्यमान है। संस्कृत

**'किम्'** के 'कि' अंश में द्रविड़ प्रश्नसूचक **'आ'** जोड़ कर **'क्या'** बना। संस्कृत के **यत्-तत्** का **य-त** अंश भी प्रायः हिन्दी में **ज-त** के रूप में आया। तमिल में **इवन्-इवल्-इद्दु, अवन्-अवल्, अदु** आदि लिंग भेद वाले सर्वनाम भी हैं और **अन्द, इन्द** जैसे लिंग भेद रहित सार्वनामिक विशेषण भी। संस्कृत में सर्वत्र लिंग भेद है। हिन्दी ने उसे सर्वत्र उड़ा दिया। हां, राजस्थान की कुछ बोलियों में बो-बा (वह) का लिंग मूलक भेद है। पर सामान्यतः लिंग भेद हट गया है।

द्रविड़ के अनुरूप हिन्दी में सर्वनाम क्रिया भाग के रूप में भी विद्यमान है। यह हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। **हूँ** 'अहम्' से व्युत्पन्न है, **हो** 'भवान्' के **'भव'** से। **अहम्** का **'हम'** जब बहुवचन रूप हो गया तो उसका **'हैं'** क्रिया रूप बन गया। अब बच गया प्रथम पुरुष का द्योतक 'है'। यह निस्संदेह **'सः'** से व्युत्पन्न है। हरियाणा में तो आज भी **'सै'** बोलते हैं जो संस्कृत **सः** के उच्चारण से बिलकुल मिलता है। 'है' का बहुवचन भी **'हैं'** बना लिया गया—बहुवचन के सामान्य नियम आनुनासिकीकरण द्वारा **चिड़िया-चिड़ियां** आदि के समान। **'स'** का **च**-छ रूप भी प्राकृतों में बनता था यह हम पहले बता चुके हैं। यह **'छै'** की व्युत्पत्ति है। 'छ' के अन्य रूप 'ह' के अनुकरण पर बाद की उपज हैं। संस्कृत के **मि-ति-सि** आदि क्रिया भागों का सर्वनामों से कोई सम्बन्ध नहीं है पर हिन्दी के **है, हैं, हो, हूं** स्पष्टतः द्रविड़ प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

**अब-कब-जब-तब** का **'ब'** तमिल इप्पोल्दु, अप्पोल्दु, एप्पोल्दु तथा तेलुगु अप्पुडु, एप्पुडु आदि में खोजा जा सकता है। आज तो तमिल में 'पोळ्दु' समय सूचक शब्द हैं पर हमारी धारणा है कि तमिल और तेलुगु दोनों में प्राप्त 'प्प' ही अब-कब आदि के 'ब' का मूल है। **ओळ्दु, उडु** आदि अन्य प्रत्यय हैं।

**यहां-वहां-कहां-जहां-तहां** और **इधर-उधर-किधर** आदि के **'हां'** और **'धर'** क्रमशः संस्कृत **'स्थान'** और **'धरा'** से व्युत्पन्न हैं। तमिल-तेलुगु-मलयालम आदि में भी स्थान वाचक शब्दों से पूर्व इ-अ-ए आदि जुड़ते हैं। यथा—त० **अंगे, इंगे, एंगे**; तेलु० **इक्कड़, अक्कड़, एक्कड़**; मल०—**इविड़े, अविड़े, एवड़े**; मराठी—**इक्कड़े, तिकड़े**।

**इतना-कितना-जितना-उतना** तो तमिल में भी **इत्तनै, अत्तनै, एत्तनै** आदि में द्रष्टव्य है। इस 'तना' की व्युत्पत्ति संस्कृत में ढूंढना व्यर्थ है।

सारांश यह कि सर्वनामों, सार्वनामिक विशेषणों, सार्वनामिक क्रियाविशेषणों, सार्वनामिक क्रिया भागों आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी द्रविड़ परिवार की भाषाओं से मेल खाती है, संस्कृत से नहीं। कुछ शब्द संस्कृत के आये पर मूल ढांचा द्रविड़ है और कुछ उपसर्ग इ, उ आदि भी द्रविड़ है जो कहीं-कहीं **य-ब** के रूप में भी उच्चरित होते हैं।

**धातु और क्रियाएं**—कहते हैं कि भाषा के वास्तविक प्राण क्रियापद होते हैं। वाक्य भाषा की इकाई होते हैं और वाक्य का प्रमुख अंग क्रिया है। केवल क्रिया रूप से वाक्य

बन सकता है पर विना क्रिया के नहीं । हम पहले संकेत कर चुके हैं कि संस्कृत के दश लकार हिंदी में दृष्टिगोचर नहीं होते । संस्कृत के तो केवल कुछ कृदन्त रूप हिन्दी में आये हैं । वे भी प्रायः तद्भव रूपों में । **पढ़ना, लिखना, करना** आदि संस्कृत 'ल्युट्' के रूप हैं जो तद्भव रूप में हैं । हम अन्यत्र बता चुके हैं कि प्राकृत में संस्कृत शब्द विभक्ति रूपों से रहित होकर ही गृहीत हुए अर्थात् **पठन, लेखन, करण** आदि रूपों में ही, '**पठनं**' आदि रूपों में नहीं । अंतिम 'अकार' के विवृत होने की प्रवृत्ति से वे **पढ़ना, लिखना, करना** आदि बन गये । शत्रंत रूप **पठत्, लिखत्** आदि अजंत होकर विवृत उच्चारण के फलस्वरूप **पढ़ता, लिखता** आदि के रूप में प्रकट हुए । संस्कृत के शत्रंतों में लिंग का भेद था अतः **पढती-लिखती** आदि रूप भी बने। 'क्तान्त रूप' तद्भव होकर विवृत 'आ' के साथ आए और स्त्रीलिंग में 'आ' की परिणति 'ई' में हुई । बहुवचन में भी शत्रंत और क्तान्त में भिन्न रूप हुए— संस्कृत के समान । यों **पढ़ता-पढ़ते, लिखा-लिखे** आदि रूप हुए ।

ल्युट्, क्त, और शतृ रूप हिन्दी में आए तो सही पर उनका प्रयोग उन स्थानों पर नहीं हुआ जहाँ संस्कृत में होता था । उनका प्रयोग तो वहाँ हुआ जहाँ द्रविड़ भाषाओं में उन्हीं के समकक्ष व्याकरण रूप प्रयुक्त होते थे । संस्कृत में 'आगमनम् इच्छामि' नहीं कहेंगे, 'अहम् पठ् उषितः अस्मि' नहीं कहेंगे, 'सः पठितः कुर्वन् अस्ति' नहीं कहेंगे । परन्तु हिन्दी में 'मैं आना चाहता हूँ', 'मैं पढ़ रहा हूँ', 'वह पढ़ा करता है' सही वाक्य हैं। इनका द्रविड़ भाषाओं में शब्दशः अनुवाद कर दें—शत्रंत का शत्रंत से, क्तांत का क्तांत से और ल्युडंत का ल्युडंत से तो सम्भवतः शुद्ध वाक्य बनेंगे । ये रूप काल द्योतक नहीं हैं । सभी कालों में प्रयुक्त होते हैं ।

मैं जाना चाहता हूँ । चाहता था । चाहता रहूँगा ।
वह यहां पढ़ता है । पढ़ता था । पढ़ता रहेगा ।
मैं सवेरे आया । वह भी आया है । ठहरो मैं अभी आया ।

कहीं भी संस्कृत का अनुसरण नहीं है । द्रविड़ भाषाओं की स्थिति इससे भिन्न नहीं है ।

एन् पो वेणुम् (त०) =मुझे जाना चाहिए, और
एनक्कु चाप्पिडु वेणुम् (त०) =मुझको भोजन चाहिए
दोनों ही में **वेणुम् =चाहिए** है । क्या संस्कृत में इनका अनुवाद **मह्यम् गमनम् इष्टम्** और **मह्यम् भोजनम् इष्टम्** करते हैं ? वहाँ **अहम् गच्छेयम्** और **अहम् भोजनं इच्छामि** कहेंगे ।

शत्रंत, क्तान्त आदि का प्रयोग तो द्रविड़ वाक्य विन्यास के अनुरूप है ही पर दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी में क्रियाओं की मालाएं बन कर अर्थ अभिव्यक्त करती है । संस्कृत में अकेली क्रियाएं ही होती हैं । द्रविड़ परिवार की सभी भाषाओं में ये क्रिया-मालाएं हैं और बिलकुल हिन्दी के समान हैं । करना, जाना, आना, रहना, पड़ना, लेना, देना,

डालना, चुकना, लगना, छोड़ना, रखना, बैठना आदि अनेक क्रियाएं हैं जो सहायक क्रियाओं के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इनमें से कुछ क्रियाएं—रह, पड़, डाल, रख तो हैं ही द्रविड़ मूल की पर शेष द्रविड़ क्रियाओं के संस्कृत अनुवादों के तद्भव रूप हैं। पर इन संस्कृत क्रियाओं का भी अर्थ विस्तृत होकर उतना ही हो गया है जितना उसके द्रविड़ पर्याय का था। **'लगना'** में 'अडि' के अधिकांश अर्थ आगये हैं यद्यपि संस्कृत **'लग्'** धातु में वे सब अर्थ नहीं हैं। हम संस्कृत में **गृहं गमने लग्नः** (घर जाने लगा) नहीं कहेंगे पर 'लग्' ने अपने द्रविड़ पर्याय का अर्थ ग्रहण कर लिया। 'तूने क्या कर दिया' को हम संस्कृत में कभी 'त्वया किं कृत्वा दत्तम्' नहीं कहेंगे। द्रविड़ भाषाओं और हिन्दी की इन सहायक क्रियाओं तथा उनकी मालाओं के विषय में पूरा विचार करने के लिए कदाचित् पूरा ग्रन्थ चाहिए। अतः वह काम अन्यत्र ही संभव होगा। यहाँ केवल विशिष्ट लक्षणों का साम्य बता दिया है।

अब हम क्रियापदों के उस पक्ष पर विचार करेंगे जिसको शस्त्र बना कर भाषाविदों ने हिन्दी और द्रविड़ परिवार की भाषाओं को अलग बताया था। काल्दवेल आदि का कहना था कि "खाना, पीना, रहना, पहनना, ओढ़ना, जाना, आना आदि ऐसी क्रियाएं हैं जो सभी संस्कृतियों के मूल तत्त्वों की द्योतक होती हैं और इन क्रियाओं में यदि भेद है तो दो भाषाएं एक परिवार की नहीं मानी जा सकती। तमिल आदि की इन संप्रत्ययों वाली धातुएं हिन्दी में नहीं हैं। हिन्दी में इनके स्थान पर संस्कृत मूलक क्रियाएं हैं। अतः हिन्दी संस्कृत परिवार की है।"

अतः हम विचार करेंगे कि इन संप्रत्ययों के द्योतक तमिल धातु हिन्दी में हैं या नहीं। **'खाना'** का तमिल पर्याय **'साप्पिड़'** ( चाप्पिट, लिखित रूप ) है। भाषाविदों का कहना है कि हिन्दी की **'खाना'** क्रिया का **साप्पिड़** से कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसा तर्क वे ही लोग देंगे जिन्हें खाद्य, भक्ष्य, अन्न, लेह्य, चोष्य, भोज्य, आदि विविध भोजन रूपों का ज्ञान नहीं। ये सब शब्द किसी न किसी प्रकार के भाजन के द्योतक हैं पर परस्पर पर्याय नहीं हैं। द्रविड़ लोग जिस प्रकार का भोजन करते हैं उसे हिन्दी में भी 'सबड़ना' ही कहते हैं। खीर, दध्योदन जैसे पतले घुले हुए पदार्थों का खाना **सबड़ना** है। राजस्थान और हरियाणा आदि की 'प्राच्य भूमि' में तो ऐसे भोजन के एक ग्रास को आज भी 'सबड़का' कहते हैं। हाँ, गेहूँ की रोटी आर्यों का भोजन था अतः वे स्वयं इसके लिए जिस शब्द को अपनाते थे उसे प्राच्यवासी द्रविड़ों ने भी अपना लिया। वैसे मूलतः हरियाणा (प्राच्य का मध्यदेश) भी 'सबड़का' संस्कृति का ही क्षेत्र था। वहाँ आज भी खाना पकाना आरंभ करने के समय को 'हांडी वकत' कहते हैं, तवा या कड़ाही वकत नहीं। हिसार में एक चौधरी के मुँह से जब मैंने 'हांडी वकत' सुना तो मेरी आँखों के सामने हमारा सांस्कृतिक इतिहास घूम गया। अधिक पूछताछ करने पर पता चला कि हांडी-वकत केवल शाम के समय हांडी चढ़ाने का है जब खिचड़ी बनाई जाती है। सवेरे के भोजन में साग-रोटी का प्रमुख स्थान है अतः सवेरे के भोजन को पकाने का समय 'छाकां' (शाकान्न) है।

दूसरी महत्वपूर्ण क्रिया 'पीना' है जिसका द्रविड़ पर्याय **कुडि** (कुटि-लिखित रूप) है। पात्र को मुंह से छुए बिना ऊपर से धारा बाँध कर मुंह में पानी डालना और पीते जाना प्राच्य क्षेत्र में **गुटकना** है। वैसे अन्य रीति से पीने को भी **गुटकना** कहते हैं। जैसे सबड़ने का एक मात्रक **सबड़का** है वैसे ही पीने का मात्रक **गुटका** है। 'अमृत रा गुटका' मीरां आदि के काव्य में प्रभूत मात्रा में मिलेगा। हिन्दी का 'घूंट' इससे बहुत दूर का शब्द नहीं है।

'रहना' और 'रखना' द्रविड़ शब्द हैं, संस्कृत **रक्ष** से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। 'यह रखा' या 'यह रहा' को संस्कृत में 'इदम् रक्षितं' कौन कहेगा पर तमिल में 'इदं इरुक्क' है ही और 'इ' तो इत् संज्ञक है। 'रह' अकर्मक धातु है, 'रक्ष' सकर्मक है।

तमिल 'उडु' धातु का अर्थ ओढ़ना, पहनना, चारों ओर लपेटना है। हिन्दी की **ओढ़ना** स्पष्टतः 'उडु' से व्युत्पन्न है। 'पहनना-ओढ़ना' का जोड़ा चलता है अतः **ओढ़ना** के साथ-साथ तद्भव **पहनना** भी आ गया तो क्या हो गया। ऐसे बहुत जोड़े हमारी भाषा में मिलेंगे। विदेशी शब्दों तक के मेल से ऐसे जोड़े बनते हैं। जैसे काला-स्याह।

'जाना' के द्रविड़ पर्याय 'पो' पर भी कुछ विचार कर सकते हैं। कहते हैं कि 'पो' का कहीं हिन्दी में प्रयोग नहीं मिलेगा। संभव है कि अकेले रूप में तो इसका प्रयोग न मिले पर संयुक्त क्रिया के रूप में अवश्य मिल जायेगा। आज हिन्दी की एक क्रिया है **पहुँचना**। प्राचीन काव्यों में इसका **'पोंहचना'** रूप मिलता है और राजस्थानी में **पोंचना**। इसकी व्युत्पत्ति द्रविड़ के दो धातुओं के मेल से है। वे हैं—पो=जाना+इच्च=मिलना, लगना, जुडना। जा लगना' जा मिलना ही पहुँचना है। 'नाव किनारे जा लगी' कहें चाहे 'जा पहुँची' कहें एक ही बात है। एक अन्य शब्द है 'पूगना'। उसका अर्थ भी पहुँचना ही है। 'रतन-रासो' में ही इसका प्रयोग आया है 'धर धरि पूगे सात।' यह 'पूग' निस्संदेह 'पो-गम्' के जोड़े से बनी धातु है। **लड़-भिड़, भाग-दौड़, गिर-पड़** आदि के ऐसे सैकड़ों जोड़े हैं। यहां हमने केवल उन धातुओं पर विचार किया है जिनको आधार मान कर उत्तर दक्षिण के बीच की दीवारें खड़ी की गई थीं। इस दीवार के ढह जाने पर परस्पर मिलन होगा या नहीं यह भविष्य बताएगा। हमें तो विश्वास है कि यदि विन्ध्याद्रि, सह्याद्रि और अर्बुदाद्रि बाधक न हुए तो भाषाविदों की यह दीवार क्या बाधक होगी।

**संबंध द्योतक**—द्रविड़ और हिन्दी के बीच की एक और दीवार बताई गई है–पारिवारिक सम्बन्ध सूचक शब्द। अगर हम पिता-माता, पितामह, मातामह, पौत्र आदि शब्दों की बातें करें तो भले ही यह आक्षेप सच्चा हो पर इन शब्दों को दैनंदिन व्यवहार में बोलता कौन है। दैनंदिन व्यवहार के शब्द तो मां, बाप, बाबा, दादा, नाना, ताऊ, काका, चाचा, भाभी, भौजाई, ननद, पोता-पोती, दोहिता-दोहिती, मामा, मामी, जीजा, जीजी, बहन, भाई, सास, ससुर, देवर, जेठ, बुआ, भतीजा आदि हैं। इनमें से बाप, बाबा, दादा, नाना, ताऊ, काका, चाचा, भाभी, मामा, मामी, जीजा, जीजी, बुआ आदि की खोज संस्कृत में करना व्यर्थ है। इनकी खोज द्रविड़ शब्दों में की जा सकती है यद्यपि एक ही शब्द के स्थान भेद से अर्थ भेद हैं और इन सबका कारण है पर्यावरण। ननिहाल में पले बच्चे अपनी मां को बहन पुकारते

हैं, अपने घर में भाभी पुकारते हैं। कारण सुज्ञात हैं। 'काका' का अर्थ कहीं चाचा है, कहीं बेटा है। पर ऊपर गिनाए हुए बहुत से शब्द द्रविड़ परिवार के हैं यह स्पष्ट है :— द्रविड़ अप्पा के द्वित्व भाव **अप्पाप्पा** से **बाप** और **बाबा** बने हैं। **अत्ता-अत्ता** से, **'दादा'** बना है। **अन्ना-अन्ना** से **नाना** बना है। **अत्ता अत्ता** से निकल कर संस्कृत तक में गया 'तात' ही 'ताऊ' का मूल है। **'मामा'** तमिल में भी **मामा** है और **मामी** अ'**मामी** है। **'अंप्पि'** से **भाई** (भ्राता) का 'भा' जुड़ने से **भाबी** बना है। **जीजी** 'चेच्चि' है और उसका पुल्लिग **जीजा**। पोता, पोती, ननद, भोजाई, देवर-जेठ आदि शब्द पितृसत्ताक प्रणाली के हैं अतः इन अर्थों में आर्यों के शब्द ही यथावत् गृहीत किये जा सकते थे। **भाई-बहन** आर्य परिवार के शब्द हैं पर उनके साथ ही संबोधन में द्रविड़ मूल के शब्द **दादा** और **जीजी** चलते ही हैं। **जीजी** का पुल्लिग **'जीजा'** शब्द बहनोई की अपेक्षा अधिक ही चलता है। **पति-पत्नी** आपस में संबोधन करते हुए इन शब्दों का प्रयोग कभी नहीं करते। पत्नी तो **'अजी'** ही कहती है जो **'आर्य'** का तद्भव है और पति यथा-रुचि **अय्या** (आर्या), **अरी**, आदि कहता है या नाम लेकर पुकारता है। सास-ससुर को भी संबोधन करते समय इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। 'पुत्रवधू' आर्य संस्कृति की देन है–पितृसत्ताक प्रणाली की। अतः **बहू** या **पतोहू** आर्य शब्द हैं द्रविड़ शब्द नहीं। आशा है कि इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उत्तर-दक्षिण की भाषाओं के बीच संबंध-शब्दों की जो दीवार खड़ी की गई वह कोरी बालू की दीवार है।

प्राच्य प्राकृत की वंशजा खड़ी बोली हिन्दी आज राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित है। यह पद उसे आज नहीं मिला। यह उसे वंशपरम्परागत रिक्थ के रूप में मिला है। आर्य-द्रविड़ों के समागम से पूर्व भी इसे यह पद प्राप्त था। आर्यों ने उस स्थिति को स्वीकार किया और अनेक अवसरों पर उसी के औपचारिक प्रयोग की व्यवस्था की। संस्कृत के समकक्ष उसका स्थान स्वीकार कर लिया। विजित का हृदय जीते बिना विजेता की विजय मिथ्या होती है। अतः समझौता हुआ। दोनों ही पक्ष समझौते के प्रेमी थे। इसलिए झगड़ा नहीं हुआ। एकीकरण का सतत प्रयत्न हुआ। उसी का परिणाम था कि प्राकृत दैनंदिन व्यवहार की भाषा बनी रही और संस्कृत प्रतिष्ठित स्थान पाती रही। विधि की विडंबना देखिए कि जो प्रदेश किसी समय द्रविड़ प्राकृतों का प्रदेश था उसमें तो सर्वत्र संस्कृत के प्रति आदर और सत्कार की अखंडित भावना विद्यमान है और जो उदीच्य संस्कृत का अपना प्रदेश था वहां आज उस पर गर्व करने वाला ढूंढे ही मिलेगा। संस्कृत के महावैयाकरण पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर पाकिस्तान में है और उसकी ननिहाल दाक्षिकंथा (ताशकंद) सोवियत प्रदेश में। पाणिनि व्याकरण के अध्येताओं को एकाधिक बार दाक्षिकंथा का विवेचन मिलता है। दाक्षिपुत्र का उसके प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। कंथान्त अनेक शब्दों को पाणिनि व्याकरण और उसकी काशिकादि वृत्तियों में देखा जा सकता है—सौशमिकंथ, आह्वरकंथ, चप्पकंथ, चिहणकंथ, मडरकंथ, वेतुल कंथ, पटकंथ, वैडालिकर्ण कंथ, कुक्कुटकंथ, चिक्कण कंथ आदि। उस प्रदेश में आज भी अनेक कंथांत नगर विद्यमान हैं—समरकंद, चिमकंद, पंजकंद, यारकंद, पायकंद आदि। यदि महावैयाकरण

पाणिनि ताशकंद समझौते के समय जीवित होता तो यह देख कर नाच उठा होता कि उसके जन्मस्थान शलातुर से नातिदूरस्थ रावलपिंडी और प्राच्य प्रदेश के प्रमुख नगर दिल्ली के बीच एक महत्त्वपूर्ण समझौता हुआ था उसके ननिहाल दाक्षिकंथा (ताशकंद) में।

आज स्थिति यह आ गई है कि उदीच्यों को अपने पूर्वजों की मातृभाषा संस्कृत सीखने के लिए तिरुपति, काशी और पूना जाना पड़ा करेगा। यह इतिहास की विडंबना है पर धर्म और राजनीति के इशारों पर चलने वाला इतिहास पता नहीं ऐसी कितनी विडंबनाएं उत्पन्न करता रहा है। क्या यह विडंबना नहीं कि सिंधी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, उड़िया, बंगला आदि को आज संस्कृत परिवार की भाषा बताया जा रहा है और इनकी बहिन तमिल, तेलुगु, कन्नड आदि को इनसे भिन्न परिवार की भाषा बता कर देश के जनसमुदाय को दो भागों में बांटने का जघन्य कर्म किया गया है। अपने ही परिवार की एक भाषा हिंदी के विरुद्ध तमिलनाडु और कर्नाटक में जो उपद्रव हुए, क्या वे इसी विडंबना की पराकाष्ठा नहीं हैं। अस्तु, आज भी भाषाविद् मिल कर सही स्थिति का स्पष्टीकरण करें तो एक महान् राष्ट्रीय कार्य होगा।

## (२) भारत के भाषात्मक मानचित्र में रतन रासो की भाषा का स्थान

हम साहित्यिक प्राकृतों के प्रसंग में बता चुके हैं कि उनकी भाषा किसी समय की बोलचाल की भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यही दशा अपभ्रंश के साहित्य की है और यही बहुत बड़े शेष भारतीय साहित्य की। सौती साहित्यकारों के प्रसंग में तो यह बात और भी अधिक सही है। मुझे वकालत के दिनों में एक साथी वकील ने हिंदी का विरोध और उर्दू का समर्थन करते हुए कहा था "यदि मुवक्किल हमारी भाषा समझने लगे तो उसके मन में हमारी इज्ज़त कम हो जाएगी। आज हम कहते हैं 'मेरे मुवक्किल की कोठी में सर्के का वाका हो गया', तो वह समझता है कि पता नहीं कितना बड़ा कानूनी तर्क दिया है पर जब हम कहेंगे 'घर में चोरी होगई' तो वह समझेगा कि मेरी ही बताई हुई बात सुना रहा है—बुद्धि कम है।" वकील साहब का यह दृष्टिकोण उन तक ही सीमित नहीं है; हमारे वैद्य, ज्योतिषी, कर्मकांडी सभी समझते हैं कि कुछ ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाए कि ग्राहक न समझे। साहित्यकारों में भी यह भ्रम कुछ सीमा तक होता है और राज्याश्रय प्राप्त कवियों में यह बहुत अधिक था। रतन रासोकार में तो संभवतः यह भरा पड़ा है। अतः उसकी भाषा को देख कर उसके समय की भाषा या उसके प्रदेश की भाषा पर विचार करना व्यर्थ होगा। पश्चिमी पाठालोचन की दुहाई देने वाले विद्वानों में भाषा के बल पर कवि के काल निर्णय का एक भारी भ्रम फैला हुआ है। मैं जब बार-बार लिखा देखता हूँ कि बीसलदेव रासो की भाषा को देखते हुए नरपति अमुक काल में हुआ तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। महाकवि सूर्यमल्ल को मरे हुए तो सौ वर्ष हुए होंगे। उनका निवास स्थान, मातृभूमि सभी कुछ विदित हैं। उन्होंने वंशभास्कर की भाषा को स्वयं ब्रजदेशीय प्राकृत बता दिया है पर उसको पढ़ कर पाठालोचक विद्वान् क्या कुछ काल-निर्णय और स्थान-निर्णय कर सकते हैं?

रतन रासो की भाषा की भी वही स्थिति है जो बहुत विशाल सौती साहित्य की। सौती कवि को जितने शब्द ज्ञात हैं उन सब के पांडित्य को वह दिखाना चाहेगा ही। वाक्य पूरा बना है या नहीं, इसकी उसे चिन्ता कम होती है। कवि के पास अभिव्यक्त करने को भाव होने चाहिए, उनको अभिव्यक्त करने के लिए शब्द होने चाहिए; बस, यदि श्रोता सहृदय है, काव्य-मर्मज्ञ है तो बात समझ ही जाएगा; अभाव की पूर्ति कर ही लेगा। यदि श्रोता में ये गुण नहीं हैं तो 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।' यही सौती काव्यकारों की धारणा रही है। यदि श्रोता अल्पज्ञ होगा तो बिना समझे ही अभिभूत हो जाएगा; यदि काव्य मर्मज्ञ होगा तो रस ग्रहण कर ही लेगा। यह धारणा अकेले कुंभ-कर्ण की नहीं हजारों कुंभकर्णों की है; अधिकांश भाट—चारण कवियों की है। अतः उनकी भाषा देश-कालातीत है; कवि का शब्द ज्ञान और विषय ज्ञान ही उसकी सीमाएं हैं। इसे आप 'कवि समय' मान सकते हैं। 'कवि समय' (कवि-परंपरा) की भाषा को किसी देश काल के वाग्व्यवहार की भाषा नहीं माना जा सकता। वह तो केवल काव्य रचना की भाषा होती है। इसीलिये इस प्रकार की भाषा के लिये एक विशेष शब्द चल पड़ा है—**पिंगल भाषा** अर्थात् केवल छंदोबद्ध काव्य रचना की भाषा। राजस्थान के कवियों की भाषा को वैसे दो वर्गों में बांटा जाता रहा है। पश्चिमी राजस्थान की काव्य भाषा को डिंगल और पूर्वी राज स्थान की काव्य भाषा को पिंगल कहते हैं। ब्रज की निकटता से पिंगल और ब्रज में कुछ साम्य देख कर शुद्ध ब्रजभाषा को भी पिंगल कहा जाने लगा है। पर यदि 'पिंगल' का प्रयोग हम 'कवि समय' की सौती भाषा के लिए ही करें तो अच्छा होगा। उसमें सभी भाषाओं के शब्द मुक्त रूप से गृहीत होते हैं, डिंगल के भी। डिंगल के द्वार उतने मुक्त नहीं हैं। उसमें अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग 'छबकाळ' दोष माना जाता है। पर फिर भी कवि तो निरंकुश हैं। डिंगल में भी कवि के देश काल पर तो पूरा प्रकाश नहीं पड़ सकता पर वाक्य प्रायः पूर्ण होते हैं और शब्द रूपों में वैचित्र्य कम होता है।

पिंगल वालों ने वाक्य रूप और शब्द रूपों का कोई महत्त्व नहीं माना। बस वहां तो भाव वैचित्र्य, शब्द वैचित्र्य और वर्णन वैचित्र्य होना चाहिए। शब्द रूपों का कोई बंधन नहीं।

पिंगल और डिंगल की उत्पत्ति के प्रसंग को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। उस विस्तार में जाना हम यहां व्यर्थ समझते हैं। हां, इतना बता देना आवश्यक है कि डिंगल और पिंगल के कवियों में परस्पर स्पर्धा रहती थी। पिंगल वाले पिंगल को पंडितों की भाषा मानते थे और डिंगल को अर्धशिक्षितों की। उधर डिंगल वाले पिंगल को पंगुल और डिंगल को उडिंगल (उड़ने वाली) मानते थे। अब तक विद्वान् बांकीदास की रचना में ही पिंगल-डिंगल शब्दों का प्राचीनतम प्रयोग बताते थे। अब बंधुवर रावत सारस्वत और श्री मुकनसिंह आदि ने सत्रहवीं शताब्दी के सायांजी के 'नागदमण' में भी पींगळ-डींगळ का प्रयोग ढूंढ डाला है:—

गाँड़ी दाँग मारा गुड़ँ गुंठणारा।
पडै पाइँ पारा मथे मैण धारा।

उडै पोँगळाँ डीँगलाँ रा अँगारा।
ग्रहै गूदरै जेम कुल्लाठ गारा।।

यहां डिंगल के कवि ने कृष्ण को डिंगल और नागराज (पिंगल) को पिंगल बता कर डिंगल को गौरवान्वित किया है।

डिंगल और पिंगल के साहित्य के अतिस्वल्प परिचय के बल पर यदि हम उनकी परस्पर प्रतिस्पर्धा में निर्णय देने का यत्न करें तो घोर अनधिकार चेष्टा होगी। हम तो किंचित् परिचय के बल पर केवल यह कह सकते हैं कि दोनों में उत्कृष्ट साहित्य है और उसको प्रकाश में लाना आवश्यक है। भाषाशास्त्रियों से हमारी प्रार्थना है कि डिंगल-पिंगल के साहित्य का विश्लेषण करके उनके कवियों के देश-काल निर्धारण की कोई चेष्टा न करें। इसमें रस मर्मज्ञों के काम की सामग्री मिलेगी भाषाविदों के काम की नहीं। इतिहासकारों से भी निवेदन है कि वे यदि इस सामग्री में से कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त कर सकें तो कर लें, यदि न प्राप्त कर सकें तो व्यर्थ के आक्षेप-प्रत्याक्षेप न करें। कवियों ने रस मर्मज्ञों के लिए रचना की है; नीरस इतिहासकारों के लिये नहीं। यदि इतिहास विरुद्ध बातें काव्य में हों तो काव्यत्व की किसी प्रकार हानि नहीं होती। बूल्हर जैसे विद्वानों के समक्ष उनकी विद्वत्ता के लिए नतमस्तक होते हुए भी यही निवेदन है कि इतिहास विरुद्ध घटनाओं के वर्णन मात्र से ही किसी काव्य-ग्रन्थ का प्रकाशन न रुकवाएं। काव्य-मर्मज्ञों के लिए प्रकाशन होने दें।

प्रस्तुत काव्य रतन रासो की भाषा भी 'कवियों' की भाषा है किसी देश-काल की नहीं। कवि संस्कृत, फारसी, अरबी आदि भाषाएं जानता है, कवि-समय की भाषा का मर्मज्ञ है और यत्र-तत्र दक्षिणी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग भी कर लेता है। अरबी-फारसी के शब्दों में भी उसने यथा रुचि तोड़-मरोड़ की है, वैसे ही जैसे सौती कवि संस्कृत-प्राकृत शब्दों में करते रहे हैं। अतः अनेक स्थलों पर सही शब्द को ढूंढ़ पाना कठिन है। ग्रंथ की मूल प्रति संभवतः फारसी अक्षरों में लिखी गई थी अतः देवनागरी प्रतिलिपिकार के प्रमाद भी होंगे। पर फिर भी जो स्वरूप आज प्राप्त है वह कवि के पांडित्य, बहुभाषा ज्ञान और सरस कवित्व सभी का परिचायक है।

**संस्कृत**—रतन रासो की भाषा से विदित होता है कि कवि को संस्कृत शब्दों की बहुत बड़ी मात्रा ज्ञात है। अपने समसामयिक संस्कृत महाकवि हरिद्विज का शिष्य होने के कारण कुंभकर्ण का संस्कृत-परिचित होना स्वाभाविक था। हरिद्विज कवि की अद्भुत रचनाओं का थोड़ा-सा परिचय गुरुवर पं. विद्याधरजी शास्त्री ने दिया है। उससे विदित होता है कि उक्त कवि का संस्कृत पांडित्य अगाध था। उसी के चरणों में बैठ कर अवाप्तविद्य कुंभकर्ण का संस्कृत ज्ञान किसी प्रकार कम नहीं। उसने संस्कृत शब्दों का प्रयोग तत्सम रूप में भी किया है और तद्भव रूप में भी। उदाहरणार्थ **'काव्य'** का यथा प्रसंग **'काव्य'** भी रखा है और **कायब** भी। तद्भव रूप अधिक हैं क्योंकि वे 'भाषा काव्य' के अनुरूप हैं।

कवि ने संस्कृतज्ञ होते हुए भी संस्कृताभास श्लोकों तक में शुद्ध संस्कृत का आग्रह नहीं किया है। सौती कवियों की परम्परा का ही निर्वाह किया है। संस्कृत के बीच फारसी का प्रयोग तो और भी अद्भुत है :—

वग्गे साहि फतूह जंग जयतं सानंद सा उच्छवं ।
सर्व दक्खिन भुंमि दुर्ग सरिता ग्रामं पुरं सागरा ।।
भुक्ता श्री जयन्चंद्र इन्द्रप्रस्था आखंड भूमंडला ।
सानी साहिजहाँ किरान सततं चक्ता चिरं चक्कवं ।।

संस्कृत के अनेक ऐसे रूप भी मिलेंगे जो वास्तव में बोलचाल के मुहावरों के संस्कृतीकरण हैं। इनसे यह कल्पना नहीं की जानी चाहिए कि संस्कृत या प्राकृत में कभी ऐसे मुहावरे थे। 'तल अतल वितल भू आसमान। भय अनल विनल पस्सहि न पान।' या 'प्रपस्से न वा चच्छि सा चच्छि पानं।' या 'पस्सहिन अप्प छिग अप्प पान।' यहां हिन्दी के मुहावरे हाथ को हाथ दिखाई नहीं देता को 'पस्सहि न पान' आदि के रूप में अनुवादित किया गया है। इससे यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि 'पाणी पाणि न पश्यति' कोई संस्कृत मुहावरा रहा होगा। यह तो संस्कृतज्ञ कवि की विशेषता है कि उसने हिन्दी के मुहावरे को प्राकृत रूप दे कर संस्कृत शब्दावली के बीच जड़ दिया। फारसी 'आसमान' भी इसी तरह संस्कृत के बीच आ बैठा है।

संस्कृत की शब्दावली मानो कवि की जिह्वा पर बरबस चली आती है। वह कहीं उसका तत्सम रूप में और कहीं तद्भव रूप में प्रयोग करता जाता है। तद्भव रूप कहीं प्रतिलिपिकार के कारण उत्पन्न भी हो सकते हैं। संस्कृत बाहुल्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

विसाल भाल पट्ट प्रेमना तमाल पत्रये ।
मनो मयंक प्रेम अंक रोहिनी वचित्रये ।।
विसाल बाल भूंह सूंह बंकका कमानयं ।
प्रफुल्लि नेत्र पंकजेत्र खंजने भृगानयं ।।
विचित्र मीन मान हीन मंजनं हृदानयं ।
उघार नेत लज्ज हेत तज्जनेत प्रानयं ।।
मुखारव्यंद ता अनंद चंदका सरद्दये ।
सपर्धमान ता समान का बखान हद्दये ।।
जराव वज्र लाल नील कर्णफूल फूलनं ।
कचभ्र अभ्र मद्धि भाव चापलाव तूलनं ।।
सुधा प्रपूर दीप जोति सा उदोति नासिका ।
समान तान उप्पमान मान कीर त्रासिका ।

नसग्र थान नत्थ कत्थ मानमत्थ फंदनं।
सुरासुरं गुरं दुमद्धि सद्धि भोम नंदनं।।

× × ×

कुणं रुणं भुणंत कार चारु छुद्र घंटिका।
सिसू मुन्यंद्र वृंद वेद खेद नेद कंटिका।।
असंभ दंभ रंभ खंभ ताक रंभ निंदनं।
खरादि काम वाम भाम संदुलाम संजनं।।

× × ×

कनंक तंक जेहरी झनंक झंक नूपरं।
नवव्वति त्रिलोक जै विजै कि काम भूपरं।।

ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि के पास अपार शब्द भंडार है और वह जब जैसी चाहिए ध्वनियां प्रस्तुत कर सकता है; शब्दावली का समा बांध सकता है।

**अरबी-फारसी**—रासोकार का अरबी-फारसी शब्दावली का ज्ञान भी यथेष्ट प्रतीत होता है यद्यपि उसके अतिरेक पूर्ण प्रसंगों का अर्थ जरा दुष्कर हो जाता है। अरबी-फारसी शब्दों के तद्भव रूपों से मूल शब्द को पहचान पाना प्रायः कठिन है। पर कवि ने '**आरबी हर्फ पस्तो बनाय। निसचरन मोद कौतक उपाय।**' कह कर व्यक्त कर दिया है कि उसका उद्देश्य मुसलमान आश्रयदाताओं को भी रिझाना था। अरबी-फारसी के पांडित्य का प्रदर्शन उसने आरम्भ में ही कर डाला है:—

तेज पुंज तालै विलँद दिल पर अजब करार।
खतम हेफ हिम्मति बलिय अल्लहु पर इकतार।।
अजब लाल इक वेवहा हिंदू र्गाहर अजूब।
इसक इसक किम्मत प दर हिम्मत पर महबूब।।

वचनिका-बद्ध गद्य खंड तो पूर्णतः अरबी-फारसी शब्दों से भरा हैं—**तमाम आलम गीराँ गिरफ्तार। आलम पनाह जिहान। ईरान तूरान। स्याह सख्त जब्द। कर्दम तख्त। कूवत दस्त। मस्त पहलवान। अदली किरान सानी। अजमति अंबिया अवलिया। करामाति जाहिर साहिजहाँ आलमगीर।**

पूरा वचनिका-खंड तो अरबी-फारसी से भरा है ही, उसके आगे के दोहे भी ऐसे ही हैं।

अन्य भी अनेक प्रसंग आये हैं जहाँ कवि ने भरपूर अरबी-फारसी शब्दावली की झड़ी लगा दी है।

**ब्रज भाषा**—सामान्यतः तो कवि की शब्दावली में क्रिया पद कम हैं; अतः भाषा का स्वरूप-निर्धारण कठिन है पर फिर भी अनेक दोहों में ब्रज का रूप स्पष्ट होता है:—

प्रबल बंस दलसाह कै तेज पुंज तहताज।
बरनै रतन महेस जस कवि ईसर सिरताज।।
रामस्यंघ नृप रतन कै नृप मन उध्रित मान।
त्यूँ तुम ईसरदास कै कवि कुल विद्यावान।।
जिय पाये रतलामपुर जालंधर साँचौर।
अधिकौ रतन महेस तैं अधिक कहूँ कहँ और।।

ये दोहे ब्रज भाषा के स्वरूप को काफी स्पष्ट करते हैं।

**खड़ी बोली**—खड़ी बोली के प्रयोग यत्र-तत्र दोहों में मिल जाते हैं। अंतिम अंश का 'वार्त्ता' नामक गद्य खंड तो खड़ी बोली गद्य का नमूना है ही। दोहों में से एक उदाहरण देखिए—

नाजर जिस दरिगाह का सूहा नाम अचंभ।
फील जँजीर जडाय कै गाडि लड्या रिण खंभ।।

वार्ता का गद्य खंड काफी बड़ा है। उसमें मृत वीरों के वंश-वर्णन आदि हैं:—

**सवाई राव बरजाँग के पोते। जिनकी औलादि में हमेशा सूर सामंत पैदासि होते। जिस बरजाँग एक सौ इकहत्तर फौजूँ के फतूह पाये। दूसरा संतन कहाये। तिस बरजाँग के पोते बल्लू के भतीजे। जिनूँ की हिम्मति की इसारति और मरदाना मरदूँ कूँ दीजे। जिस बल्लू के मुँह पर अल्लहु का नूर बरसे। चस्मूँ में तख्त दिल्ली की सिपाहगीरी की सरम दरसे।**

**पंजाबी**—रतन-रासोकार पंजाबी के लक्षणों से भी परिचित है। उसने दोहों में अच्छी पंजाबी प्रयुक्त की है:—

मिहरी भी जिस मुलक दी सरम खतम सु विहान।
लड़ी अकब्बर साहि सन चँद बीबी है रान।।
+ + +
जबदाँ घट्टी रस्त दी कित्ते कतल सिपाह।

त्रिभंगी छंद में किये हुए महावतखां के घेरे के वर्णन में काफी पंजाबीपन है :—

सुलतान जबाबाँ सख्त नबाबाँ निमक सबाबाँ बखतंदे।
छक सार सरावाँ जब दइताबाँ निस महताबाँ धुखतंदे।।

चव फेर फिरंदे देवगिरंदे घात करंदे घेरंदे ।
खंदक खोदंदे सुरंग सुधंदे दौर विलंदे दुरसंदे ।।
आतस उछलंदे हिम्मति संदे धूह उठंदे धोमंदे ।
ओले वरिहंदे अंबर संदे डंवर थंदे दिखियंदे ।।

निसाणी छंद में भी पंजाबी रूप बहुत हैं:—

जिन जीवंदे अप्प वतन पर हत्थू लाये ।
जिन जीवंदा कौण है मिरतक्क सभाये ।।
पहली हिंमत ना करै स पाछे पछताये ।
+ + +
पासा संदे दाव किंनि मुँहसंगे पाये ।

कवित्त (छप्पय) में भी पंजाबी का प्रयोग द्रष्टव्य है :—

भग्गा विराम कँवर दुजर दरद मुहव्वति खान दा ।
भग्गा भयान करवान उर नाटसाल सु विहान दा ।।

अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र द्रष्टव्य हैं :—

**डिंगल**—डिंगल के छंछाळ, लंकाळ, प्रिसन, कमळ (=सिर) आदि शब्द मिलते हैं ।

**पश्तो**—पश्तो का 'पिंड' शब्द जिसे पंजाबी भी कह सकते हैं—'पिंड डंड बकसीस' में द्रष्टव्य है । पिंड का अर्थ ग्राम है ।

**मराठी-कन्नड़**—घी के अर्थ में 'तूप' शब्द का प्रयोग हुआ है । प्रसंग भी 'देवगिरि-दुर्ग वर्णन' का है । जिस क्षेत्र में यह शब्द प्रयुक्त होता है उसी क्षेत्र के प्रसंग में उसका प्रयोग किया गया है :—

प्रपूरत रिद्ध सम्रिद्ध प्रसंन । सनेह स तूप सुस्वाद सुअंन ।

वैसे 'तूप' प्राकृत साहित्य में भी मिल जाता है ।

**तमिल आदि**—द्रविड़ परिवार का 'तीन' का वाचक 'मूरु' शब्द 'मुर' के रूप में प्रयुक्त हुआ है । वैसे इस शब्द का प्रयोग सौती साहित्य में प्रभूत मात्रा में मिलता है ।

**यूरोपीय शब्द**:—'फिरंग हवस्स धरा प्रतिकाल' में फिरंग, प्रतिकाल (पुर्त्तगाल) आदि शब्द तत्तत् जाति के सूचक हैं । ये पुर्त्तगाल वालों के साथ आये हुए शब्द हैं ।

**मध्य एशिया के शब्द**—समग्र सौती साहित्य में मैमत्त शब्द का हाथी के अर्थ में प्रभूत प्रयोग मिलता है । रतन-रासो में भी यह प्रयोग है । डा० तेस्सितोरी ने इसकी

व्युत्पत्ति 'मदमत्त' से बताई है। परंतु यह तुर्कों-मुगलों के साथ आया हुआ मध्य एशिया का शब्द है जो रूसी भाषा में भी है। 'मैमत' रूसी से अंग्रेजी में भी गया है पर 'सामान्य हाथी' के अर्थ के स्थान पर 'हाथी के एक विलुप्त पूर्वज' के अर्थ में।

यों रतन रासोकार ने आरंभ में बहुभाषा प्रयोग की जो इच्छा व्यक्त की है उसका प्रभूत निर्वाह हुआ है। इस भाषा-बाहुल्य के फलस्वरूप भाषा में जटिलता अवश्य आई है। इस पर कवि कह सकता है कि उसका काव्य प्रौढ़ विद्वानों के लिए है, अनधिकारी उसे क्यों छूते हैं ? परन्तु कवि ऐसा दंभी नहीं है। उसने केवल यह कहा है कि उसकी इच्छा विविध भाषाओं और ग्रंथों के प्रयोग की है। अपने पांडित्य का गर्व उसने नहीं किया। गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए उसने जिस नम्रता का परिचय दिया है वह द्रष्टव्य है :—

नर आयु तुच्छ फुनि क्ष्युद्र ज्ञान। विद्या प्रबंध बेहद प्रमान।।
द्विजवर उदार हरि चरन वंदि। क्रित कुंभकर्न लहु वर्न छंदि।।
अग्यान वचन अभ्रक प्रियेव। खिम्मता जोगि सामर्थ देव।।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रतन रासो की भाषा किसी देश-काल की सीमा में आबद्ध भाषा नहीं। वह कवि-समय की भाषा है। वैसे इस प्रकार की भाषा का प्रचार पूर्वी राजस्थान के सौती वर्ग के कवि-वृन्द में रहा है। मात्र कविता की भाषा होने के कारण ऐसी भाषा का नाम पिंगल ही बताया जाए तो अधिक अच्छा है। अन्य किसी शब्द से उस भाषा का अभिधान उतना सार्थक न होगा।

# २. कवि-परिचय

## (१) कवि-वंश परिचय तथा कवि की जीवनी

'रतन-रासो' के रचयिता कवि कुंभकर्ण का जन्म मारू चारणों की सांदू खांप में हुआ था। गौतम गोत्र के चारणों में उत्पन्न सांदू नामक व्यक्ति से ही यह सांदू खांप प्रारम्भ हुई थी। सांदू से कोई आठवीं पीढ़ी में सांदू चांगा हुआ जिसका पुत्र सांदू गोविन्द मारवाड़ के शासक राव गांगा (१५१५-१५३२ ई०) का समकालीन था और राव गांगा के ही निमित्त वह लड़ता हुआ युद्ध में काम आया था।[1] उस समय सांदू गोविन्द के पुत्र सांदू उदयकरण की अवस्था १४-१५ वर्ष से अधिक की नहीं थी, तथापि उस किशोरावस्था में ही सांदू उदयकरण ने युद्ध में बड़ी वीरता दिखाई और बहुत घायल होते हुए भी वह निरंतर युद्ध करता रहा। इन पिता-पुत्र के इस त्याग और वीरता के कारण ही राव गांगा ने इस सांदू घराने को विशेष महत्त्व दिया था और कवि कुंभकर्ण के अनुसार राव गांगा ने सांदू उदयकरण को 'कविराज' की उपाधि प्रदान की थी। बत्तीस विरुद वाला यही सांदू उदयकरण सन् १५४४ ई० में शेरशाह सूर की सेना के विरुद्ध राव मालदेव की ओर से लड़ता हुआ सुमेल के युद्ध में खेत रहा।[2]

सांदू उदयकरण के पुत्र सांदू माला अथवा मल्ल ने इसी परंपरा का पालन कर अपने सांदू वंश की प्रतिष्ठा और गौरव को और भी अधिक बढ़ाया। मारवाड़ के मोटे राजा उदयसिंह की सेवा में प्रारंभ से ही रह कर उसने उनकी ओर से अनेक युद्धों में अपनी वीरता दिखाई। अतः जब मोटा राजा मारवाड़ की राजगद्दी पर बैठा तब उसने सांदू माला का समुचित आदर-सम्मान कर अन्य यथोचित दान के साथ ही खुडाला गांव भी जागीर में दिया।[3] कवि कुंभकर्ण ने 'रतन-रासो' में अपने पितामह सांदू माला की मान-प्रतिष्ठा तथा महत्त्व का जो विवरण लिखा है वह अवश्य ही अत्युक्तिपूर्ण है।[4] परंतु अन्य ऐतिहासिक आधार-ग्रंथों में प्राप्य विश्वसनीय जानकारी से भी यह बात स्पष्ट है कि सांदू माला अपने समय का बहुत सुमान्य प्रतिष्ठित चारण कवि था। राजा-महाराजाओं के साथ ही मुगल दरबार में भी उसका आदर होता था। सांदू माला ने 'झूलणा अकबर पातसाह जी रा' नामक काव्य की रचना की थी जिसके लिये अकबर ने निस्संदेह उसे

---

१. वरदा, अप्रेल १९६४, पृ० ६; बांकीदास०, पृ० १७९, क्रमांक २१७६; रतन०, चतुर्थ, छं० सं० ४।
२. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० ५–२३।
३. विगत०, १, पृ० ३४९। खुडाला गांव (२६° ५३' उ०, ७३° २०' पू०) खींवसर से ८ मील दक्षिण-पश्चिम और भदौरा से १८ मील पश्चिम में है।
४. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० २४–७२।

पुरस्कृत किया होगा। सांदू माला कृत 'झूलणा दीवाण प्रतापसिंघ जी रा' और 'झूलणा अचला तिलोक कछवाहा रा' भी मिलते हैं।

सांदू माला के जीवन का अधिकांश भाग बीकानेर के राजा रायसिंह के साथ बीता था। अतः गुजरात-विजय के बाद सन् १५७२ ई० में जब जोधपुर राज्य का शासन-प्रबन्ध रायसिंह को सौंपा गया, तब रायसिंह ने नागौर परगने का एक गांव भदौरा[५] सांदू माला को दे दिया। सांदू माला ने 'झूलणा महाराज रायसिंह जी रा' काव्य की रचना की थी। राजा रायसिंह विषयक उसके कुछ स्फुट छंद भी मिलते हैं। जैसलमेर के रावल हरराज की पुत्री के साथ जब रायसिंह का विवाह हुआ तब सन् १५९३ ई० में उसने सांदू माला को भी एक हाथी प्रदान किया। रायसिंह के मुख्य मंत्री कर्मचंद बच्छावत के सन् १५९३ ई० के महत् दान पर भी सांदू माला ने एक छप्पय कहा था।[६]

मोटा राजा के देहान्त के बाद भी जोधपुर के राजघराने के साथ सांदू माला का निकट संपर्क बना रहा। मोटा राजा के उत्तराधिकारी, जोधपुर के राजा सूरसिंह ने सांदू माला को मेड़ता परगने में टप्पा डेगाना का गुंदीसर खुर्द गांव प्रदान किया।[७] मोटा राजा के चौथे पुत्र दलपत के साथ भी सांदू माला के सम्बन्ध बहुत घनिष्ट थे। अतः जब सांदू माला की पुत्री का विवाह हुआ तब दलपत ने तदर्थ सांदू माला को बहुत धन दिया था और हर तरह से उसकी सहायता भी की थी।[८] 'रतन-रासो' का चरित्र-नायक रतनसिंह इसी दलपत का पौत्र था।

सांदू माला के चार पुत्र हुए—जसवंत, सांवतसी, ईश्वरदास और आसकरण, जिनमें से प्रथम दो का वंश नहीं चला। 'रतन-रासो' का रचयिता कवि कुंभकर्ण सांदू माला के

---

५. यह भदौरा गांव (२६° ५२' उ०, ७३° ३७' पू०) कंकरवास से कोई सवा मील पश्चिम में और आसोप से कोई ५ मील उत्तर में है। 'रतन-रासो' (चतुर्थ०, छं० सं० ५४) में तथा साहित्यिक पत्र-व्यवहार में भदौरा का उल्लेख 'भवानीपुर' अथवा 'भवानीनगर' नाम से किया गया है। दिवाकर शर्मा ने 'विश्वम्भरा' (वर्ष १, अंक ४, पृ० ६७) में लिखा है—'भवानीपुर भावुण्डा का संस्कृत नाम है,' जो ठीक नहीं। भावुण्डा सर्वथा अलग एक बड़ा गांव है जो आसोप से कोई ९ मील उत्तर-पश्चिम में और भदौरा से साढ़े सात मील पश्चिम में है।

६. अ० ना०, ३, पृ० ८; तबकात०, २, पृ० ३७२–३७३; ओझा०, १, पृ० ३३९; दयाल०, २, पृ० ११८, १२५; तेस्सीतोरी०, बार्डिक पोएट्री, पृ० १५, ५९, ७८।
'राजा रायसिंघ री वेल' शीर्षक एक और काव्य ४३ छंदों का मिलता है, जो सेठ सूरजमल जालान लायब्रेरी, कलकत्ता, में प्राप्य प्रतिलिपि के उल्लेख के अनुसार 'सांदू माला री कही' है। नाहटा-बंधु कृत 'युग प्रधान जिनचंद सूरी', पृ० १०३–१०४।

७. विगत०, २, पृ० १९७; वरदा, अप्रैल १९६४, पृ० ५–६।

८. रतन०, चतुर्थ०, छ० सं० ६८–७२।

तीसरे पुत्र ईश्वरदास का एकमात्र पुत्र था। चौथे पुत्र आसकरण के भी सांवतसी नामक एक ही पुत्र का उल्लेख मिलता है।[९] सांदू ईसरदास 'रतन-रासो' के चरित्र-नायक का समकालीन था। रतनसिंह के दरबार के प्रमुख कवियों में उसकी गणना होती थी। सांदू ईसरदास ने भी रतनसिंह का यश-वर्णन किया था,[१०] परंतु आज उसका वह काव्य प्राप्य नहीं है। रतनसिंह के पिता महेशदास की प्रशंसा में लिखा सांदू ईसरदास का एक गीत अवश्य मिला है जो इस ग्रंथ के परिशिष्ट (१) में दिया जा रहा है। ईसरदास का देहांत धरमाट के युद्ध के कई वर्ष बाद ही हुआ था। नैणसी के अनुसार ईसरदास सांदू सन् १६६३-१६६४ ई० में विद्यमान नहीं था।[११] कुंभकर्ण स्वयं भी लिखता है कि ईसरदास का देहांत हो जाने पर राजा (रामसिंह) ने एक सहस्र रुपये (की धरती) का पट्टा ईसरदास की छत्री पर चढ़ाया था, जिसमें अपनी ओर से कुछ और मिलाकर कुंभकर्ण ने वह सारी धरती ब्राह्मणों को दान कर दी।[१२]

कुंभकर्ण[१३] का जन्म नागौर परगने के उसी भदौरा गांव में हुआ था, जो उसके भाई-बंट का गांव था। कुंभकर्ण के जन्म-संवत् का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है, परंतु उसके जीवन की ज्ञात घटनाओं पर विचार करने से यही अनुमान होता है कि कुंभकर्ण का जन्म सन् १६४० ई० के लगभग हुआ होगा। कुंभकर्ण की शिक्षा क्या, कहां तथा किसके निर्देशन में हुई इसका भी कोई वृत्तांत प्राप्य नहीं। 'कुंभकर्ण' ने 'रतन-रासो' में अवश्य ही कई बार अपने समकालीन विद्वत्प्रवर महाकवि हरिद्विज का उल्लेख अपने गुरु के रूप में किया है।[१४] इसके अतिरिक्त तद्विषयक और कोई उल्लेख या जानकारी अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिली है।[१५] परंतु गहराई के साथ 'रतन-रासो' का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुंभकर्ण का अध्ययन बहुत ही विस्तृत तथा साथ ही गंभीर था। कौमार्य-काल से ही कुंभकर्ण ने काव्य-रचना प्रारंभ कर दी थी और युवावस्था को प्राप्त होते-होते उसकी काव्य-शक्ति का चमत्कार सुस्पष्ट होने लगा था। कवि

---

९. बांकीदास०, पृ० १७६, क्र० २१७६; विगत० १, पृ० ३४६; २, पृ० १६७; वरदा, अप्रैल १६६४, पृ० ५–६।

१०. रतन०, चतुर्थ, छं० सं० ७७; उज्जैन-समय, छं० सं० ८५—पं० २७।

११ विगत०, १, पृ० ३४६; २, पृ० १६७।

१२. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० ७५–७६।

१३. सीताराम लालस के अनुसार कवि कुंभकर्ण का जन्म नाम दलपत था (राजस्थानी सबद-कोस, प्रस्तावना, पृ० १५४)। परंतु यह कथन सही नहीं है। दलपत तो कुंभकर्ण का पुत्र था।

१४ रतन०, तृतीय०, छं० ६–पं० ५६, छं० सं० ७–८, ११, ३१; उज्जैन०, छं० सं० ४, छं० सं० २००–पं० १४, ६१।

१५. महाकवि हरिद्विज तथा उसके अनुज हरिदेव की प्राप्य कृतियों आदि से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि हरिद्विज भी तब भदौरा (भवानीपुर) में निवास करता

स्वय भी तब से अपनी काव्य-शक्ति के प्रभाव तथा अपने निजी महत्त्व को पूरी तरह से समझने लगा था। यही कारण था कि अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप हुए बिना वह कदापि किसी की भी कोई भेंट स्वीकार नहीं करता था।

जोधपुर के राजघराने के साथ कवि कुंभकर्ण का वंश-परंपरागत संबंध था, अतः वह यदा-कदा महाराजा जसवंतसिंह की सेवा में पहुँच जाता था। सुविख्यात है कि एक बार[१६] ऐसे ही कई दिन उनकी सेवा में रहने के बाद कवि कुंभकर्ण ने जब वहां से प्रस्थान के लिए अनुमति चाही, तब महाराजा जसवंतसिंह ने विदाई में उसे घोड़ा, सुवर्ण कंकण और मोती-सिरोपाव देना चाहा। परन्तु कवि ने हाथी से कम लेना स्वीकार नहीं किया और विदाई में बिना कुछ लिये ही वहां से चल दिया। तब राह में कुछ ही समय बाद कवि को बीकानेर का राजकुमार केसरीसिंह मिला। केसरीसिंह औरंगजेब का विशेष कृपा-पात्र था और उसी दिन औरंगजेब ने उसे रुपहरी हौदे सहित एक हाथी प्रदान किया था। केसरीसिंह तब उसी हाथी पर सवार था। कवि ने केसरीसिंह की प्रशंसा में कुछ दोहे कहे जिन्हें सुन कर केसरीसिंह तत्काल हाथी पर से उतर पड़ा और वह हाथी कवि कुंभकर्ण को प्रदान कर दिया।[१७] केसरीसिंह के इस दान की प्रशंसा में भी कुंभकर्ण ने तब कुछ छंद कहे थे।

रतलाम के राजघराने के साथ भी कुंभकर्ण का घनिष्ठ संबंध बना रहा। अतः कुछ अधिक प्रौढ़ होने पर जब उसे विस्तृत प्रबंध-काव्य की रचना करने की प्रेरणा हुई तब उसने स्वयं सोचा कि—

जिय पाये रतलाम पुर जालंधर साँचौर।
अधिकौ रतन महेस तै अधिक कहूँ कहँ और ॥[१८]

---

था और कवि कुंभकर्ण के साथ इन दोनों बंधुओं का बहुत ही घनिष्ठ संपर्क था। परंतु कवि कुंभकर्ण हरिद्विज का कब शिष्य रहा था और उससे कुंभकर्ण ने क्या-कुछ सीखा था, आदि प्रश्नों पर कुछ भी प्रकाश डाल सकने वाली कोई जानकारी या उल्लेख अब तक कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। राजस्थान-भारती, वर्ष ३, अंक २, पृ० ५३–५५; विश्वंभरा, वर्ष १, अंक ४, पृ० ६६–७२; वर्ष २, अंक ३, पृ० १३९–१४१।

१६. यह घटना कब घटी इसका कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। मई, १६६५ ई० से अगस्त १६६६ ई० तक महाराजा जसवंतसिंह निरंतर शाही दरबार में रहा था, अतः अनुमान यही होता है कि इसी काल में यह घटना घटी होगी। उसके बाद फिर कभी जसवंतसिंह शाही दरबार में नहीं रहा। रेऊ०, १, पृ० २३५-६।

१७. परंपरा, भाग ६-७, राजस्थानी बात-संग्रह, पृ० १७३-१७५।

१८. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० ७९।

अतः उसने 'रतन-रासो' की रचना की। 'रतन-रासो' की रचना का कार्य सन् १६७३ ई० के लगभग प्रारंभ हो गया होगा और तदनंतर पूरे बारह वर्ष तक वह चलता ही रहा। 'रतन-रासो' के रचना-काल आदि का विस्तृत विवेचन आगे दिया जावेगा। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि कवि कुंभकर्ण की आज प्राप्य रचनाओं में 'रतन-रासो' ही प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण कृति है।

कवि कुंभकर्ण का लिखा हुआ एक अपूर्ण ग्रंथ प्राप्त है, जिसका नाम 'कनवजपति जयचन्द अष्ट पातसाह गुन समइये' अथवा 'जयचंद-रासो' मिलता है। इसकी अब तक दो-तीन प्रतियों का ही पता लगा है, जिनमें अन्तिम छंद की संख्या ४५२ है। इसी काव्य के छं० सं० ४४९ और ४५० को दयालदास ने अपनी ख्यात में उद्धृत कर उन्हें 'अष्ट–रतनाकर' से लेने का उल्लेख किया है।[१९] 'रतन-रासो' के तृतीय अध्याय की पुष्पिका में भी 'काव्य अष्ट-रतनाकर' का उल्लेख है,[२०] जिससे एक अनुमान यह भी होता है कि उपर्युक्त 'जयचंद-रासो' तथा 'रतन-रासो' कवि कुंभकर्ण रचित 'अष्ट रतनाकर' नामक काव्य-ग्रंथ के ही दो अलग-अलग खण्ड हैं। इस विषय पर विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा। यह बात तो स्पष्ट ही है कि प्राप्य प्रतियां अपूर्ण होने के कारण जयचंद-विषयक इस काव्य के रचना-काल के बारे में कोई निश्चित बात नहीं की जा सकती है। 'रतन-रासो' की ही तरह यह भी कवि की एक प्रौढ़ रचना है एवं बहुत संभव है कि 'रतन-रासो' के साथ ही या उसके बाद कवि कुंभकर्ण ने यह काव्य लिखा होगा।

राजस्थान के प्रायः सब ही प्रमुख राजघरानों के साथ कवि कुंभकर्ण का संबंध था। यही कारण था कि उन सब ही राजा-महाराजाओं के राज-दरबार में पहुँच कर उसने अपना 'रतन-रासो' काव्य उनको सुनाया था। परंतु राठौड़-वंशीय राजघरानों के साथ उसका जो विशेष संबंध था उसी के फल-स्वरूप उसके कई स्फुट गीत और काव्य उनके बारे में मिलते हैं। महाराजा जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद जोधपुर के राजघराने के प्रमुख संरक्षक वीरवर दुर्गादास राठौड़ की वीरता की भी उसने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[२१]

---

१९. राजस्थानी सबद-कोष, प्रस्तावना, पृ० १०४। पं० रामकरण आसोपा, जोधपुर, के संग्रह में प्राप्य इस काव्य की प्रति की प्रतिलिपि सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय, कलकत्ता, में संगृहीत है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, में अब संगृहीत गुटका ग्रंथ संख्या २०१५० (५) ही संभवतः पं० रामकरण आसोपा के संग्रह की उपर्युक्त मूल प्रति है। दयाल०, १, पृ० ३७, ४१; जयचंद०, पृ० ४८–४९।

२०. रतन०, तृतीय०, छं० सं० ३७ के बाद दी गई उस अध्याय की पुष्पिका।

२१. वरदा, अप्रेल १९६४, पृ० ५–१५; राजस्थानी सबद-कोस, प्रस्तावना, पृ० १५४–५। भीमड़ा नदी का यह युद्ध महाराष्ट्र में चाकण के पास शाहजादा अकबर और मुगल सेनाओं के बीच जून, १६८४ ई० में हुआ था, जिसमें दुर्गादास शाहजादा अकबर की ओर से लड़ा था। औरंग०, ४, पृ० ४६४–५; नुस्खा-इ-दिलकश, १, पृ० १९९–२००।

बीकानेर के महाराजा अनूपसिंह ने सन् १६८४–८५ ई० में भटनेर (वर्तमान हनुमानगढ़) परगने के अन्तर्गत जलाणा गांव कवि कुंभकर्ण को प्रदान किया था।[२२]

कवि कुंभकर्ण ने दक्षिण भारत की भी यात्रा की थी और कई वर्ष तक वह उधर ही घूमता-घामता रहा था। ऐसा अनुमान होता है कि सितम्बर, १६८१ ई० में जब औरंगजेब के साथ ही रतलाम का शासक, रामसिंह, भी अपने सैनिकों को ले कर दक्षिण चला गया था, तब उसके साथ कवि कुंभकर्ण भी दक्षिण गया होगा। रामसिंह के देहावसान के बाद समुचित अवसर पाकर सन् १६८३ ई० के लगभग वह वीरवर दुर्गादास राठौड़ के द्वारा शंभाजी के पास पहुँचा होगा और उसे अपना यह काव्य सुनाया होगा। दक्षिण में ही तदनंतर अगले वर्ष उसे जलाणा गांव मिला था। दिसम्बर २७, १६८४ ई० को रतलाम का नवयुवा शासक शिवसिंह अहमदनगर में शाही दरबार में पहुँचा और कोई तीन माह वहीं ठहरा रहा।[२३] उसी काल में कवि कुंभकर्ण ने उसे अहमदनगर में ही 'रतन-रासो' सुनाया होगा तथा बाद में उस काव्य को संपूर्ण कर दिया होगा।

तदनंतर कवि कुंभकर्ण कब तक दक्षिण में ठहरा रहा इस बारे में निश्चयात्मक रूपेण कुछ भी नहीं कहा जा सकता। दुर्गादास की प्रशंसा में कहे गये छंदों से यह अनुमान होता है कि भीमड़ा के युद्ध सम्बन्धी वह सारा विवरण कवि कुंभकर्ण ने तब सुदूर दक्षिण में ही सुना होगा। उसके बाद ही सन् १६८६ ई० के अन्त के लगभग वह वापस मारवाड़ को लौट गया होगा। कवि कुंभकर्ण की मृत्यु कब हुई इसका भी कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

कवि कुंभकर्ण राजस्थानी के साथ ही संस्कृत का भी अच्छा विद्वान् था और संस्कृत में भी काव्य-रचना करता था ऐसा उल्लेख मिलता है, यद्यपि उसकी कोई भी संस्कृत रचना आज प्राप्य नहीं है। कुंभकर्ण विद्वानों का आदर करता था और उन्हें हर तरह से प्रोत्साहित करता था। उसकी ही प्रेरणा से महाकवि हरिद्विज ने 'दुर्ग-प्रशस्ति' नामक संस्कृत काव्य की रचना की थी।[२४]

कवि कुंभकर्ण की अपने जीवन-काल में बहुत प्रतिष्ठा थी। हरिदेव कवि ने अपने 'विचित्र पत्र' में उसको 'कवीश्वर,' 'चारणेन्द्र' और 'कवीन्द्र मौलि' लिखा है।[२५] अनेकानेक राजा-महाराजाओं ने उसे सम्मानित किया था। उसकी मृत्यु के बाद भी उसकी गणना राजस्थान के बड़े उल्लेखनीय कवियों में होती रही। कविराजा सूर्यमल्ल मिश्रण ने चारण जाति में उत्पन्न सर्वश्रेष्ठ छः कवियों की सूची में कविवर कुंभकर्ण की भी गणना करते हुए लिखा है कि—

---

२२. दयाल०, २, पृ० २१६।

२३. रतलाम०, पृ०, २९७–३००।

२४. हरिदेव कवि का विचित्र पत्र; विश्वम्भरा (बीकानेर), वर्ष १–अंक ४, पृ० ६६-७२।

२५. विश्वम्भरा, वर्ष १–अंक ४, पृ० ७१; हरिदेव कवि का विचित्र पत्र, पद्य सं० १८९, १९१–१९२, १९८।

चारन नरहरिदास, कुंभकरन पूरन सुकवि।
ईसरदास रु आस, बदरीदास हुकमेस बलि।।[२६]

पुनः १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दयालदास ने भी अपनी ख्यात में जयचंद विषयक विवरण लिखते समय कुंभकर्ण कृत छंदों को उद्धृत किया था।[२७]

कविवर कुंभकर्ण के तीन पुत्रों का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम मुकुंददास, इंद्रभानु और दलपति थे।[२८] इनमें से दलपति ने ही आगे चलकर काव्य-साधना की थी, अतः केवल उसी के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्य है। 'रतन-रासो' में कवि ने दो बार अपने पुत्र का उल्लेख किया है, परंतु उसका नाम नहीं दिया। सारी बातों पर विचार करने से अनुमान यही होता है कि ये उल्लेख उक्त 'दलपत' अथवा 'दलकरण' के ही हैं। कवि ने 'रतन-रासो' की रचना कर उसका अर्थ अपने इस पुत्र को सिखाया और उससे उसका गान करवाया। तदनंतर उस पुत्र का विवाह कर उसे राजसभा में उपस्थित किया और उससे राजा (शिवसिंह) की चरण-वंदना करवाई। अपना काव्य 'रतन-रासो' सुनाने के लिये जब कवि कुंभकर्ण राजा शिवसिंह के दरबार में पहुँचा था, तब उसका यह पुत्र भी उसके साथ था।[२९] दलपत स्वयं भी एक अच्छा विद्वान और सुकवि था। सांभर के युद्ध में सवाई जयसिंह की वीरता संबंधी एक गीत मिलता है जिसकी रचना दलपत सांदू ने की थी। कुंभकर्ण की उत्तर-परंपरा में दलपत का पुत्र अनोपसिंह सांदू तथा जोधपुर के महाराजा मानसिंह का दरबारी कवि चैनकरण सांदू विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं।

## (२) कवि का कृतित्व

महाकवि कुंभकर्ण की समस्त रचनाओं का अन्वेषण अभी तक नहीं हो पाया है। उसने एक ओर चंद भक्त होने के कारण पृथ्वीराज रासो की परंपरा में पिंगल काव्य-रचना की है तो दूसरी ओर जन्मना चारण होने के कारण डिंगल गीतों की भी रचना की है। संस्कृत में भी काव्य-रचना की हो तो आश्चर्य नहीं। श्री दिवाकर शर्मा ने हरिदेव कवि का विचित्र पत्र नामक लेख में लिखा है कि "भावुंडा में उस समय कुंभकर्ण नाम के एक संस्कृत कवि चारण भी रहते थे।" हरिदेव के पत्र में कुंभकर्ण को ११ काव्य भेजे जाने का उल्लेख है पर यह स्पष्ट नहीं होता कि वे काव्य किसके द्वारा रचित हैं। पत्र में कुंभकर्ण का उल्लेख कवि के रूप में किया गया है—'कवि श्री कुंभकर्णाय वाक्यमाशी र्वचस्तथा।' परंतु कुंभकर्ण की संस्कृत रचनाओं के विषय में कोई निश्चयात्मक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

---

२६. वंश-भास्कर, १, पृ० ३१।
२७. दयाल०, १, पृ० ३७-४१।
२८. विश्वम्भरा, १—अंक ४, पृ० ७१; हरिदेव कवि का विचित्र पत्र, पद्य सं० २०१-२०२।
२९. रतन०, तृतीय०, छं० सं० १७; उज्जैन०, छं० सं० २०२।

कुंभकर्ण की पिंगल रचनाओं में दो का उल्लेख पं० हरिनारायण पुरोहित ने 'रघुनाथरूपक' की भूमिका में किया था। वे हैं—'रतन रासो' और 'भारत कथा।' राजस्थानी सबद कोस के प्रथम खंड की प्रस्तावना में श्री सीताराम लालस ने 'जयचंद-रासो' और दुर्गादास पर रचित दो गीतों का उल्लेख किया है। पं० रामकर्ण आसोपा के संग्रह में रतन रासो के अतिरिक्त 'कनवजपति जयचंद अष्ट पातसाह गुन समइये' की प्रति प्राप्त थी जो संप्रति राजस्थान शोध मंदिर, जोधपुर में विद्यमान है। उसकी एक प्रति कलकत्ते के सूरजमल जालान पुस्तकालय में है और उसकी एक प्रतिलिपि रघुवीरसिंह जी के पास है। इसके अतिरिक्त रतन रासो की अध्याय समाप्ति पर 'काव्य अष्ट रतनाकर' का उल्लेख हुआ है जिसका अंश रतन रासो है। दयालदास की ख्यात में 'काव्य अष्ट रतनाकर' के कुछ चरण उद्धृत हैं जो वस्तुतः 'कनवजपति जयचंद अष्ट पातसाह गुन समइये' में हैं।

सम्यक् विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुंभकर्ण कृत पिंगल रचनाओं में से संप्रति दो ही प्राप्त हैं। एक रतन रासो और दूसरी 'भारत कथा' अथवा 'जयचंद रासो' अथवा 'कनवजपति जयचंद अष्ट पातसाह गुन समइये।' 'रतन-रासो' का तो विवेचन आगे है ही। यहाँ इस दूसरी रचना का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। इसका सातवां दोहा इस प्रकार है :—

कह प्रसन्न कवि गजपति नगपति सकति मनाय
आदि मध्य अवसान वत भारत कत्थ बनाय।।

इस दोहे के 'भारत कत्थ' शब्द से ग्रंथ के 'भारत कथा' नाम की कल्पना हुई प्रतीत होती है। ग्रंथ का नायक जयचंद है, अतः इसके नाम की 'जयचंद रासो' के रूप में कल्पना की गई होगी। रचना अपूर्ण ही प्राप्त हुई है अतः कहा नहीं जा सकता कि समाप्ति पर कवि ने क्या नाम दिया था। संभव है वहाँ 'जयचंद रासो' नाम दिया हो। 'कनवजपति जयचंद अष्ट पातसाह गुन समइये लिख्यते' विवरण मात्र है; ग्रंथ-नाम नहीं। आरंभ में कुछ और तथा अंत में कुछ और नाम देने की प्रथा चारणी साहित्य में अन्यत्र भी मिलती है। 'वचनिका राव रतनसिंघ जी री महेसदासोतरी खिडिया जगा री कही' (विवरणात्मक नाम) के अंत में 'इति रतनरासो संपूर्णम्' लिखा है। इसी प्रकार संभव है कि इस रचना के अंत में 'जयचंद रासो' नाम दिया हो।

परंतु इस 'जयचंद रासो' के ही कुछ चरणों को उद्धृत करते हुए दयालदास ने उन्हें 'काव्य अष्ट रतनाकर' से उद्धृत बताया है। इस नाम का उल्लेख 'रतन-रासो' में भी तृतीय अध्याय के अन्त में हुआ है। इस सब से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि 'काव्य अष्ट रतनाकर' (जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है) कुंभकर्ण की पिंगल रचनाओं का संग्रह है जिसको उसने आठ अध्यायों में विभक्त किया है। 'जयचंद रासो' संभवतः प्रथम अध्याय है। दूसरे अध्याय और तीसरे अध्याय के पूर्वार्ध में संभवतः जयचंद से लेकर जोधपुर नरेश

बाधा तक का उल्लेख था। तीसरे अध्याय का उत्तरार्ध प्राप्त है जिसे रतन रासो का प्रारंभिक भाग माना जाता है। चौथे और पांचवें अध्याय का उल्लेख तथाकथित 'रतन-रासो' में प्राप्त है। छठे अध्याय की समाप्ति पर 'काव्य अष्ट रतनाकर' नाम न देकर केवल 'रतन-रासो संपूर्णम्, लिखा है। इस अध्याय के आरंभ में 'उज्जैन-समय' लिखा है। रतन-रासो शब्द का उल्लेख केवल अंत में आता है अन्यत्र कहीं नहीं। संभव है कवि ने 'उज्जैन' समय को ही 'रतन रासो' संज्ञा दी हो। 'काव्य अष्ट रतनाकर' के अंतिम दो अध्याय कवि के आश्रयदाता और रतन के पुत्र-पौत्र महाराज रामसिंह और शिवसिंह से संबंधित रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

अस्तु, रतन रासो का विवेचन तो आगे है ही, यहाँ 'जयचंद रासो' अथवा 'समइये' का ही परिचय अपेक्षित है। इस काव्य में कवि का वह पक्ष अधिक प्रबल है जो 'रतन रासो' में उपेक्षित रहा है। 'रतन रासो' का कवि वीर काव्य का कवि है; युद्ध का उपासक है। शृंगार में उसकी रुचि नहीं। अपने युग की परंपरा का पालन करने के लिए उसने शृंगार के दो प्रसंग निकाले। एक कहर कोह वध के उपरान्त शाही हरम की रमणियों का नखशिख वर्णन और दूसरा धरमाट युद्ध से पूर्व रतनसिंह के अपनी रानियों से मिलने का प्रसंग। परन्तु दोनों ही स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने परंपरा-पालन मात्र के लिए इन शृंगारी प्रसंगों की उद्भावना की। अन्यथा न तो शृंगार चित्रण उसके स्वभाव में है और न उसे रुचिकर ही प्रतीत होता है। 'जयचंद रासो' की स्थिति सर्वथा भिन्न है। आरंभिक उल्लेख से तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वीर रस का विकट परिपाक हुआ होगा पर आद्योपान्त (यद्यपि रचना अपूर्ण है) पारायण करने पर ऐसा लगता है मानो कवि ने अपने युग-धर्म का पालन मात्र किया है। कुंभकर्ण से पूर्व महाकवि केशव हो चुका था। उसके कवित्व से कुंभकर्ण अभिभूत था। चंद और केशव दो ही भाषा कवि थे जिनका उल्लेख कुंभकर्ण ने आदर के साथ किया है। अतः उनकी परंपरा में शृंगार की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक था। पर आश्चर्य है कि उसकी यह प्रवृत्ति रतन रासो में सर्वथा लुप्त हो जाती है। 'जयचंद रासो' अवश्य परंपरा-भुक्त रचना है।

'जयचंद रासो' की परंपरा-भुक्तता को स्पष्ट करने के लिए तत्कालीन काव्य परंपरा का स्मरण यहाँ आवश्यक है जिसका उल्लेख पूर्व पीठिका में किया जा चुका है। कुंभकर्ण कालीन कवि रीति-ग्रंथों के अध्ययन के बल पर रचना करते थे। उनके वर्णन के विषय सीमित थे। नायिका के नख-शिख का वर्णन, नायक के अष्टयाम का उल्लेख, अष्टयाम के विवरण में स्नान, दान, वस्त्र धारण, भोजन, आखेट, सौन्दर्य-भोग आदि के विस्तृत ब्यौरे होते थे। कवि अपने पांडित्य के बल पर विवरण सूचियां विस्तृततर करते जाते थे। इनके अतिरिक्त सैन्य वर्णन में भी हाथियों, घोड़ों आदि की विविध जातियों के उल्लेख काव्य न रह कर शालिहोत्र के प्रसंग बन जाते थे। शस्त्रास्त्रों की नामावली भी कवि के पांडित्य का उद्घाटन अधिक करती थी; कवित्व का कम। नखशिख-वर्णन में भी वे ही घिसे-पिटे उपमान क्रम परिवर्तन के साथ मिल जाते थे। 'जयचंद रासो' में ऐसी काव्य

परिपाटी का पालन द्रष्टव्य है यद्यपि कुंभकर्ण के जन्मना मेधावी कवि होने के कारण उसका कवित्व सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो पाया है। पर वह उतना प्रकट भी नहीं हुआ है जितना रतन रासो में। संभवत: जयचंद रासो कवि की अपक्व अवस्था की रचना है और रतन रासो प्रौढ़ लेखनी से प्रसूत है।

'जयचंद रासो' के प्राप्त अंश की कथा केवल इतनी है :—चंद कवि जयचंद के दरबार में रह कर पृथ्वीराज के पास लौटता है तो उससे पूछा जाता है कि जयचंद ने एक ही युद्ध में आठ शाहों को कैसे परास्त किया। वे उसे कहां मिल गये।

तुम हु कहिय यक्कह दिवस यक जुध यक्कहि थान।
कहहु चंद किह विध गहे अष्ट विकट सुलतान।

इस प्रश्न के उत्तर में कवि जयचंद के यश और उसके सैन्य-संग्रह का वर्णन करता है। फिर दक्षिण दिग्विजय का वर्णन करता है। जयचंद अपने पुत्र प्रतापचंद को कन्नौज का रक्षाभार सौंप कर दिग्विजयार्थ जाता है। वह मार्ग में गोलकुंडा आदि स्थानों से होता हुआ सिंहल द्वीप पहुँचता है। वहाँ सिंहल नरेश विक्रम की पुत्री पद्मावती से उसका विवाह होता है। वह पद्मावती के साथ उपवन में विलास करने के लिए रुक जाता है। उसे वहाँ रुके छह मास हो जाते हैं तो उत्तर दिशा के आठ सुल्तान कन्नौज पर आक्रमण करने का सुंदर अवसर समझ कर चल पड़ते हैं। सूचना मिलने पर प्रतापचंद्र अपने पिता के पास पत्र भेजता है और उसे आगत संकट से अवगत कराता है। जयचंद अपने रागरंग और मृगया विहार को छोड़ कर कन्नौज की दिशा में प्रस्थान करता है। इसी स्थल तक का पाठ संप्रति प्राप्त प्रतियों में दिया गया है। यहाँ अपूर्ण रह जाने के कारण पता नहीं चलता कि आगे युद्ध कैसे हुआ और अष्ट शाह प्रग्रहण कैसे क्रियान्वित हुआ। उस प्रसंग में वीर रस का परिपाक होने की आशा भी की जा सकती है। पर जितना पाठ प्राप्य है वह वीर-रस-प्रधान नहीं कहा जा सकता। शृंगार के उपादानों का समायोजन करने का यत्न तो अवश्य है पर सफलता नहीं मानी जा सकती। रीति ग्रंथों के निर्देशों का अनुसरण करने वाले कवियों की रचनाओं में जैसे वर्णन मिलते हैं वैसे ही वर्णन इस काव्य में भी हैं।

कवि ने चंद द्वारा जयचंद के बल-पराक्रम और यशोविस्तार के वर्णन से आरंभ किया है। उसकी आठ सेनाओं की प्रचंडता का वर्णन करते हुए कहा है—

गरजत निसान भद्दव घुरह उड गरद्द मुंदिय महर ॥

सूर्य को आच्छन्न करने वाली सेना में किस-किस सामन्त के घोड़े अर्पित हैं, इसका वर्णन पद्धरी छंद में विस्तार से किया गया है। वर्णन की भाषा और शब्दावली का रतन रासो की भाषा और शब्दावली से पर्याप्त साम्य है—

भंजनिय राय संकल पयाल । धरहरिय मीर अग्गल सुढ़ाल ।।
संकटै स्याम संनाह सार । सरनाय अभै पंजर प्रकार ।।

सामन्तों द्वारा प्रदत्त अश्वों के वर्णन के पश्चात् गज वर्णन है—

मयमत अनंत आदर बनाय । मन धरत स्याम तहां धरत पाय ।।
इक लख गयंद मेंगल मतंग । वर जोर जोर तर जोर वंग ।।
छंछाल छक्क छह रित्ति पार । नव उगनि लोह उल संक धार ।।
स्यंघलिय स्याम कंदल विहार । गिर रतन हवस दरियाव पार ।।

..................................................................................................

दुव वर कपोल झरना झरंत । झंकार वार भृंगनि भ्रमंत ।।

..................................................................................................

झंपत झनंक चपला चमंक । नग जटित विवह दीपनि दमंक ।।

..................................................................................................

हिल चलिल भूमि तलजल छछोह । भद्दवं कि होत कद्दव समोह ।।
खलहलत सद्द लंगर प्रवाह । घुग्घर किसोर दद्दुर उमाह ।।
पक्खर सुपरह भक्खर लगाय । हकि इक्क जंत्र मंत्रहि वलाय ।।

गज वर्णन के पश्चात् शस्त्रास्त्रों का वर्णन है—

जंबूर वान चंगी तुपक्क । हुन्नर फिरंग अस तोप चक्क ।।
सत सत्त जुट वृखभन समेल । इक इक्क तोप दुव पंच वेल ।।
मैदान मुलक बड्डी कुसाब । बीजली बाघ लै लै सिताव ।।

इस प्रकार के सैन्य बल से दशों दिशाओं को सुरक्षित रखने वाले जयचंद ने प्रतापचन्द्र को कन्नौज शासन सौंपा और स्वयं दशों दिशाओं को रज से आच्छन्न करते हुए, धरा को विकंपित करते हुए, युद्धवाद्यों की ध्वनि के साथ प्रयाण किया—

चढ्यौ पंग राजं विराजं विवानं । कजे भेर भुंकार घोर निसानं ।।
धंमकै धरानं सिरं सेस धंपे । कमट्ठं हठं निट्ठुरं पिट्ठ कंपे ।।
विदस्सं दिसं धुंध रुंधे निमानं । खहंचार आचार थक्के विवानं ।।

..................................................................................................

भयं व्याकुलं व्याल पाताल संगे । वृंखानं भयं कोल तुंडं उतंगे ।।
कमट्ठं हठं पिट्ठ तक्क तरक्कं । फनं ईस भेसं सहस्सं सरक्कं ।।
अपारत्थ भारत्थ रै झट्ट झट्टं । समस्या करं तौल भूगोल नट्टं ।।
जुफैनं झमंकं भभक्कंत झालं । मनो द्रोन सजीवनी दीप मालं ।।

जयचंद के सैन्य के कौतुक को देखने के लिए देव गण विमानों में आरूढ़ होकर आ गए—

कौतक विमान पिक्खत अमर, चढत राज जयचंद हय ।

हनुमंत फाल छंद में सैन्य प्रमाण के प्रभाव के वर्णन पुनः द्रष्टव्य हैं—

रस होय अद्भुत छंद । पिख चढ़त हय जयचंद ।
धर पुरन खेह उडंत । द्रिग अनल विनल तपंत ।
नन परसि पर वयताह । नन पसिहि पसि हित चाहि ।
पर कहर वृच्छ उडंत । भरहरत भूमि पतंत ।

दिग्विजय यात्रा में जयचंद ने उत्तर–ईशान के नगरों पर विजय प्राप्त करके 'पंजाव-जुग्गनि थान' (दिल्ली) पर विजय प्राप्त की । मरुस्थल का अवगाहन किया । प्राच्य समुद्र से प्रतीच्य समुद्र पर्यंत विजय प्राप्त की । मालव, कोंकण, त्रिलिंग, गोलकुंडा आदि का मान मर्दन किया । गोलकुंडा की ऐदलशाही पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है, जो काल दोष है । यों दक्षिण विजय करते हुए जयचंद सिंहल पहुँचता है जहां 'विक्रम सु नाम प्रसस्त । नृप दीप सिंहल पत्त ।' है । उसके बत्तीस लक्षणों वाली पुत्री पद्मावती है जिसकी एक सहस्र सखियां हैं । उसे भेंट करने के लिए जयचंद ने मांग भेजी । विक्रम ने अपने मंत्री विमलानंद और पुरोहित नारद को जयचंद के पास भेजा । वसंत पंचमी का विवाह निश्चित हुआ । तोरण वंदन के वर्णन के पश्चात् दर्शक महिलाओं के नख-शिख का वर्णन है :—

दुति योख गौख दासन झमंक । चपलानि चित्त नव घन चमंक ।।
मधि वसन अंग झलहल झलक्क । मनु कच्च दीप भोडल झलक्क ।।
चल वसन वदन अंबुज विधान । अन दुरत दुरत ससि घन अमांन ।।
नासिका पोहपति भवन जीव । विन बाल वाल सज्जेह हीव ।।
मोहन ससंकि नहि बंक भेद । उर नमति चाप संताप खेद ।।
चंचल सुनैन अंचल अगच्छ । खंजनक मीन मृगनीन वच्छ ।।

ऐसी सुन्दरियां आरती उतारती हैं । उसके पश्चात् भोजन का वर्णन है—

धूधा अनफल नृधा साक विंजन पंचांगर ।
वर खटरस मिश्रत विविध रंग अंसत सुगंधकर ।।
तूप लवँग केसर कपूर गोरस विधान जुग ।
भख्य भोज्य लेहाज्ज पेय जस जस प्रकार भुग ।।
जल गंग त्रपत आहार नृप कर प्रछाल मुख सुद्ध कर ।
अप्पिय तँवोर घनसार सम सभ विसर्ज चल्लिग अँदर ।।

उसके पश्चात् वधू की वेश सज्जा का वर्णन है । रूप-शृंगार के इस वर्णन में कवि का मन रमा है—

सत्थ विप्र गुरजन समूह कर लगन सभट क्रम ।
मिलि जुवतन मंगल सुगंध कुसुम सिनान सम ।।

वसन दिव्य धूपित स्सुवार कवरिय सुगंध कर ।
गुंथ पोहप मुगता सुमंग फारन अचंभ भर ।।
सीस फूल भूखन तिलक नक वेसर गुन ग्रीव धर ।
कबरिय प्रबंध कर मेखला भुज भूखन जेहरि पहर ।।
चरन कमल कर कमल जुग सुंदर वदन शृंगार ।
नपुर कंकन मुद्रिका उर पर नौसर हार ।।
मुकतामन संसर्ग बल कुंदन कलुस विकार ।
वुध विचित्र निर्दोखकृत गवर अर्प शृंगार ।।

अपने इस रूप से पद्मावती जयचंद को मोहित करती है ।

यहां कवि ने पदमावती की सखियों का रूप-वर्णन किया है । 'अलि' शब्द के श्लेष की भी छटा दिखाई है ।

अलि श्वेत पीत रुस्याम मं । चिहुं और पारस भामयं ।
अग्यात मदन नरेसयं । प्रति रम्खति जतन प्रवेसयं ।
+ + + +
तल अरुण चरण विरंचयं । झल हलक जावक कच्चयं ।
पद अंगुलिय चंपक कलो । कृत कतक अगनी झलमली ।
मंजीर रव धुनि मंदयं । तस वरन ओपम चंदयं ।
ससि भमर पीत सुभेसयं । मन मत्त काम नरेसयं ।
+ + + +
अत झीन लंक वखानयं । धन रंक हर उनमानयं ।
+ + + +
वन रोमराजिय सेनयं । प्रतव्यंव झलकत वेनयं ।

यह नखशिख वर्णन पर्याप्त विस्तृत और ब्योरेवार है । अस्तु, ऐसी सुंदरी एक सहस्र सखियों और एक अयुत दासियों के साथ विक्रम ने अपनी पुत्री को विदा किया । साथ में अनेक आभूषण, वस्त्र, पर्यंक, कुंदनद्रव्य, एक लाख द्विरद, एक अयुत रथ और दस हज़ार जलतुर घोड़े दिये । वर-वधू विशाल रथ पर आरूढ़ होकर विक्रमपुर के उत्तर में स्थित उपवन में एक उत्तंग आवास में गये । आवास सज्जा का भी वर्णन करने का मोह कवि संवरण न कर सका :

मखतूल दाँम फुंदन मुकत छदम पाय बांधे सुमन ।
पर चर पुसप तुलका तलप द्रव पंजक जटतह रतन ।।
सम गिलम संपूर धाम प्रतिबिंब अंब छिब ।
खूभी वन मन इंद्र खंभ परिबल सुवज्र फब ।।
जाल झाल रंध्रह प्रबंध लाल पन्ना नग वरनह ।
वज्र चूर्ण मंडप झलक्क जस श्वेत भव्य खह ।।

पद्मिनी की माता ने उत्सव करने के लिए पुत्री और जामाता को आमंत्रित किया। जयचंद का स्वागत-सत्कार करने के लिए कमला की अध्यक्षता में सखियां सज-धज कर चलीं। कवि को रूप-वर्णन—नखशिख वर्णन—का एक और अवसर मिल गया।

अली सुअंग मंजनं। सुगंध नेह रंजनं।
विसाल कच्च वित्थुरे। प्रसंन संग सित्थुरे।
कलाप कंस मंगयं। सिसंग अप्प संगयं।
प्रवाह पान कंगसी। क एक सुद्ध संगसी।
सुवार उस्न सीतयं। झकोर गोर पीतयं।
अलक्क बुंद चिह्लयं। नगंक सुक्त छीनयं।
..............................................................

ऐसे नखशिख वाली सुन्दरियों का समूह उपवनस्थ महाराज जयचंद के समीप गया। उन्होंने भेंट अर्पित करके राजा का संदेश कहा। जयचंद ने कहा कि आप अपनी सखी को ले जाइए। मैं शाम को आ जाऊंगा। पदमावती आ गई पर जब तक जयचंद न आये तब तक उन्हीं की प्रतीक्षा में रही—'घरी घरी घरियार की खबर मंगावत पंग।' तीन प्रहर बीतने पर जयचंद ने राजभवन को प्रस्थान किया। विक्रम ने उसका स्वागत किया। उधर पद्मिनी शृंगार करने लगी। कवि ने नखशिख वर्णन का एक और प्रसंग निकाल लिया—

प्रकार आद मंजनं। शृंगार खेरि संजनं।
वसंन दूर भामयं। करै सकौन कामयं।
+ + + +
ति रोमराजि रंचनं। प्रपीन खंभ कंचनं।
कुचग्र तग्र भामिनी। अंकूर लज्ज कामिनी।
सनाल कंज कुंदनं। विसाल बाहु रंजनं।
+ + + +
प्रभा प्रदीप अंगुली। कि हेम चंपकं कली।
नखं क वज्र पंतयं। कि दर्पनेव मंतयं।
नख सिखं सु मंगयं। वनाव भाव अंगयं।।

अस्तु, एवं विध सुन्दरी का हाथ पकड़ कर जयचन्द पर्यंक पर विराजमान हुआ—

अहेव पान राजयं। प्रजंक ता विराजयं।।

दो मुहूर्त्त तक हास्य-विनोद करने के पश्चात् सखियां पद्मिनी और पंगराज को एकांत में छोड़कर चली गयीं। तब पंगराज जयचंद वय:संधिगता बाला पद्मिनी को देखा और उसके वर्धमान 'जोबन' को देखा और उसे मकरादि दिन-वृद्धि और कर्कादि रात्रि वृद्धि का ज्योतिष सिद्धान्त समझ में आया।

पिक्खि पयोदनि पद्मिनिय संयसब जोवंधन संघ ।
करक निसा मकरादि दिन बधत सु आगम मंघ ।।

पद्मिनी 'जोवन-निधि' शरीर बिना किसी साज सज्जा के भी अपूर्व मोहक था—

बिन अंजन द्रग सोभ जुत बिन मंजन तन सिद्धि ।
भूखन बिनन शृंगार छवि आज तव जोवन बिद्ध ।

निस्संदेह पद्मिनी की रूप सज्जा हर-हरि-विरंचि तीनों ने मिलकर की थी ।

इक समय हर हरिविरंचि कौतुक सूं हरख चित ।
सकल कला अकेत्र तत्रचातुर संमुख हित ।।
रूप रंग गुन लच्छि विनय गवरी रिझाय लिय ।
कन्ज खन्ज मृगमीन इन्दु सम सुधा मित्रकिय ।
हंस रम्भ केहर कनंक नारंग जंबुक पक्क ।
विद्रुम सुक सायक्क चाप चंपक उरंग थक ।।
धीरज जल द्रिढ ग्यानवत अत विचित्र एकत्र किय ।
पदमन कुमार विक्रम विबुध रत सारन जयचन्द प्रिय ।।

ऐसी रति-राधिका, कोमलांगी, क्षीण लंकिनी पद्मिनी का स्पर्श करने पर वर-वधु इस दशा को आपन्न हुए—

कर सपरस दम्पति कुंवर थक्कथकी उर लग्ग ।
रस चिंतत जयचन्द नृप निस वित्तिय सर मग्ग ।।

यों रस-रंग में रात्रि जागते हुए व्यतीत हो गई और प्रभात वेला आगई । प्रभात वर्णन रतनरासोगत वर्णन का स्मरण करा देता है । वही छंद हैं, वैसे ही विवरण हैं—

हिम कर्दम कुमुद पराग अलं । मित मंजत खंजन लाग लतं ।
मिख काल प्रलाप प्रकार हयं । समस्या अभसारक साकथं ।

+ + + + +

क्षित पान सदंन विसेख तमं । विखकर्जल धार वमंत वमं ।।
रस प्राचुर सूखम सार तनं । नित आभित सीख प्रदाम जनं ।।

+ + + + +

किधु वंदिय मागध सूत जनं । सुख मंगल सब्द सुवाचकनं ।।
विछुरे अल कोकनदं अटके । मनौ सेत सन्निद्ध विखै तटके ।
विकसे प्रहसे कमलावलियं । तज कंज उड़े अलि आवलियं ।

+ + + + +

प्रतनपुर बाजत रज्जतयं । शुभ आगम चित्त कथा वितियं ।
चहुँ ओर बनी अल आवलियं । वलभी कुल वीखली मिलियं ।
नृप जग्गत मान विधान जमं । कृत दर्सन चित्र विचित्र वयं ।
पय लग्ग पदमनि लज्जवती । विनयं गुन लच्छ समान सती ।

अस्तु, पंगराज ने जग कर, शुद्ध देह होकर प्रातः कृत्य किये—

एक सहस्र वर धेन सहस तोला जंबू नद ।
अयत अंन मिष्टांन वसन रुट रस विहद्द हद ।
जवहरन जेव जगमगजरव सप्त धात जिह-जिह जुगत ।
नव ग्रहन पुज्जि दुरगानृभय नित्त दांन खोरस सुगत ।।
दह हत्थिय इक सत्त हय एक ग्रांम वहु अंन्न ।
इच्छा छाया जय जुगत दिख प्रतिबिंब सुदंन ।।

छायादान के पश्चात् पंगराज अन्य प्रातः कृत्य करता है जिनका विवरण रतन रासो-गत कुमार-कृत्य वर्णन से मेल खाता है। प्रातः कृत्यों से निवृत्त होकर पंगराज विक्रम के साथ राज सभा में आसीन होते हैं–वर सभा-तत्र विक्रम नरिंद्र । संपेर राज जयचंद्र इंद्र । फिर विक्रम राज से विदा लेकर जयचंद पद्मिनी सहित शिविर जाता है और दिन भर वहां क्रीड़ा करके रात्रि को विक्रम के प्रासाद में लौटता है। इस स्थल पर उपवन का वर्णन किया गया है—

गिर गहवर तर तुंग शृंग दिस दिस सु चंग वन ।
दुपिय वग्घ खग महक जंत जल थल समूह अन ।।
पल्लवन पुस्प अंकुर प्रचुर लव लवंग सुगंव नता ।
निर्भर समूह निर्भर निकर अलि प्रमत्त अभ अुन्नता ।

इस प्रकृति चित्रण के पश्चात् आखेट वर्णन है। क्रीड़ा-विनोद-रत पंगराज छह मास व्यतीत कर देता है—

वन उपवन मृगया विहार सिकार सिंघ गज ।
कोल इक्क खगहा कराक रिंछ सांभर मृग सावज ।।
वर अनंत जलजंत पंख आसंख गहव्वर ।
गिर अनंत अद्भुत शृंग झंकार मधुक्कर ।।
निस दिवंस संग रस रंग चित जल थल वन क्रीड़ा क्रमत ।
अति हर्ख भोग सुर लोग सम वर्ख अद्धि वित्तिय नृपत ।।

इस प्रकार जब जयचंद का काल-यापन हो रहा था तो उत्तर के शाहों को कनवज दुर्ग पर आक्रमण का सुयोग प्रतीत हुआ–पिक्खिव तत्र घात साहाबं ।

यह खबर वलबंडं दल वद्दल प्रबल दुरजनं दुसहं ।
अंस दसम खट खंडं इज्जत अदब मीर वंदानी ।

खानों ने मिल कर कन्नौज अभियान की योजना बनाई—

खांततार रुस्तम मिलक्क खांनखानां फुन कत्थिय ।
सेख चिमनह जाव आव मुख जाव सुतत्थिय ।।
खांहुसेन हैदर मिलक्क हाजी दलेल सुन ।
खांजने खांन कारिय वलाय मकरंद खांन फुन ।।
अवचक्क तक्क कनवज्जपुर चढ़ सताब घर भंजिये ।
कर बंध वंद त्रिय बाल नर यह उपाय खल गंजिये ।।

सब ने यही निर्णय किया कि इससे उत्तम अवसर नहीं हो सकता—

यह सुघत्त यह वार है यह दुल्लभ अवसान ।

प्रतापचन्द्र के पास खान लोग अपने अभियान की धमकी भेज देते हैं । इस स्थल पर शाहों के विकट जल का वर्णन किया गया है—

वरं साह मुस्ताख ईरान थानं । इकं कोट मिक्छं महाउग्र मानं ।
वरं खाफरं जोर दीनं दव्याए । छ खंडं खुरासान वंदे कहाए ।

\+ \+ \+ \+

तुफंगं दराजं फरं तीर मीरं । चपं सत्त सत्तं दु दंतोन तीरं ।
करी बंध पंचाननं थूल कंधं । चख स्वान मानं तुछं रोम बंधं ।
इकं लक्ख मैमंत मत्ते गयंदं । सरंपक्खरं सार घारंपरंदं ।
अनंतं दलं आतसंतोपखानं । सिताबी मिले आन संकेत थानं ।

\+ \+ \+ \+

चढ़े मीर कालू चढ़े मीर घूंसा । चढ़े मीर हैदर चढ़े मीर मूला ।
चढ़े खान कम्मोद आपास मिल्ला । चढ़े खान ग्यारत का नाम तुल्ला ।
चढ़े खान फते चढ़े सैद मीरां । चढे ईस पैजार रहमंत पीरां ।
हवस्सी फिरंगी व आरब्ब हंके । दुवं पंच लक्खे भर खेग वंके ।

इस विकट वाहिनी का वृत्तान्त सुन प्रतापचन्द ने जयचन्द को सूचित करते हुए पत्र लिखा जिसकी शैली वही है जो रतन-रासो के दो पत्रों की है । छंद भी वही हैं—

स्वस्थित श्रीय नरिंद इंद परमं जयचंद राजेस्वरं ।
अरदासं परतापचंद कवरं सोमंत्र मंत्रेस्वरं ।।

यह पत्र लेकर चर पहुँचे तो जयचंद आखेट रत था। कवि ने आखेट की तैय्यरी और क्रीड़ाओं का विस्तृत वर्णन किया है—

नव रस नवीन नवढानि पुनि इति अचंभ मृगया सरस।
क्रीलत हुलास अवनिंद्र तहं सुखविलास पारस परस।।

क्रीड़ा रतन सखियों का भी वर्णन विस्तृत है—

वय खोरस खोरस कला रच खोरस शृंगार।
मध नायक खोरस सखी खोरस दान प्रकार।

क्रीड़ा के मध्य संगीत नृत्य का आयोजन भी होता है—

मृदंग घुंग वानयं। किते पिनाक पानयं।
सु साज वाज धारही। छतीस के प्रकार ही।
छनाय के बनाय के। छछक्क बक्क नाय के।
त्रिग्राम सप्त सुर धुन। इकीस ईस मूर्च्छनं।
पचास कोटि तानयं। ति इक्क उन्नमानयं।
संगीत गीत चंगयं। ति नृत्त अष्ट अंगयं।।

वाद्य–नृत्य का वर्णन किये बिना भी कवि से नहीं रहा गया—

तत थेइय थेहयत थेइय थेईयत थुगडवा दिग दिग थुंगए।
धंधागड्दा घिघक्ट घुक्ट घृंगघृंगे घृपट नागड्दा घुंगए।
घपमपक घपमय उघट धपं खिख उघट त्रघट ततुग्गयं।
झंझणण झणणत सुगत झंझट कुणत नूपर खग्गयं।
और इस प्रकार कीड़ा रत पंग राज को पत्र मिला।
पदमनी सहत प्रमोद दपत पगराज विचित्रयं।
नृप अनंग क्रीडा करत अंत हुलास रस रंग।
दत कहत मंजूर सूं अष्ट साह पर संग।

यों शत्रु अभियान का पत्र मिलने के समय क्रीडा रति का वर्णन कहां तक समुपयुक्तत है यह विचारणीय है। कवि को एक तो इन काव्योपादानो का प्रयोग आवश्यक प्रतीत हुआ। अत उसके लिए उसने यह प्रसंग चुना। दूसरे जयचंद की निर्भीकता तथा निश्चिंतता का परिचय इसी प्रकार के वर्णन द्वारा दिया जा सकता था।

पत्रिका सुनने को सखियां आतुर थीं। पर सुनते ही जयचंद का स्वरूप बदल गया। वह एक दम वीरभद्र के समान कुपित हो गया। कवि भी उसके वर्णन में अपने वास्तविक वरेण्य रूप में प्रकट हुआ।

सुन श्रवन वत्त जयचंद राज। छिल चलग सिंधु लुप्पीग पाज।
उलसंत रोम उप्पंक उघंग। घरहरक परद मनु स्योभ गंग।
अखरत भोह भ्रकुटी अभंग। सत पत्र तत्र सिस जुगल जंग।
त्रकुटिय त्रकून कप सिव त्रसान। तापस ततय कुट्टल रिसान।

यों विकट रूप धारण कर जयचंद प्रण करता है—

परतंग मुझ्झ विजैपाल आन। जौ वृथा होय धारू न प्रान।
निज कमल कट्टि निज हत्थ धार। मूकं कि सिनु उप्पर उवार।
पावक प्रवेश के करु सिद्ध। के धसूं धार जल गंग मद्ध।
दिन इक्क मज्झ अट्ठ पछार। बंधूज साहतद पिऊं वार।
मो व्रत वृथा गौ ब्रह्म देव। हर हरी विमुख जन मांतरेव।
पैजह प्रमान जव करग सम। तव भखउ अंन जल फलन तांम।

ऐसी विकट प्रतिज्ञा सुन पद्मिनी चिन्तातुर होती-पदम निचित विलखत लखत कस विरंचि अस काज और यहीं प्राप्त प्रति का पाठ समाप्त हो जाता है।

इस संपूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट है कि रीति ग्रंथों में पारंगत होकर कुंभकर्ण ने जयचंद–रासो की रचना आरंभ की। इसीलिए अष्टयाम और नखशिख वर्णन में उसका मन प्रभूत रमा है। पर शृंगारी प्रसंगों से कहीं अधिक सफलता उसे वीर और रौद्र के प्रसंगों में ही मिली है। जयचंद के रौद्र रूप का वर्णन इसका साक्षी है। भाषण भंगी, शब्द–योजना, उक्ति–वैचित्र्य, छंद विधान सभी को देख कर निस्संदेह पाठक कह सकता है कि जयचंद रासौ भी उसी कवि की लेखनी से प्रसूत हुआ है जिसमें रतन रासो लिखने की क्षमता थी। अंतर केवल कवित्त के नवयौवन और प्रौढत्व का प्रतीत होता है। जयचंदो रासो में शृगार प्रवृत्ति के प्रावल्य का कारण भी नवयौवन को प्रभाव ही है। आरंभ में कवि में रीति ग्रंथों पर आश्रित होने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। शनैः शनैः उसमें आत्मविश्वास आया है और वह रतन–रासो में आत्मतंत्र कवि हो गया है।

कुंभकर्ण की डिंगल रचनाएं अभी पूरी प्रकाश में नहीं आयी हैं पर उनमें से 'महा–राजा रायसिंह जी रो सतियां रा कवित्त' वरदा वर्ष ७, अंक २ में सौभाग्यसिंह शेखावत ने प्रकाशित कराये थे। श्री शेखावत ने अन्य गीतों का भी उल्लेख किया है जिनमें दुर्गादास संबंधी गीत में भींवड़ा नदी के वर्णन का उल्लेख किया गया है। श्री शेखावत द्वारा उद्धृत कवित्तों से स्पष्ट है कि कुंभकर्ण डिंगल रचना में पिंगल से कम सिद्ध हस्त नहीं था। संभवतः उसका डिंगल–प्रवाह अधिक प्रखर और कलकल मय है। वीर-प्रसंग तो उसका प्रिय विषय है ही। उसकी सफलता का स्थाली पुलाक परीक्षण करने के लिए कुछ कवित्तों का उद्धरण पर्याप्त होगा—

मिटी धाक ईरान हाक धर रूम हलक्का।
मिली दाह बंगाल साह अवगाह मुलक्का॥

मिटी धाक धमचक्क धक्क उजवक्क थरक्काँ ।
ठोड ठोड सरहदाँ हुए करदान सरक्काँ ।।

दिखणाद हूँत नागर दिसिहि चट चत्र दरक्क चलावियाँ ।
इंद्र सिंघ महाराज अग इणि विधि कागद आवियाँ ।।

उडै वात आघात प्रात उत इत्त पहल्ले ।
पाघ आवताँ करे उच्छाह महल्ले ।।
धोय वरन धड़हड़ चढै वरसौह वढन्नाँ ।
महातेज जाजुल्लि कहा परवाह सदन्नाँ ।।

जिह ठाम ठाम हूती जुवति वाम वाम छिव विलकुली ।
तजि धाम धाम वैकुंठ मझि राम राम कह नीकली ।।

मिलै कौड़ तेत्तीस तास कौतिक्क निरक्खण ।
गुण गंध्रप अच्छिर विवाण कुसमाण बरक्खण ।।
मिलै वीर बावंन मिले चौसट्ठि सकत्ती ।
मिले रिक्ख अड़सट्ठि मिले नव नाथ छ जत्ती ।।
धुनि पड़ी विवह दुंदुभि घुड़ति पुहपंजलि अंजुलि भरै ।
नर नाग देव पै पै नमत कौतूहल जै जै करै ।।

उपर्युक्त विवेचन कवि के पिंगल-डिंगल विषयक कवित्व का परिचय कराने के लिए यथेष्ट है। कवि की संस्कृत में रचित कोई रचना प्राप्त हो जाती तो उसके संस्कृत कवित्व का भी अंकन संभव होता । परन्तु अभी ऐसी कोई रचना प्रकाश में नहीं आयी है। केवल हरिदेव कवि के पत्र में उसके कवि होने का उल्लेख है। हां, उसकी पिंगल-डिंगल रचनाओं से उसकी संस्कृतज्ञता प्रभूत मात्रा में प्रमाणित होती है जिससे उसके संस्कृत कवि भी होने का अनुमान सहज संभव है।

## (३) कवि के आदर्श

कुंभकर्ण स्मृति-पुराणोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था को मानने वाला कवि है। सम्प्रदाय की दृष्टि से उसे स्मार्त्त कहा जा सकता है। वह काव्य के आरम्भ में ॐकार का स्मरण और सरस्वती का ध्यान करता है। अन्यत्र उसने गणेश की वन्दना भी की है। शिव का तो वह बहुत ही भक्त है। उसका महानायक रतन शिव की आराधना करके शिव-सारूप्य का ही वर मांगता है। शिव, अंबा, स्कंद, नारद, तुंबरु, गण, गंधर्व आदि का कवि ने पुराणोक्त रूप में यथा स्थान उल्लेख किया है। अतः उसे पंचदेवोपासक स्मार्त्तों में ही गिना जा सकता है।

वर्णाश्रम धर्म में विश्वास होने के कारण कुंभकर्ण ने चातुर्वर्ण्य के कर्मों का भी उल्लेख किया है :—

अभ्यासा वेदसा उक्ता खट सर्मा वर्मा त्रयं।
गोपतासि क्रिखि वाणिज्यं दासं सुश्रुख सेवनं।।

वर्णाश्रम व्यवस्था में निहित ब्राह्मण-गौरव को वह पूर्णतः स्वीकार करता है और एक कवित्त में ब्राह्मणों की अपूर्व सामर्थ्य का भी उल्लेख करता है। गुरु के प्रति तो उसने अगाध श्रद्धा व्यक्त की है। गुरु के चरण रज के प्रताप से ही अपने काव्य की सफलता मानी है और चरण रज को पंजर विजय माना है—**तस चरण सरन पंजर विजय कुंभकरन अद्भुत अभय**। गुरु के गौरव का वर्णन अनेक बार किया गया है।

स्मृति पुराणोक्त धर्मों का प्रतिपद पालन करने वाला कवि दैनंदिन कृत्यों का यथा स्थान वर्णन करना नहीं भूलता। उज्जैन आदि पूज्य तीर्थ स्थानों और क्षिप्रादि पूजनीया सरिताओं का वर्णन उसने यथेष्ट पूज्य भाव से किया है। हिन्दुओं के पूजाविधानों, यंत्र-तंत्र-मंत्रों, दान-दक्षिणाओं आदि में उसकी पूरी आस्था है। वह सर्वात्मना आस्तिक हिन्दू है; फिर भी मुसलमानों के विरुद्ध उसके मन में रंचमात्र भी द्वेष नहीं है। वह उनका भी यथेष्ट आदर करता है और अपने काव्य का तो एक प्रयोजन भी उसने **निसचरन मोद कउतक उपाय'** लिखा है। 'निसचरन' शब्द से भी घृणा का भाव नहीं समझना चाहिए क्योंकि यह शब्द सौती-साहित्य में अन्यत्र भी 'मुसलमान' के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; और यदि उनके प्रति कवि के मन में घृणा होती तो वह उनके 'मोद का उपाय' करता ही क्यों ?

वीर रस में प्रमुख रुचि होने के कारण कवि ने सामन्ती युग के आदर्शों का भी गौरवमय चित्रण किया है। सौती आदर्श—

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ सूर्यमंडलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखोहतः।।

को कुंभकर्ण भी आदर्श वाक्य मानता है। रतलाम से उज्जैन के लिए विदा होते समय रतन अपने पुत्र रामसिंह को इसी आदर्श का उपदेश देता है।

सामंती आदर्शों में स्वामिभक्ति का बड़ा महत्त्व है। कुंभकर्ण ने भी इस का सदा ध्यान रखा है। **टूक टूक मुंह अग्ग, स्वामि काम तन तच्छ, स्याम धर्म पन हेत** जैसे वाक्य अनेक स्थलों पर मिलेंगे। सामंत धर्म के प्रसंग में कवि सामन्ती मर्यादाओं का भी पूरा ध्यान रखता है। महेशदास और रतनसिंह उसके काव्य में नायक हैं; पर फिर भी उनका वर्णन करते समय क्रमशः महाबत खां और जसवंतसिंह के गौरव की पूर्ण रक्षा की गई है। नायकों के प्रति मोह ने कवि के मुख से एक भी ऐसा वाक्य नहीं कहलवाया जो महाबत खां और जसवन्तसिंह की प्रतिष्ठा अथवा गरिमा के विरुद्ध हो। मर्यादा का ध्यान रखने में कवि कहीं स्खलित नहीं हुआ।

औरंगजेब और मुरादबख्श तथा जसवन्तसिंह और रतनसिंह के बीच शत्रु सम्बन्ध होते हुए भी दोनों पक्ष परस्पर मर्यादाओं का पूरा ध्यान रखते हैं। कमधज वीरों को यह पता है कि शाहजादे सम्राट् के पुत्र होने के कारण आदर के अधिकारी हैं और स्वय उनके भी सम्राट् बनने की सम्भावना है। अतः वे तदनुरूप ही उनके प्रति आदर की भावना रखते हैं। उधर शाहजादे भी कमधजों की मर्यादा का ध्यान रखते हैं। यहां तक कि युद्ध में हताहत वीरों का स्वयं परिचय पूछते हैं और रतन के शव के सम्मुख प्रणाम करते हैं— **रतनेसुर वंदि सुभान तये।**

क्षत्रिय बालक के धर्म का निर्देश करने वाला वाक्य **बरस अठारह छत्री जीये आगे जीवन को धिक्कार** कुंभकर्ण का भी आदर्श रहा है। कुमार रायसिंह का प्रसंग इस विषय में द्रष्टव्य है। रतन तो तपस्या करके भी युद्ध में सम्मुख हत होने का ही वर मांगता है।

**लज्जेज्जन्ति वयंसियहि जे घर भग्गा अन्तु** का आदर्श मानने वाली महिलाओं के प्रति भी कुंभकर्ण के मन में अपार श्रद्धा है। महेश और रतन दोनों ही की रानियां इतनी सहर्ष सती होती हैं और इतनी निर्भीकता से जम घर (अग्नि ज्वाला) में प्रवेश करती हैं मानो किसी दैनंदिन कृत्य का सम्पादन करने चली हों। करुणा तो दूर, किसी के मुंह से चिंता का शब्द भी नहीं निकलता।

गुरुभक्ति का उल्लेख आरम्भ में कर चुके हैं। पितृभक्ति को गौरवान्वित करने वाले अनेक स्थल भी कुंभकर्ण ने निकाले हैं। सर्वप्रथम उदयसिंह और चन्द्रसेन का प्रसंग है जिसमें अग्रज अपने पिता के अनुचित व्यवहार पर भी रुष्ट नहीं होता और कहता है—

तावत अभिखेजित अनुज चिरजीवहुँ पितु आय।

कल्लीराम की उपेक्षा का भी प्रसंग आता है जहां वह और भी अधिक उदारता का परिचय देता है। पिता की आज्ञा और अनुज की शुभ कामना से प्रेरित हो कर कल्लीराम युद्ध भूमि में प्राण-त्याग तक के लिए तैयार हो जाता है। रतन स्वयं भी पितृभक्त है और उसके पुत्र तो पूर्णतः उसके वशीवर्त्ती हैं—**सर्वे वसंकरा प्राज्ञा**। पितृभक्ति की मर्यादा का कवि को यहां तक ध्यान है कि उसने **चढि आयौ नव लक्ख दल औरंग सेर जवान** कह कर भी औरंगजेब के मुंह से शाहजहां के विरुद्ध ऐसा कोई वचन नहीं निकलवाया जो मर्यादा विरुद्ध हो। वह तो **साहानिसा वुत्रकं** ही कहता है।

कवि के उपर्युक्त आदर्शों के दर्शन उसके काव्य में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं। स्वयं कवि दंभी और अहंमन्य नहीं है; अति नम्र है। विविध शास्त्रों का ज्ञान अपनी रचना में भर देने की इच्छा रखते हुए भी इसमें सफलता का सारा श्रेय गुरु चरणों की कृपा को देता है। संस्कृत के प्राचीन शास्त्र ग्रन्थों और काव्य-नाटकों के प्रति उसके मन में

अपार आदर है। प्राकृत के कवि कुंदकुंद की रचना 'समयसार' और गुणाढ्य की अपूर्व कृति 'बिहदकत्थ' का भी उसने सादर उल्लेख किया है। हां, हिन्दी ग्रन्थों में उसने या तो कवि प्रिया और रसिक प्रिया का ही नामोल्लेख किया है या फिर कवि चन्द के पृथ्वीराज रासो का ही जो संभवतः उसका आदर्श काव्य रहा है। दानवीरता के प्रसंग में अनेक भाषा कवियों के पुरस्कार पाने का तो उसने उल्लेख किया है पर उनमें से किसी की रचना आदि का कोई परिचय नहीं दिया। अपने पूर्वजों तक की रचनाओं का उल्लेख नहीं किया यद्यपि उनका विरुद गायन प्रभूत मात्रा में किया है। उसने 'भाषा' ग्रन्थों में यथेष्ट आदर केवल पृथ्वीराज रासो को दिया है। हां, उसका आदर तो उसने रामायण-महाभारत आदि के तुल्य किया है। पर पृथ्वीराज रासो के प्रति ऐसी अगाध श्रद्धा होते हुए भी उसने उसके शृंगारी आदर्शों को नहीं अपनाया और प्रत्येक युद्ध की कारणभूत सुन्दरी के शृंगार की कल्पना नहीं की। यों चंद की रचना का भी जो अंश उसके निजी आदर्शों के अनुरूप था उसी का अनुसरण किया है। पृथ्वीराज रासो से अभिभूत रहते हुए भी उसने निजी आदर्शों का त्याग नहीं किया। सार यह है कि कुंभकर्ण एक मर्यादावादी कवि था।

# ४. काव्य-परिचय : (क) इतिहास पक्ष

## (१) 'रतन-रासो' का निर्माण और उसका रचना-काल

'रतन-रासो' की रचना करने में अपने ध्येय का उल्लेख करते हुए कवि कुंभकर्ण ने स्वयं उसमें लिखा है कि ऋषियों द्वारा वर्णित राजनीति का प्रबन्ध-काव्य में चित्रण करने तथा उमंग सहित संगीत-मय भाषा में वीर-काव्य का गान करने को वह समुत्सुक था। ऐसे वीर-काव्य में उनके जीवन और गुणों का वर्णन करने के लिए महेशदास और रतनसिंह से बढ़ कर और कौन व्यक्ति हो सकते थे, अतएव उसने अपने इस काव्य में उनके चरित्रों का गान किया है। रतनसिंह के उस अतुलित पराक्रम को उसने इस सुन्दर रासो द्वारा अमर कर दिया। जाज्वल्यमान तेज वाले अपने इष्ट को प्रसन्न करने के लिए कवि ने अपने इस काव्य को हर तरह से सुन्दर बनाया[१]।

कवि चाहता था कि अपने इस काव्य में वेदान्त के सार, तत्त्व तथा सिद्धांतों के साथ ही सब प्रकार के विषयों का विवेचन हो, समस्त शास्त्रों के ज्ञान का निचोड़, षड्दर्शनों का सार तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों के सारे विभिन्न कार्यों का विधिपूर्वक ज्ञान प्रस्तुत हो, उसमें नाना प्रकार के प्रबंध-साहित्य की उक्तियां हों और अनेकानेक सुविख्यात महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का निष्कर्ष हो। अतः उसने 'रतन-रासो' में उन्हीं सबका समावेश कर दिया है, जिससे यह रासो अगाध ज्ञान से परिपूर्ण तथा पृथ्वी पर ख्यातिदायक हो गया है। यही कारण है कि उसको पढ़ने से हृदय में बुद्धि का स्फुरण होता है और अनेकानेक यथोचित सुलाभ ही होते हैं।[२]

कवि के अनुसार 'रतन-रासो' की रचना कर जहां उसने राठौड़ वंश की ख्याति फैलाई तथा पवित्र धर्म और पितरों को तृप्त किया, वहीं उसके द्वारा तीन कार्य भी एक ही साथ सिद्ध किये—उसने अपने जन्म को सफल किया, अपने चारण-कुल-धर्म काव्य-रचना में रत रह कर उसे पूरी तरह निबाहा और गंगा-तट पर वास कर उसने विविध प्रकार से ब्रह्म भक्ति की।[३]

'रतन-रासो' में कवि कुम्भकर्ण ने कहीं भी कोई सन्-संवत् अथवा तिथि-तारीख नहीं दी है। धरमाट के युद्ध का सविस्तार वर्णन करके भी उसने यह कहीं नहीं लिखा

---

१. रतन०, तृतीय०, छं०सं० ४-५; चतुर्थ०, छं०सं० ७६; उज्जैन०, छं० सं० २००—पं० ६।
२. रतन०, तृतीय०, छं०, सं० ६; उज्जैन०, छं० सं० २००—पं० १, २२, २७।
३. रतन०, तृतीय०, छं० सं० १८–२०।

है कि वह युद्ध किस वर्ष, किस दिन हुआ था । 'रतन–रासो' की अब तक प्राप्य किसी भी हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में उस काव्य की रचना सम्पूर्ण होने के सन्-संवत् आदि का कोई उल्लेख नहीं है । अतः 'रतन-रासो' के रचना-काल को निर्धारित करने के लिये इस काव्य में ही यत्र-तत्र तद्विषयक किये गये परोक्ष उल्लेखों और अन्य आन्तरिक प्रमाणों आदि का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है ।

'रतन-रासो' में लिखा है कि 'रतन-रासो' की रचना करने में कवि कुंभकर्ण को पूरे बारह वर्ष लगे थे ।[४] इस काव्य को लिख डालने के बाद कवि ने इसे मुगल सम्राट् के अतिरिक्त अनेकानेक प्रमुख नरेशों को भी सुनाया था, जिनमें से दो नाम ऐसे हैं जिनसे 'रतन-रासो' के रचना-काल को निर्धारित करने में बहुत सहायता मिलती है । इस काव्य को सुनने वाले नरेशों की नामावली में 'रतन-रासो' के चरित्र-नायक रतनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र और रतलाम के शासक रामसिंह तथा मराठा राजा शंभाजी के नाम क्रमशः सातवां और नौवां हैं । रामसिंह सितम्बर, १६८१, में औरंगजेब के साथ अजमेर से दक्षिण के लिए रवाना हुआ और बुरहानपुर पहुंचने से पहले ही नवम्बर ७, १६८१ ई० को वह तल-कोंकण भेज दिया गया । तदनन्तर मार्च, १६८३ ई० में उसकी मृत्यु-पर्यन्त वह मराठों के साथ चल रहे युद्धों में निरन्तर व्यस्त रहा । अतः अनुमान यही होता है कि अगस्त, १६८१ ई० में जब रामसिंह शाही दरबार में अजमेर में था तब ही उसे कवि से 'रतन-रासो' सुनने का समुचित अवसर मिला होगा । तब तक 'रतन-रासो' के मूल भाग की रचना अवश्य ही हो गई होगी ।[५] शंभाजी जुलाई २०, १६८० ई० को राजगद्दी पर बैठा, तथा सन् १६८१ ई० के अन्त तक शाहजादे अकबर के साथ ही दुर्गादास राठौड़ भी दक्षिण में शंभाजी के साथ जा मिला और कुछ वर्ष तक वहीं रहा ।[६] दुर्गादास के द्वारा शंभाजी के पास पहुंच कर सन् १६८३ के लगभग ही कुंभकर्ण ने शंभाजी को अपना यह काव्य सुनाया होगा ।

इस काव्य का अन्तिम श्रोता था रामसिंह का बड़ा लड़का तथा उसका उत्तराधिकारी राजा शिवसिंह । कवि स्वयं लिखता है कि 'शिवसिंह की छत्रछाया प्राप्त करने के हेतु शिव-रूप रतनसिंह का रासो लेकर वह शिवसिंह के दरबार में गया ।' उससे दक्षिणा-प्राप्ति के हेतु उसने महेशदास और रतनसिंह के ये गुण ('रतन-रासो' काव्य) राजा शिवसिंह को सुनाये । काव्य के अन्त में कुंभकर्ण ने संक्षेप में यह भी लिख दिया है किस प्रकार वह अपने भाई, पुत्र और भृत्यों के साथ शिवसिंह के राजदरबार में गया तथा वहां उसने किस विधि के साथ राजा को 'रतन-रासो' सुनाया ।[७] शिवसिंह के जीवन-वृत्त को सूझ-बूझ के

---

४. रतन०, तृतीय०, छं० सं० ११, १५ ।

५. रतन०, तृतीय, छं०सं० १२; रतलाम०, पृ० २३७, २४०–४१, २५६–२५८ ।

६. औरंग०, ४, पृ० २७७, २८५, २९२, ३३६, ३४१,४६२–४६३ ।

७. रतन०, उज्जैन०, छं० सं० २०३; चतुर्थ०, छं० सं० ८०; उज्जैन०,छं० सं० २००–पं० ४७–४९, छं० सं० २०२-२०४ ।

साथ देखने पर अनुमान यही होता है कि सन् १६८५ ई० के प्रारंभिक महिनों में ही कुंभकर्ण ने शिवसिंह को 'रतन-रासो' सुनाया होगा। तब वह शाही दरबार में अहमदनगर में था।[८]

यह बात तो स्पष्ट ही है कि रामसिंह, शंभाजी आदि के अन्य उपर्युक्त उल्लेखों की ही तरह शिवसिंह के दरबार में हुए 'रतन-रासो' के इस काव्य-पाठ संबंधी उल्लेख और यह विवरण उस घटना के बाद ही कवि ने यथास्थान जोड़ दिये होंगे। इन सब ही बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि कुंभकर्ण ने 'रतन-रासो' की रचना सन् १६८५ ई० के अंत तक अवश्य ही हर तरह से सम्पूर्ण कर दी होगी।

## (२) 'रतन-रासो' के चरित्र-नायक और उनका परिचय

धरमाट के युद्ध में खेत रहने वाले वीरवर रतनसिंह के नाम पर कवि कुंभकर्ण ने अपने इस काव्य का नामकरण 'रतन-रासो' किया था, परन्तु उसमें एक-मात्र रतनसिंह का ही विवरण लिखना उसका उद्देश्य नहीं था। कवि स्वयं लिखता है—

फुनि जस उध्रित रतन के जथा सक्ति विस्तार।
मधकर दलपत उदयस्यंघ मल्ल कथहि इधकार ॥६६॥[१]

रतनसिंह के इन पूर्वजों में भी रतन-कुल की प्रतिष्ठा और गौरव के आदि संस्थापक महेशदास का सही महत्त्व कवि ने पूरी तरह से समझा था। अतएव अपने इस काव्य के प्रमुख चरित्र-नायक के रूप में उसका भी विवरण लिखने का निश्चय काव्य-रचना प्रारंभ करने से पहिले ही कवि ने कर लिया था। तब ही अपने काव्य-विषय के रूप में दोनों का ही नाम साथ-साथ लेते हुए उसने लिखा है:—

जिय पाये रतलाम पुर जालंधर सांचौर।
अधिको रतन महेस ते अधिक कहूँ कहँ और ॥७६॥[२]

अतः इन दोनों ही प्रमुख चरित्र-नायकों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

**महेशदास**—वह जोधपुर के इतिहास-प्रसिद्ध शासक मोटा राजा उदयसिंह के चौथे पुत्र दलपत का दूसरा लड़का था। महेशदास की माता, रानी कुसुम कुंवर भटयाणी, के प्रति उसका विशेष प्रेम होने के कारण ही दलपत ने महेशदास को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। अतः दलपत की मृत्यु होने पर पीसांगन का प्रदेश उसके अधिकार में आ गया। युवा होने पर प्रारंभ में महेशदास शाहज़ादा खुर्रम की सेना में भरती हो गया।

---

८. रतलाम०, पृ० २९७–३००; मा० आ०, पृ० २३६, २५८; औरंग०, ४, पृ० २६३, ३६६, ३७५।

१. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० ६६।

२. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० ७६।

कुछ समय बाद वहां से छोड़ कर जब उसने जोधपुर के शासक गजसिंह की सेवा स्वीकार की, तब उसे कुड़की गांव का पट्टा मिला। शाहजहां के मुगल सम्राट् बनने पर जब सुप्रसिद्ध मुगल सेनापति महाबत खां अजमेर का सूबेदार नियुक्त हुआ तब महेशदास ने गजसिंह की सेवा छोड़ दी और वह महाबत खां की सेना में सम्मिलित हो गया।

मई, १६३२ ई० में महाबत खां को दक्षिण और खानदेश की सूबेदारी मिली, तब महाबत खां की सेना के साथ ही महेशदास भी दक्षिण पहुंचा। महेशदास के अन्य भाई और कई सगे-सम्बन्धी भी उस समय महाबत खां की सेना में नौकर थे, अतः वे भी उसी के साथ तब दक्षिण पहुंचे। फरवरी, १६३३ के अंतिम दिनों में मुगल सेना ने दौलताबाद (देवगिरि) के किले का घेरा डाला और मार्च १, १६३३ ई० को महाबत खां भी ससैन्य वहां जा पहुँचा। दौलताबाद के इस घेरे के समय महेशदास, उसके भाइयों तथा अन्य संबंधी-साथियों ने अनेकानेक बार वीरता दिखाई। किले में धान्य पहुँचाने को प्रयत्नशील शत्रुदल के साथ मार्च २८, १६३३ ई० को हुई मुठभेड़ में महेशदास का ममेरा भाई जगन्नाथ भाटी काम आया।[३] अप्रेल ९, १६३३ ई० के दिन हमला कर मुगल सेना ने दौलताबाद किले के अम्बर कोट पर अधिकार कर लिया। इसमें महेशदास राठौड़ और उसके साथियों का बड़ा हाथ रहा था।[४] इस युद्ध में महेशदास के दो भाई, जुझारसिंह और राजसिंह, काम आए और महेशदास को भी कुछ घाव लगे थे। अप्रेल १७, १६३३ ई० के युद्ध में भी महेशदास ने विशेष वीरता दिखाई।[५] दौलताबाद किले को जीतने में महेशदास ने उल्लेखनीय भाग लिया था। तदनन्तर परेण्डा के घेरे के समय भी फरवरी २४, १६३४ ई० के दिन शत्रुओं के आक्रमण से महाबत खां की रक्षा करने में महेशदास बुरी तरह घायल हुआ था।[६] महाबत खां की सेना में सेवा करते हुए महेशदास ने वीरता के लिये विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की, अतः महाबत खां की मृत्यु के बाद जब जनवरी १६३५ ई० में महेशदास शाही दरबार में पहुँचा तब शाहजहां ने सहर्ष उसे ५०० जात ४०० घुड़सवारों का शाही मनसब प्रदान किया।[७]

शाही मनसबदार बनने पर महेशदास को अनेकानेक चढ़ाइयों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए समय-समय पर शाही सेना के साथ भेजा गया। सन् १६३५ ई० में वह जुझारसिंह बुन्देला का दमन करने के लिये नियुक्त सेना की सहायतार्थ औरंगजेब के साथ भेजा गया।[८] दक्षिण भारत में मुगल सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिये सन् १६३६ ई० में

---

३. पाद०, १ (खण्ड १), पृ० ५०९; नैणसी०, २, पृ० ३६६–३६७।

४. पाद०, १ (खण्ड १), पृ० ५१३।

५. पाद०, १ (खण्ड १), पृ० ५१५।

६ पाद०, १ (खण्ड २), पृ० ३८।

७. पाद०, १ (खण्ड २), पृ० ६८।

८. पाद०, १ (खण्ड २), पृ० १००।

जब शाहजहां वहां सैनिक व्यूह-रचना करने लगा, तब उसने महेशदास को खान दौरान की सेना में नियुक्त कर उसे नान्देर की ओर भेजा।[९] महेशदास की इन वर्षों की सेवाओं से प्रसन्न होकर शाहजहां ने मार्च ११,१६३८ ई० को उसका मनसब बढ़ाकर १००० जात ६०० सवार का कर दिया।[१०]

महेशदास का भाग्य-सितारा अब ऊंचा चढ़ने लगा था। अब वह शाहजहां का पूर्ण विश्वासपात्र बन गया था, अतः शाहजहां उसे अधिकतर अपने साथ ही शाही दरबार में रखता था। जनवरी ११, १६४२ ई० को उसका मनसब बढ़ा कर १००० जात १००० सवारों का कर दिया।[११] ईरानियों के संभावित आक्रमण से कंधार की सुरक्षा के लिये जब अप्रेल, १६४२ ई० में मुगल सेना दारा शिकोह के नेतृत्त्व में लाहौर से भेजी जाने लगी, तब महेशदास को अलम (झण्डा) भी प्रदान कर शाहजहां ने उसे इस सेना में नियुक्त कर दिया।[१२] उधर से लौटने के बाद अगस्त ३१, १६४२ ई० के दिन शाहजहां ने महेशदास का मनसब दुगुना कर दिया और जालोर परगना वतन के रूप में उसे प्रदान किया गया।[१३] अक्तूबर, १६४५ ई० में महेशदास लाहौर का किलेदार नियुक्त किया गया और जनवरी, १६४६ ई० में उसका मनसब बढ़ाकर २,५०० जात २,००० सवार का कर दिया गया।[१४]

बल्ख-बुखारा में मुगल सत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से जब फरवरी, १६४६ ई० में मुराद के सेनापतित्त्व में मुगल सेना लाहौर से भेजी जाने लगी तब महेशदास को भी उसी सेना में नियुक्त किया गया। मई १४, १६४६ ई० को महेशदास के मनसब को बढ़ाकर ३,००० जात-२,००० सवारों का कर दिया गया और उसे नक्कारा भी प्रदान किया गया। यों महेशदास की गणना अब मुगल साम्राज्य के प्रधान अमीरों (अमीर-इ-आज़म) में होने लगी।[१५] शाही सेना के हरोल के साथ ही मई २४, १६४६ ई० को महेशदास बदख्शां की ओर बढ़ा। बल्ख पर मुगलों का अधिकार हो जाने के बाद जब वहाँ का शासक नजर मुहम्मद बल्ख से भाग खड़ा हुआ तब जुलाई, १६४६ ई० के प्रारंभ में उसका पीछा करने को जो शाही सेना भेजी गई उसमें महेशदास की नियुक्ति नहीं की गई थी। तथापि महेशदास और उसके कुछ साथी राजपूत सेनानायक मुराद की आज्ञा के बिना ही शाही पड़ाव से निकल कर उस शाही सेना में सम्मिलित हो गए। तब नजर मुहम्मद के साथ हुई शेरगान की लड़ाई में महेशदास ने विशेष वीरता दिखाई, जिसके लिये वह जुलाई १२,

---

९. पाद०, १ (खण्ड २), पृ० १३५-६।
१०. पाद०, २, पृ० ९२।
११. पाद०, २, पृ० २८१।
१२. पाद०, २, पृ० २९३–२९४।
१३. पाद०, २, पृ० ३०८।
१४. पाद०, २, पृ० ४१४, ४७०, ४८०।
१५. पाद०, २, पृ० ४८४, ५०५; इर्विन कृत 'आर्मी आफ इण्डियन मुगल्ज,' पृ० ६।

१६४६ ई० के दिन पुरस्कृत किया गया और उसका मनसब बढ़ाकर ३,००० जात–२५०० सवारों का कर दिया गया।[16] कोई ड़ेढ़ माह बाद शाहजहां के आदेशानुसार बदख्शां से लौट कर महेशदास शाही दरबार में काबुल पहुँचा और तदनंतर शाहजहां के साथ ही वह भी नवम्बर, १६४६ ई० में लाहोर आ गया।[17]

लाहोर पहुँचने के बाद भी महेशदास शाही सेवा में बराबर बना रहा। मार्च ६, १६४७ ई० को लाहोर में ही महेशदास की मृत्यु हो गई। महेशदास शाहजहां का बहुत ही विश्वासपात्र था। शाही दरबार में सिंहासन के पास ही एक संदली रहती थी, जिस पर शाहजहां की निजी तलवार और तीरकश आदि रहते थे, शाही दरबार के समय उस संदली और इन शाही अस्त्र-शस्त्रों की देख-रेख का काम महेशदास को सौंपा गया था। शाही सवारी के समय भी शाहजहां के पीछे कुछ ही गज की दूरी पर वह बराबर बना रहता था। अतएव जब शाहजहां ने अनुभवी युद्ध-प्रिय महेशदास की मृत्यु का समाचार सुना तो उसे बहुत ही खेद हुआ और उदास होकर कहा—"महेशदास जैसे योद्धा को रणक्षेत्र में वीर-गति प्राप्त होनी थी कि वह अनेकों शत्रुओं को तलवार के घाट उतार कर ही सुख-नींद सोता"।[18]

**रतनसिंह**—वह महेशदास का ज्येष्ठ पुत्र था। उसका जन्म चैत विदि अमावस्या, १६७५ वि० (शनिवार, मार्च ६, १६१९ ई०) को हुआ था। युवावस्था प्राप्त होने पर सन् १६४० ई० के अंतिम माह में वह भी अपने पिता के पास लाहोर जा पहुँचा। शाहजहां तब लाहौर में था। शाहजहां की वर्ष-गांठ के उपलक्ष में हुए उत्सव के ही दिनों में फरवरी, १६४१ ई० के पूर्वार्द्ध में ही कहरकोह हाथी की घटना घटी होगी जिसका कवि कुंभकर्ण ने सविस्तार वर्णन किया है। फरवरी ११, १६४१ ई० को शाहजहां ने महेशदास को एक हाथी प्रदान किया, जो संभवतः यहीं कहरकोह होगा। उसके चार ही दिन बाद शाहजहां ने रतनसिंह को सुनहरी साज की एक फौजी तलवार प्रदान की।[19] कुछ समय बाद रतनसिंह को चार सदी–दो सौ सवार का शाही मनसब भी दिया गया। महेशदास की मृत्यु होने तक उसका यही मनसब बना रहा।[20] शाहजहां चाहता था कि महेशदास की सेना तितर-बितर नहीं हो जावे, अतः महेशदास के देहान्त के साथ ही उसने जालोर का परगना रतनसिंह को वतन के रूप में प्रदान कर दिया और उसका मनसब बढ़ा कर ड़ेढ़

---

१६. पाद०, २, पृ० ५१४, ५५०–५५२, ५५४।

१७. पाद०, २, पृ० ५७६, ६०९।

१८. पाद०, २, पृ० ६३५। महेशदास की विस्तृत जीवनी के लिये देखो—रतलाम०, अध्याय ३, पृ० १५–६७।

१९. पाद०, २, पृ० २२४, २२५।

२०. पाद०, २, पृ० ६३५; रतलाम०, पृ० ५५–५६।

हजारी जात–डेढ़ हजार सवार का कर दिया। रतनसिंह को तब शाही दरबार में उपस्थित होने का भी आदेश भेजा गया।[२१]

इधर अप्रेल २५, १६४७ ई० को ही शाहजहां काबुल पहुंच गया था, अतः रतनसिंह सीधा काबुल गया और मई मास में शाही दरबार में उपस्थित हो गया। तब औरंगजेब की सहायतार्थ मिर्जा राजा जयसिंह के सेनापतित्त्व में बल्ख भेजी जाने वाली शाही सेना के साथ रतनसिंह को भी जून ४, १६४७ ई० के दिन वहाँ के लिये रवाना किया गया। परन्तु तब तक बल्ख में युद्ध समाप्त हो गया था और बल्ख से लौटती हुई शाही सेना के बचाव के लिये अक्तूबर ८, १६४७ ई० के दिन रतनसिंह ने बड़ी वीरता और साहस के साथ अलमानों के लुटेरे दलों का सफलतापूर्वक सामना किया।[२२]

कंधार के प्रथम घेरे के लिये सन् १६४९ ई० में शाहजादे औरंगजेब के नेतृत्त्व में भेजी गई शाही सेना के साथ रतनसिंह को कंधार भेजा गया था। तब वहाँ घेरे के समय आक्रमणकारी कजिल बासों के साथ युद्ध करने के लिये रतनसिंह को रुस्तम खां के साथ नियुक्त किया गया था। उनके साथ हुए अगस्त २५, १६४९ ई० के शाहमीर के युद्ध में रतनसिंह ने विशेष वीरता दिखाई थी, जिसके पुरस्कारस्वरूप कोई छः दिन बाद उसका मनसब बढ़ा कर दो हजारी जात–सोलह सौ सवारां का कर दिया गया। जनवरी २०, १६५२ ई० को रतनसिंह को झण्डा भी प्रदान किया गया।[२३]

कंधार का प्रथम घेरा विफल रहा था एवं १६५२ ई० में औरंगजेब के नेतृत्त्व में दूसरी बार शाही सेना ने कंधार का घेरा डाला। किन्तु इस बार भी मुगल सेना को सफलता नहीं मिली, अतः सन् १६५३ ई. में शाहजादा दारा शिकोह को तीसरी बार कंधार पर अधिकार करने के लिये भेजा गया। परन्तु उसे भी विफल मनोरथ लौटना पड़ा। कंधार के इन दूसरे और तीसरे घेरों के लिए भेजी गई दोनों ही शाही सेनाओं के साथ रतनसिंह भी वहां भेजा गया था। तीसरे घेरे के समय कंधार के अधीन आसपास के बिस्त, गिरशक आदि किलों के विरुद्ध भेजी गई शाही सेना में रुस्तम खां के साथ रतनसिंह भी नियुक्त किया गया था।[२४] इसी प्रकार मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के विरुद्ध कार्यवाही करने को जब सितम्बर, १६५४ ई० में शाहजहां ने चित्तौड़ पर शाही सेना भेजी तब शाही वजीर सादुल्ला खां के साथ रतनसिंह को भी नियुक्त किया गया था।[२५]

रतनसिंह के वतन जालोर परगने की भूमि बहुत उपजाऊ नहीं थी, और उसे प्रायः शाही सेना के साथ नियुक्त किया जाता था, जिससे उसकी आय निरन्तर घटती जा

---

२१. पाद०, २, पृ० ६३५।

२२. पाद०, २, पृ० ६७८, ६८४; वारिस०, १, प० ८ अ; ईलियट०, ७, पृ० ८०।

२३. वारिस०, १, प० २३ अ–ब, ३५ब, ३६ अ–३७ब, ३८अ, ५८अ।

२४. वारिस०, १, प०, ६० अ–ब, ६१ब; २, प० ७०ब, ७६ अ।

२५. वारिस०, २, प० ९० ब।

रही थी और उसे प्रति वर्ष हानि ही उठानी पड़ रही थी । अतः सन् १६५६ ई० के प्रारंभ में जब शाहजहां की सालगिरह के अवसर पर रतनसिंह को बहुत ही अच्छी खिलअत दी गई, तब उसने अपनी ये सारी आर्थिक कठिनाइयां शाहजादा दारा के द्वारा शाहजहां की सेवा में निवेदन करवाई । शाहजहां ने तब जालोर के बदले दूसरा कोई परगना रतनसिंह को वतन के रूप में दिया जाने की स्वीकृति दे दी । यह बात चल ही रही थी, उसी समय मार्च या अप्रेल १६६५ ई० में पृथ्वीराज राठौड़ की मृत्यु हो जाने से मालवा सूबे में उसकी जागीर के अन्य परगनों के साथ ही रतलाम परगना खालसा हो गया । रतलाम परगने का राठौड़ वीरों से पर्याप्त संबंध रहा था, एवम् शाहजहां ने अप्रेल–मई १६५६ ई० में रतनसिंह को यही रतलाम परगना, जिसकी आय तब ५२ लाख दाम की थी, वतन के रूप में वंश-परम्परागत दे दिया, और उसके तब के मनसब के अनुरूप आमदनी पूरी करने को मालवा में ही बदनावर, तीतरोद, आगर, कोठड़ी-पिड़ावा, आलोट, डग-दुधालिया आदि परगने जागीर में दे दिये जो व्यक्तिगत रूपेण उसके अधिकार में आये ।[२६]

नवम्बर, १६५६ ई० में शाहजादा औरंगजेब ने बीजापुर पर चढ़ाई की तब उसकी सहायतार्थ उत्तरी भारत से भेजी गई सेना में रतनसिंह की भी नियुक्ति की गई और उसे आदेश हुआ कि वह रतलाम से सीधा ही दक्षिण चला जावे । वहां अप्रेल, १६५७ ई० तथा उसके बाद बीजापुर की सेना के साथ हुये युद्धों में रतनसिंह ने बड़ी वीरता और तत्परता दिखाई थी, अतः अगस्त, १६५७ ई० में रतनसिंह का मनसब बढ़ा कर दो हजारी जात–दो हजार सवार का कर दिया गया । तदनन्तर अन्य शाही सेना नायकों के समान ही रतनसिंह के पास दिल्ली से भेजा हुआ शाही फरमान पहुंचा, जिसके निर्देशानुसार सितम्बर, १६५७ ई० के उत्तरार्द्ध में रतनसिंह को भी दक्षिण से चल देना पड़ा और दिसम्बर, १६५७ ई० में वह शाही दरबार में जा पहुंचा ।[२७]

सितम्बर, १६५७ ई० में शाहजहां सख्त बीमार हो गया था जिससे तब उसकी मृत्यु की झूठी खबर सब दूर फैल गई और शाही दरबार से आने वाले सच्चे समाचारों पर भी किसी को विश्वास नहीं होता था । सुदूर प्रान्तों में नियुक्त तीनों शाहजादे मुगल राज्य-सिंहासन के लिये युद्ध की पूरी-पूरी तैयारी करने लगे । मुराद ने नवम्बर २०, १६५७ ई० को अहमदाबाद में स्वयं को बादशाह घोषित किया । औरंगजेब भी दक्षिण में अपनी तैयारी में लगा हुआ था । सो उनका सामना करने के लिये शायस्ता खाँ के स्थान पर जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त कर एक बड़ी सेना के साथ दिसम्बर १८, १६५७ ई० को आगरा से मालवा के लिए रवाना किया । तदनन्तर शाहजादा

---

२६. वारिस०, २, प० १०३ ब; विगत०, १, पृ० १२६; रतलाम०, पृ० ६३, ६८, १३८–१५६ ।

२७. वारिस०,२, प० ११८ ब; आदाब० २, प० १४६ ब; कम्बू०, ३, पृ० २३६, २५२–३, २६६, २७० ।

मुराद के स्थान पर कासिम खां को गुजरात का सूबेदार नियुक्त कर एक बड़ी सेना के साथ उसे भी मालवा की राह गुजरात के लिए रवाना किया।

रतनसिंह एक अनुभवी योद्धा था, वह महाराजा जसवंतसिंह का चचेरा भाई होता था और उसका वतन तथा जागीर भी मालवा में थे, इसलिये उसे भी तब महाराजा जसवंतसिंह की सेना में नियुक्त कर दिया गया। अतः आगरा से लौट कर रतलाम होता हुआ वह शाही आदेशानुसार जसवंतसिंह के साथ जा मिला। मालवा पहुंच कर जसवंतसिंह तब औरंगजेब और मुराद का सामना करने को तत्पर उनकी टोह में लगा हुआ था।

मार्च १६५८ ई० के मध्य में मुराद ने ससैन्य मंदसौर की राह मालवा में घुसने का प्रयत्न किया था, परन्तु बाद में वह वापस लौट कर दोहद से दक्षिण में जा पहुंचा और वहां औरंगजेब की प्रतीक्षा करता रहा। उधर एक माह तक बुरहानपुर में ठहर कर औरंगजेब मार्च, २० को वहां से मालवा की ओर बढ़ा। तब अप्रेल १५, १६५८ ई० को देपालपुर के पास दोनों शाहजादों की सेनाएं सम्मिलित हो गईं और तत्काल ही पूर्ण उत्साह के साथ वे उज्जैन की ओर बढ़ीं। उससे पहिले ही जसवंतसिंह उज्जैन से कोई १४ मील दक्षिण-पश्चिम में गंभीर नदी के पूर्वी तट पर स्थित चोरनारायण[२८] गांव के पास ससैन्य आ डटा था। गुजरात का नया सूबेदार कासिम खां भी अपनी शाही सेना लिये जसवंतसिंह के साथ था। अतः अप्रेल १५ को संध्या समय शत्रु-सेना ने भी उसी के सामने गंभीर नदी के पश्चिमी तट पर धरमाट[२९] गांव में पड़ाव डाला। समझौते के लिये तदनंतर किये गये प्रयत्न भी विफल हुए और तब शुक्रवार, अप्रेल, १६, १६५८ ई० के दिन दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ जो इतिहास में धरमाट के युद्ध के नाम से सुविख्यात है।

धरमाट के इस ऐतिहासिक युद्ध के बारे में अधिक विवेचन आगे चल कर किया जावेगा। यहां तो इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि यह निर्णायक युद्ध गम्भीर नदी के पूर्वी तट पर वर्तमान फतेहाबाद गांव के पश्चिम में हुआ था और कई घण्टों के भयंकर युद्ध के बाद जब शाही सेना की पराजय सुनिश्चित देख पड़ने लगी तब उसके मंत्रियों और सेना-

---

२८. आज तो वहां इस नाम का कोई गांव नहीं है। इस युद्ध में विजयी होने के बाद औरंगजेब ने बहुत करके इसी 'चोरनारायण' गांव का नाम बदलकर 'फतेहाबाद' रख दिया होगा। तब वहाँ औरंगजेब के पड़ाव-स्थल का निर्देश करते समय 'आलमगीर-नामा' (पृ० ५६) में भी 'चोरनारायण के नाले' का उल्लेख है जो अब 'फतेहाबाद का नाला' कहलाता है।

२९. गंभीर नदी के पश्चिमी तट पर यह गांव आज भी विद्यमान है। अब तक सर्वत्र इस गांव का नाम 'धरमत' ही लिखा जाता रहा है, जो ठीक नहीं है। फारसी और रोमन लिपियों की ही अपूर्णता के कारण इस नाम के उच्चारण सम्बन्धी यह भ्रांति हो गई थी। स्थानीय पूछताछ से भी यही ज्ञात हुआ है कि इस गांव का सही नाम 'धरमाट' है, अतः इसे अपनाया गया है।

पतियों ने जसवंतसिंह के घोड़े की लगाम थाम ली और युद्ध भूमि छोड़ कर जोधपुर लौटने के लिये उसे बाध्य किया। जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र से यों चल देने के बाद रतनसिंह ने शाही सेना के सेनापतित्त्व का भार सम्हाला और अन्त तक युद्ध करता हुआ वहीं खेत रहा। इस युद्ध में रतनसिंह को कोई छब्बीस तीर और तलवार के अस्सी घाव लगे थे। यत्र-तत्र बिखरे हुए तीरों और भालों को एकत्र कर रतनसिंह के लिये वीरोचित चिता रची गई तथा युद्ध-क्षेत्र में जहां रतनसिंह धरती पर गिरा था वहीं उसकी दाह-क्रिया की गई। रतनसिंह के दाह-स्थान पर उसका स्मारक आज भी उसके उस वीरतापूर्ण बलिदान का स्मरण दिलाता है।[३०]

## (३) धरमाट के युद्ध संबंधी नई जानकारी

धरमाट का युद्ध भारतीय इतिहास में बहुत ही निर्णायक सिद्ध हुआ। मुग़ल साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिये हो रहे युद्धों में औरंगजेब की यह सर्व प्रथम सफलता थी, अतः औरंगजेब के निजी समर्थकों के साथ ही समूचे साम्राज्य के जनसाधारण की दृष्टि में धरमाट की यह विजय औरंगजेब की भावी सफलताओं का शुभ शकुन बन गई। धरमाट के युद्ध के विजेता के रूप में औरंगजेब की सैनिक प्रतिष्ठा सर्वथा अप्रतिम हो गई। संशय में पड़े हुए लोगों की हिचकिचाहट का तदनन्तर सर्वथा अन्त हो गया। चारों भाइयों में कौन भाग्य-लक्ष्मी का दुलारा है यह जानने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं रह गई। इसी कारण इस महत्त्वपूर्ण युद्ध के बारे में अधिकाधिक तथ्य जानने को इतिहासकार सदैव समुत्सुक रहता है।

डॉ० यदुनाथ सरकार ने अपने सुप्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ़ औरंगजेब' में धरमाट के इस युद्ध का विस्तृत, अतीव सुस्पष्ट और भावपूर्ण विवरण लिखा है। तदर्थ उन्होंने फ़ारसी में लिखे गये सारे प्राप्य ऐतिहासिक आधार-ग्रन्थों की पूरी छान-बीन की थी। किन्तु इन सारे ग्रन्थों में प्रधानतया इस युद्ध के विजेता और बाद में होने वाले मुग़ल सम्राट् औरंगजेब की ही तरफ से युद्ध का हाल लिखा है। विजेता के दृष्टिकोण और उस ओर से प्राप्त सामग्री ही इन सब ही लेखकों के मूलभूत आधार रहे हैं। यों ईश्वरदास नागर ने अपने ग्रन्थ 'फ़ुतूहात-इ-आलमगीरी' में इस युद्ध का विवरण लिखते समय जसवन्तसिंह की कार्यवाही और वीरता आदि का बहुत-कुछ वर्णन लिखा है। परन्तु यह विवरण इस युद्ध के कोई ४०-५० वर्ष बाद लिखा गया था एवम् उसे जसवन्तसिंह के सेनापतियों आदि के बारे में कोई विशेष बातें प्राप्त नहीं हो सकी थी। इन्हीं कारणों से फ़ारसी आधार-ग्रन्थों में इस युद्ध सम्बन्धी जो भी जानकारी मिलती है वह सर्वथा एकांगीय ही रही है। न तो जसवन्तसिंह की सेना संबंधी कोई सही जानकारी ही उनमें प्राप्य है और न उसकी सेना में

---

३०. रतनसिंह की विस्तृत जीवनी के लिये देखो—रतलाम०, पृ० ४३-५२, ५५, ७१-१६५, १६७-१६८, १७०-१८८; वचनिका०, भूमिका, पृ० ७८-८६।

घटी किन्हीं घटनाओं का कोई प्रामाणिक विवरण ही उनमें मिलता है। अतः तदर्थ अन्य भाषाओं में प्राप्य आधार-सामग्री की ही खोज अनिवार्य हो जाती है।

जसवंतसिंह इस शाही सेना का प्रधान सेनापति था, उसने इस युद्ध में बहुत वीरता दिखाई थी, उसके दो घाव भी लगे थे, तथापि इस युद्ध में पराजित होकर उसे युद्ध से जीवित लौटना पड़ा था। अतएव न तो जोधपुर राज्य की ख्यातों में और न वहां के राजघराने संबंधी ऐतिहासिक काव्य-ग्रंथों में ही इस युद्ध का विस्तृत विवरण मिलता है। उधर इस युद्ध में मर कर रतलाम के शासक रतनसिंह राठौड़ ने चिरकीर्ति प्राप्त की थी। उसके साहस, वीरता और युद्ध में मर मिटने की साधना ने कवियों को मोह लिया और कवि खिड़िया जगा तथा कवि कुंभकर्ण सांदू ने क्रमशः 'वचनिका राठौड़ रतनसिंह री महेशदासोत री' और 'रतन–रासो' की रचना की। इन दोनों ही ग्रंथों में धरमाट के युद्ध का विस्तार के साथ विवरण दिया गया है, परंतु रतनसिंह को लेकर लिखे गये इन दोनों ग्रंथों में इस युद्ध के उस पक्ष विशेष के ही पहलुओं पर नया प्रकाश पड़ता है। रतनसिंह ने इस युद्ध में क्या भाग लिया? तब उसके अपने संगी-साथी सेनानायक कौन थे और उन्होंने कैसी वीरता दिखाई? और रतनसिंह इस युद्ध में कब मारा गया आदि अनेकानेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के बारे में जो जानकारी इन दो ग्रंथों में मिलती है उसके आधार पर अब तक लिखे गये युद्ध-विवरण में कई एक फेरफार और संशोधन किये गये हैं। तथापि वह सर्वांगपूर्ण या सर्वथा सही नहीं कहा जा सकता है। अतः इस युद्ध संबंधी कोई भी नई विश्वसनीय आधार-सामग्री पाकर इतिहासकार को प्रसन्नता ही होती है।

इधर सौभाग्य से जोधपुर राज्य के अन्तर्गत खास जोधपुर हुकूमत (जिले) के कानूनगो पद पर पहिले वंश-परंपरागत काम करने वाले एक पंचोली कायस्थ घराने के वंशज पंचोली ब्रजलाल के पास के पुराने कागज-पत्रों में 'जोधपुर हुकूमत री बही' नामक एक बहुत ही पुरानी हस्तलिखित बही मिली है। उसमें महाराजा जसवंतसिंह के शासन-काल तथा उसकी मृत्यु के तत्काल बाद की कई एक घटनाओं का समकालीन विवरण लिखा मिलता है। पेशावर में जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद उसकी रानियों और शिशु महाराजा अजीतसिंह की वापसी यात्रा का उनके दिल्ली पहुंचने तक का सविस्तार विवरण उसमें है। मई, १६७९ ई० में इन्द्रसिंह को जोधपुर का राज्य मिलने तथा खेतासर के युद्ध (जून, १६७९ ई०) में काम आये और घायल सरदारों आदि की सूची के साथ ही यह बही समाप्त हो जाती है। कई एक अन्य घटनाओं के साथ ही इस बही में धरमाट युद्ध के इस अभियान आदि की भी विस्तृत जानकारी प्राप्य है। खींवसर (नागोर जिले) के ठाकुर केशरीसिंह ने पंचोली ब्रजलाल के पास से यह 'बही' प्राप्त कर सन् १९३९–४० ई० में उसकी पूरी नकल स्वयं कर डाली थी। इस 'बही' के बारे में जानकारी प्राप्त होने पर सन् १९६१ ई० में उस प्रतिलिपि की एक ओर प्रति श्री रघुवीर लायब्रेरी, सीतामऊ, के लिये तैयार करवाई गई थी जो अब यहां संगृहीत है।

'बही' में लिखित उस सारी जानकारी को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पंचोली घराने का कोई-न-कोई तत्कालीन वंशज तब अवश्य ही जसवंतसिंह के साथ मालवा

गया था और तब वहां की सारी घटनाओं आदि की जानकारी को उसी समय या उसके कुछ बाद अवश्य ही उसने इस 'वही' में लिख दिया था। इस 'वही' में प्राप्य धरमाट-युद्ध-अभियान संबंधी विवरण में कई एक पंचोली कायस्थ अधिकारियों का समय-समय पर उल्लेख है। संभवतः उनमें से कोई एक या अधिक उक्त पंचोली घराने के पूर्वज होंगे। अतः इस 'वही' में दी गई धरमाट युद्ध संबंधी सारी जानकारी तद्विषयक समकालीन आधार-सामग्री के रूप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी है।

धरमाट के युद्ध संबंधी जो जानकारी इस 'वही' में मिलती है उसे मुख्यतया तीन भागों में बांटा जा सकता है:—(१) महाराजा जसवंतसिंह के धरमाट-युद्ध-अभियान का विवरण, (२) धरमाट के युद्ध में महाराजा जसवंतसिंह के साथ शाही सेना संबंधी विस्तृत जानकारी और सेनानायकों की पूरी सूची, और (३) महाराजा जसवंतसिंह की जोधपुर राज्य की निजी सेना में से धरमाट के युद्ध में काम आये सरदारों और सेना-नायकों आदि की विस्तृत सूची। धरमाट के युद्ध में काम आये जोधपुर राज्य की निजी सेना के सरदारों और सेना-नायकों की ऐसी ही लंबी सूची 'जोधपुर राज्य की ख्यात', आदि में भी प्राप्य है, परंतु अन्य दो विषयों संबंधी जो समसामयिक विशेष जानकारी इस 'वही' से मिलती है वह वस्तुतः महत्त्वपूर्ण और बहुत ही उपयोगी है तथा उससे इस ऐतिहासिक निर्णायक युद्ध के कुछ विशेष पहलुओं पर सर्वथा नया और प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है।

तब औरंगजेब और मुराद का सामना करने के लिये विशेष रूप से नियुक्त मालवा के नये सूबेदार, जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की नियुक्ति तथा आगरा से उसके रवाना होने की तारीखें इतिहास-ग्रन्थों में मिलती हैं तथा युद्ध से पहिले उसके खाचरोद जाने का और शाहजादों के साथ समझौते आदि के प्रयत्नों का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु महाराजा जसवन्तसिंह के इस धरमाट-युद्ध-अभियान का कोई ब्यौरेवार विस्तृत विवरण कहीं भी नहीं मिलता है। 'वही' में प्राप्य विवरण से इस कमी की बहुत कुछ पूर्ति होती है। आगरा से चल कर जसवन्तसिंह किस राह उज्जैन गया और राह में कहाँ-कहाँ उसने पड़ाव किये ? उज्जैन में कब कहां रहा और खाचरोद के लिये रवाना होने से पहिले उज्जैन की सुरक्षा और व्यवस्था के लिये उसने क्या प्रबन्ध किया ? वह खाचरोद कब तक ठहरा रहा और वहां से लौटने पर वह कैसे धरमाट से कोई दो मील उत्तर-पूर्व में चोरनारायणा पहुँचा ? युद्ध में जसवन्तसिंह ने स्वयं क्या किया ? कैसे उसे वहां से निकलने के लिये बाध्य किया गया ? धरमाट के युद्ध-क्षेत्र से निकलने के बाद जसवन्तसिंह किस राह मारवाड़ को लौटा तथा युद्ध में हार हो जाने के बाद जसवन्तसिंह के अधिकारियों ने उज्जैन में क्या कुछ किया ? इन सब बातों का प्रामाणिक सजीव विवरण इस वही में मिलता है।

महाराजा जसवन्तसिंह के धरमाट-युद्ध-अभियान का यह विवरण बिलकुल ही क्रम-बद्ध नहीं है। जब भी जानकारी प्राप्त हुई उसे तब 'वही' में यथावत् लिख दिया गया है, जिससे दो-एक स्थलों पर कुछ बातें दुहराई गई हैं। युद्ध के इस विवरण में एक मात्र महाराजा जसवन्तसिंह की ही कार्यवाहियों का विवरण है, अतः उसके अधीन अन्य प्रमुख

शाही सेनानायकों के साथ ही रतनसिंह के बारे में भी उसमें कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु उक्त समूचे अभियान सम्बन्धी जो नई जानकारी इसमें मिलती है उसके महत्त्व के कारण ही इस 'जोधपुर हुकूमत री बही' में प्राप्य तत्सम्बन्धी यह सारा विवरण यथावत् परिशिष्ट (२) में दिया जा रहा है। 'बही' में यह जानकारी कैसी लिखी मिलती है यह सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से ही प्रत्येक उद्धरण की मेरी प्रतिलिपि की पृष्ठ-संख्या भी इस विवरण में यथास्थान दे दी गई है।

'जोधपुर हुकूमत री बही' में वर्णित धरमाट के युद्ध संबंधी दूसरी विशेष महत्त्व की बात है तब महाराजा जसवंतसिंह के अधीन शाही सेना संबंधी निश्चित प्रामाणिक जानकारी, जो अब तक अन्यत्र कहीं सुलभ नहीं थी। यही कारण था कि अपने सुविख्यात प्रामाणिक ग्रंथ 'हिस्ट्री आफ औरंगजेब' में धरमाट के युद्ध में दोनों विरोधी पक्षीय सेनाओं की शक्ति का उल्लेख करते समय डॉ० यदुनाथ सरकार भी महाराजा जसवंतसिंह के अधीन शाही सेना की सही संख्या के बारे में कोई सुनिश्चित प्रामाणिक जानकारी नहीं दे पाये थे। तद्विषयक अनेकानेक समकालीन या अन्य महत्त्वपूर्ण आधार-ग्रंथों में से केवल चार में ही शाही सेना के बारे में कोई अनुमान मिलता है, और उनमें भी कोई मतैक्य नहीं है। औरंगजेब के अनुसार शाही सेना में ३०,००० घुड़सवार और बहुत से पैदल, हाथी और तोपखाना आदि थे।[1] ईश्वरदास उसमें कोई ५०,००० सैनिक होना लिखता है।[2] शाह शुजा के नाम लिखे गये पत्र में मुराद ने विरोधियों की संख्या ३०,००० दी है।[3] आकिल खां का अनुमान भी कोई ३०,००० का ही है।[4] इन्हीं सब पर विचार कर डा० यदुनाथ सरकार इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'दोनों सेनाओं की संख्या लगभग समान ही थी और प्रत्येक में कोई ३५,००० से कुछ ही अधिक सैनिक थे।'[5]

स्पष्टतया शाही सेना की संख्या संबंधी ये सारे ही उल्लेख प्रधानतया व्यक्तिगत अनुमानों या बाद में दूसरों से सुनी-सुनाई जानकारी के ही आधार पर किये गये हैं। युद्ध-क्षेत्र में उसका सामना कर रही शाही सेना को स्वयं देख कर तथा अपने अनुभवी सेना-नायकों के तद्विषयक अनुमानों को जान कर ही औरंगजेब और मुराद ने इस संबंधी अपनी

---

१. आदाब०, २, प० १६४ अ।
२. फतूहात-इ-आलमगीरी, प० १६ अ। ईश्वरदास का यह कथन पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है। प० १७ अ पर उसने मुराद के सैनिकों की संख्या कोई ७०,००० लिखी है, जो वस्तुतः केवल १०,००० के लगभग थी।
३. 'फैयाज-उल्-कवानीन' की उनकी प्रति (पृ० ४६६) के आधार पर डॉ० यदुनाथ सरकार ने मुराद का अनुमान ५०-६० हजार होना लिखा है। औरंग०, १-२, पृ० ३५७। परन्तु मेरी प्रति (पृ० ५६०) में केवल ३०,००० संख्या दी है। संभावित पाठ-भेद के कारण ही यह विभिन्नता पाई जाती है।
४. आकिल खां कृत 'जफरनामा', पृ० २८।
५. औरंग०, १-२, पृ० ३५७।

राय बनाई होगी तथा तदनुसार अपने पत्रों में शाही सेना की उक्त संख्या का उल्लेख किया होगा। विरोधी सेना पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद इस बारे में कोई छान-बीन की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। औरंगजेब के राज्यारोहण के बाद अपने इतिहास-ग्रंथों की रचना करने वाले इतिहासकारों ने तब इस बारे में अधिक खोज की आवश्यकता ही नहीं समझी होगी, और या तो वे इस बारे में मौन ही रहे अथवा अन्य प्रामाणिक लोगों से सुनी-सुनाई जानकारी को ही दुहरा दिया। जसवंतसिंह के आधीन भेजी गई इस शाही सेना के अनेकानेक सेनानायकों तथा वहाँ उपस्थित उनके आधीन सैनिकों आदि की कोई तत्कालीन पूरी सूची या प्रामाणिक समकालीन विस्तृत विवरण तब उन्हें कहाँ से और कैसे सुलभ हो सकते थे ?

सौभाग्य से तब अलभ्य यही जानकारी 'जोधपुर हुकूमत री वही' से अब प्राप्त हो गई है। महाराजा जसवंतसिंह के साथ तब भेजी गई सारी शाही सेना आदि का पूरा ब्यौरेवार निश्चित विवरण इस 'वही' में लिखा मिलता है। तदनुसार जसवंतसिंह के साथ भेजी गई शाही सेना में कोई २६६ मनसवदार नियुक्त किये गये थे, जिनके साथ कुल सेना २२,२४७ घुड़सवारों की थी। इनके अतिरिक्त १,००० बरकंदाज (तोड़ेदार बन्दूकों से सुसज्जित) सवार और भी उसके साथ भेजे गये थे। इन मनसवदारों और घुड़सवारों में से १७६ मनसवदार तथा उनके १२,६८३ घुड़सवार रकाब (मुगल सम्राट की सेवा में उपस्थित साथ वालों में) से भेजे गये थे, बाकी रहे ९० मनसवदार और उनके ९,५६४ घुड़सवार मालवा के अंतर्गत तथा उसके आस-पास की जागीरों में से नियुक्त किये गये थे। परंतु इस 'वही' में ही दिये गये उल्लेख के अनुसार जसवंतसिंह की सेना में वस्तुतः उपस्थित घुड़सवारों की संख्या कुल मिला कर २१,७०१ ही थी। अन्य ऐतिहासिक आधार-ग्रंथों की ही तरह इस 'वही' में भी शाही सेना के साथ तब उपस्थित पैदल सैनिकों, हाथियों, आदि की संख्याओं का कोई उल्लेख नहीं है। धरमाट के युद्ध संबंधी विवरण में इतना ही लिखा मिलता है कि युद्ध में पराजय के बाद जसवंतसिंह की सेना के साथ के नौकर-चाकरों को लेकर उज्जैन से मारवाड़ को लौटते समय जसवंतसिंह के चालीस सवार सात हाथी ले आये थे।

शाही सेना में तब उपस्थित इन विभिन्न मनसवदार सेनानायकों तथा उनके साथ के घुड़सवारों संबंधी ब्यौरेवार जानकारी[६] इस 'वही' में मिलती है। प्रायः सब ही राजपूत

---

६. 'वही' की इस सूची में दी गई मनसब संबंधी जानकारी कहीं-कहीं अधूरी अथवा गलत भी है। कई मनसवदारों संबंधी ऐसे उल्लेखों तथा वारिस०, कम्बू० या मासिर-उल्-उमरा, आदि में प्राप्त तब उनके मनसब संबंधी जानकारी में थोड़ा-बहुत अंतर भी पाया जाता है।

मुहणोत नैणसी के तत्त्वावधान में लिखित 'मारवाड़ के परगनों की विगत' (१, पृ० १७०–१७५) में भी यह सूची रा० महेशदास सूरजमलोत और उसके अधीन रा० जुझारसिंह महेशदासोत के नाम तक ही दी गई है। यत्र-तत्र कुछ पाठान्तरों के अतिरिक्त दोनों सूचियां समान हैं।

मनसबदारों के नाम उसमें दिये गये हैं तथा प्रत्येक के मनसब का उल्लेख करते हुए तब सेना में उनके साथ के सवारों की संख्या भी वहाँ दी गई है। कई एक प्रमुख मुसलमान मनसबदार-सेनानायकों के नाम और कुछ के मनसबों के उल्लेख अवश्य ही इस सूची में मिलते हैं। बहुत कम घुड़सवारों वाले तथा कई एक मनसबदारों का सम्मिलित उल्लेख किया गया है और उनके सब घुड़सवारों की संख्या भी जोड़ कर एक साथ ही दे दी गई है। इस सूची में दो चार मुसलमान मनसबदारों के नाम ऐसे भी हैं जो बड़े मनसबदार होते हुए भी ठीक तरह से नहीं पहिचाने जा सके हैं। या तो उनके नाम ही गलत लिख दिये गये हैं अथवा उनको लिखने में विशेष अशुद्धियाँ हो गई हैं, जिससे किसी संतोषजनक प्रामाणिक आधार के बिना उन भूलों को सही ढंग से ठीक कर सकना संभव नहीं है।

जसवंतसिंह के साथ तब भेजी गई इस शाही सेना संबंधी 'वही' में दी गई यह सारी ही जानकारी, तफसील आदि यथावत् परिशिष्ट (३) में उद्धृत की जा रही है। कई-एक मनसबदारों के ठीक नाम और उनके बारे में संबद्ध जानकारी के विशेष संदर्भों का उल्लेख वहाँ पाद टिप्पणियों में किया जा रहा है।

विभिन्न शाही मनसबदारों के मनसब तथा उनके साथ के घुड़सवारों संबंधी जो जानकारी इस 'वही' में दी गई उक्त सूची से मिलती है, उससे उन मनसबदारों द्वारा रखे जाने वाले घुड़सवारों संबंधी नियमों की कार्यान्विति पर भी कुछ उपयोगी प्रकाश पड़ता है। इस शाही सेना में ११२ मनसबदार ऐसे थे जो मनसब द्वारा निर्दिष्ट सवारों की संख्या के एक चौथाई सवार रखते थे और १५२ मनसबदार तो केवल एक पंचमांश सवार रखते थे।[७] बांसवाड़ा और देवलिया के शासक मनसब द्वारा निर्धारित संख्या के आधे घुड़सवार रखते थे।

प्रामाणिक जानकारी के आधार पर यह तो निश्चित रूपेण सुज्ञात है कि जसवंतसिंह के साथ की शाही सेना में नियुक्त किये जाने पर भी बांसवाड़ा का रावल समरसिंह तथा देवलिया (प्रतापगढ़) का रावत हरीसिंह स्वयं तब उसमें सम्मिलित नहीं हुए थे।[८] उन्होंने अपनी सेनाएं अवश्य ही भेज दी होंगी, जिनकी उपस्थिति का स्पष्ट उल्लेख इस सूची में है। रायसेन किले के किलेदार नसीरी खां (सैयद महमूद) ने भी अपनी सेना तो

---

७. लाहौरी कृत 'पादशाह नामा' (२, पृ० ५०६) के अनुसार तब तक मनसब द्वारा निर्धारित सवारों की संख्या के एक तिहाई अथवा एक चौथाई घुड़सवार रखने का नियम था, परंतु बल्ख के अभियान के समय (सन् १६४६ ई० में) केवल एक पंचमांश ही घुड़सवार रखने की छूट विशेष रूप से दी गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके बाद के इन १०-१२ वर्षों में तब वह विशेष छूट भी नियम के रूप में मान्य हो गई होगी।

८. ओझा कृत 'प्रतापगढ़ राज्य का इतिहास', पृ० १५३।

भेज दी थी, परंतु बहुत करके वह स्वयं धरमाट के युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। इस युद्ध के अनन्तर ग्वालियर के पड़ाव से बुलाये जाने पर ही वह रायसेन के किले से सीधा औरंगजेब की सेवा में जा पहुँचा था।[९] मालवा या उसके आसपास की अनेकानेक जागीरों से सीधे इस शाही सेना में नियुक्त कई एक मनसबदार भी इसी तरह धरमाट के युद्ध में स्वयं सम्मिलित नहीं हुए थे। महाराजा जसवंतसिंह के आधीन इस शाही सेना में माण्डू के किलेदार सुविख्यात योद्धा राजा शिवराम गौड़ तथा उसके ताबीन के मनसबदारों और उनके सवारों की भी नियुक्ति होना स्वाभाविक ही था। परंतु औरंगजेब की राह में पड़ने वाले विशेष सामरिक महत्त्व वाले इस किले की सुरक्षा में रत राजा शिवराम तथा उसके आधीन सेनानायक और सवार आदि माण्डू में ही डटे रहे, जिससे धरमाट के युद्ध के समय शाही सेना में वे सम्मिलित नहीं हो सके।[१०]

झाबुआ के शासक महासिंह केशोदासोत तथा रतनसिंह राठौड़ के छोटे भाई कल्याणदास महेशदासोत के स्वयं इस युद्ध में सम्मिलित होने का कोई भी उल्लेख उन राजघरानों की ख्यातों या 'रतन–रासो' और 'वचनिका' में कहीं भी नहीं मिलता है। परंतु युद्ध के समय शाही सेना में उपस्थित बड़े उमरावों की जो सूची 'जोधपुर हुकूमत री वही' (पृ० २५) में दी है, उसमें महासिंह का नाम है, जिससे यह विश्वास हो जाता है कि बहुत करके वह इस युद्ध में सम्मिलित हुआ था। पुन संभवतः धरमाट के युद्ध में कल्याणदास महेशदासोत की सैनिक टुकड़ी का सेनानायकत्त्व कल्याणदास के ही सहोदर भाई रायसल ने किया होगा, जिसके तब युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित होने का स्पष्ट उल्लेख वचनिका० (पृ० २०, छं० सं० ४५–प० १२) में मिलता है।

'जोधपुर हुकूमत री वही' में प्राप्य जसवंतसिंह के साथ भेजी गई शाही सेना के मनसबदारों और उनके घुड़सवारों आदि की इस सूची से उस शाही सेना की संख्या आदि के बारे में समकालीन प्रामाणिक जानकारी ही नहीं प्राप्त हो जाती है, परंतु साथ ही तत्संबंधी कई एक अन्य महत्त्वपूर्ण बातों पर भी उससे विशेष उपयोगी प्रकाश पड़ता है। अतएव उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन बहुत ही आवश्यक है।

उस मूल 'वही' का कागज बहुत पुराना और जीर्ण हो गया था और उसके पत्र अलग-अलग होकर बिखर ही नहीं गये थे, किन्तु कई टुकड़े-टुकड़े भी हो गये थे। अतः मूल प्रतिलिपि तैयार करने से पहिले उन प्राप्य टुकड़ों को जोड़ा गया तथा विभिन्न पत्रों को ठीक अनुक्रम से लगाने का भरसक प्रयत्न किया गया था। परन्तु प्राप्य प्रतिलिपि को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सारे प्रयत्नों के बाद भी भ्रमवश कुछ पत्र तब

---

९. मा० उ० (हिन्दी), ४, पृ० २३२–२३३।

१०. आ० ना०, पृ० ५४,५७। 'जोधपुर हुकूमत री वही' (पृ० २२) और विगत० (१, पृ० १७६) में भी शिवराम गौड़ के औरंगजेब संबंधी सूचना भेजने का ही उल्लेख है।

ठीक क्रम से नहीं लगाये जा सके थे, जिससे मूल प्रतिलिपि में ही विवरण या तो उलट-पलट नकल हो गया है या उसमें यदा-कदा क्रम भंग हो जाता है। उदाहरणार्थ, मूल प्रतिलिपि के पृ० ७ और ८ का सही अनुक्रम स्पष्टतया पृ० ८ और ७ ही है। अतएव परिशिष्ट २ और ३ में उद्धृत विवरणों को तैयार करते समय वहीं के विभिन्न पृष्ठों पर लिखे गये विवरण के अनुक्रम को यथा-संभव ठीक करने का प्रयत्न किया गया है।

धरमाट के युद्ध पर कुछ नया प्रकाश डाल सकने वाला एक और पुराना ग्रंथ लगभग सन् १९६० ई० में सामने आया, वह है राजगढ़ के गौड़ शासक अर्जुन गौड़ तथा उसके उत्तराधिकारियों के आश्रित राव अथवा भाट वंशीय कवि महेशदास रचित 'बिन्है-रासो'। इस ऐतिहासिक काव्य की अप्रेल १८१९ ई० में नकल की गई केवल एक ही प्रति अब तक प्राप्त हुई है, जिसे राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास के सयत्न खोजी संशोधक सौभाग्यसिंह शेखावत द्वारा संपादित करवा कर राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ने प्रकाशित किया है। इस 'बिन्है-रासो' में 'उजेणि-भारथ' शीर्षक से कोई २०३ छंदों में कवि महेशदास ने धरमाट के इस ऐतिहासिक निर्णायक युद्ध का सविस्तार विवरण दिया है। वंदना-स्तुति (छं० सं० १–७) और ऐतिहासिक पृष्ठ–भूमि (छं०सं० ९–१७) विषयक प्रारंभिक अंशों को छोड़ दिया जावे, तब भी धरमाट के युद्ध का यह विवरण धौलपुर (शामूगढ़) अथवा पूर्व-युद्ध (बहादुरपुर युद्ध) के विवरणों से हर तरह तिगुना है। यों एक प्रकार से धरमाट का युद्ध ही 'बिन्है-रासो' का मुख्य विषय है, जिसमें कवि महेशदास का आश्रयदाता अर्जुन गौड़ वीर गति को प्राप्त हुआ था।

'बिन्है-रासो' के रचयिता की जीवनी अथवा उसके काव्य-साधना-काल के संबंध में कोई भी प्रामाणिक उल्लेख या सुस्पष्ट संकेत कहीं प्राप्य नहीं है। परन्तु 'बिन्है-रासो' आदि महेशदास की जो भी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं उनके गहन अध्ययन और खोजपूर्ण जांच पर इतना अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि औरंगजेब के शासन-काल के पूर्वार्द्ध में ही उन सबकी रचना हुई होगी।[११] 'बिन्है-रासो' के संपादक के विचारानुसार 'बिन्है-रासो' 'संवत् १७१६ (१६५९–६० ई०) से पूर्व की रचना है, क्योंकि उसके बाद की गौड़ों की वंशावली में कवि ने राजा अनिरुद्धसिंह गौड़ के राज्यासन पर उसके पुत्र राजा नृसिंहदास गौड़ का बैठना लिखा है।' (पृ० १०–११)। पुनः इस काव्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन करते समय उसके संपादक ने लिखा है–'रासो का लेखक........(धरमाट के) इस युद्ध के उप-नेता अर्जुन गौड़ का दरबारी और आश्रित कवि था। इससे उसे घटनाओं की विस्तृत जानकारी होना स्वाभाविक ही है।........महेशदास ने उज्जयिनी संग्राम विषयक जो विवरण रासो में दिये

---

११. कवि महेशदास कृत 'राव अमरसिंह जी रो साको' भी सन् १६५९ ई० के बाद की रचना है, जब रायसिंह को औरंगजेब ने 'राजा' की पदवी दी थी, और जब दिल्ली में मुगल साम्राज्य की राजधानी को स्थायी रूपेण आए कोई छः वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका था।

हैं, वे समकालीन ख्यात-ग्रंथों की भांति विस्तृत और अधिक प्रामाणिक, विश्वस्त और ऐतिहासिक महत्त्व के प्रतिपादक हैं। अतः इस युद्ध से संबंधित अद्यावधि उपलब्ध ग्रन्थों में विस्तार, जानकारी और प्रामाणिकता की दृष्टि से रासो एक अन्यतम ऐतिहासिक महत्त्व की उपलब्धि है।' (पृ० ४४–४५)।

इसी सन्दर्भ में धरमाट के युद्ध विषयक खिड़िया जगा रचित 'वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेशदासोत री' की भी सापेक्षिक विवेचना करते हुए 'बिन्है-रासो' के सम्पादक ने लिखा है—'वचनिका में राजा छत्रमणि जादव, राजा बैरीसिंह शेखावत, राजा अमरसिंह कछवाहा और विपक्षी सेना के शाहजादा द्वय के अतिरिक्त अन्य बड़े योद्धाओं का नामोल्लेख न पाया जाना कवि खिड़िया के उज्जयिनी युद्ध के समय वहां उपस्थित रहने तथा आंखों देखा वर्णन करने के कथन के प्रति एक स्वाभाविक संशय ही उत्पन्न नहीं करते बल्कि उसकी ऐतिहासिकता की कमी की ओर भी संकेत दे जाते हैं।' (पृ० ४५)। 'रासो और वचनिका में एक और बड़ा और महत्त्वपूर्ण मतभेद यह है कि जसवन्तसिंह और कासिम खां के रण-त्याग करने के बाद सेना का संचालन-भार राजा रतनसिंह पर रहा था अथवा अर्जुन गौड़ ने ग्रहण किया।' (पृ० ४७)।

यही नहीं, श्री सौभाग्यसिंह शेखावत के मतानुसार 'बिन्है-रासो' में दिये गये धरमाट के युद्ध के विवरण से जिन विशेष तथ्यों का उद्घाट होता है, वे हैं :—

(१) 'युद्ध की मंत्रणा, सेनाओं की तैयारी, मोर्चा-बन्दी, व्यूह-रचना और राजा जसवन्तसिंह, राव मुकुंदसिंह तथा अर्जुन गौड़ तीनों की सेनाओं का युद्ध प्रवेश और उनकी सवारी का अलग-अलग रूप में समान स्तर पर वर्णन करना राजा जसवन्तसिंह के प्रधान सेनापति और काव्य-नायक के अधिकार के सम्मुख एक शंकाजनित समस्या उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार युद्ध में प्रवेश करते समय तीनों योद्धाओं को एक समान स्थिति और स्तर पर ला बिठाता है।' (पृ० ५१)।

(२) 'यद्यपि जसवन्तसिंह ने युद्ध में भाग लिया और उसकी सेना के........अनेक सामन्त रण में पराक्रम दिखा कर वीरगति को प्राप्त हुए। जसवन्तसिंह को रणक्षेत्र छोड़ने के लिये बलात् बाधित किया गया। राव मुकुंदसिंह हाड़ा भी अपूर्व शौर्य्य-प्रदर्शन कर रण खेत रहा। तब तीनों नायकों में एक अर्जुन गौड़ अवशेष रहा।' (पृ० ५१)।

(३) 'रासो में विपक्षी सेना-नायक औरंगजेब और अर्जुन गौड़ का पारस्परिक युद्ध अन्त में वर्णित है (पृ० ४९) ............जिससे सांकेतिक रूप में यह पुष्टि होती है कि इस युद्ध में अंतिम रूप से नायकत्त्व का सेहरा अर्जुन गौड़ पर आ जाता है।' (पृ० ५२)।

इस प्रकार 'बिन्है-रासो' के सम्पादक ने उक्त काव्य में प्राप्य विवरण तथा अन्य आधार-सामग्री की सहायता से निम्नलिखित दो तथ्यों की स्थापना का भरसक प्रयत्न किया है :—

(१) रतनसिंह की मृत्यु हरावल की पंक्ति के प्रथम आक्रमण में ही हो गई थी। 'विन्है-रासो भी रतनसिंह की मृत्यु जसवन्तसिंह के पलायन करने से पूर्व ही स्वीकार करता है। इस प्रकार जसवन्तसिंह के रणक्षेत्र त्यागने के बाद के युद्ध संचालन की रतनसिंह की कल्पना सारभूत नहीं जंचती।' (पृ० ४८)।

(२) 'रासो और वचनिका उनके (जसवन्तसिंह के) पलायन कर जाने के बाद भी युद्ध जारी रहने की बात पर एकमत हैं।' (पृ० ४७)। 'तब तीनों नायकों में एक अर्जुन गौड़ अवशेष रहा। उसने........प्रतिनायक शाहज़ादा औरंगजेब का सामुख्य किया। ............युद्ध कर धराशायी हो जाता है।' (पृ० ५१-५२)। यों जसवन्तसिंह के पलायन के बाद शाही सेना का संचालन-भार अर्जुन गौड़ ने ही ग्रहण किया तथा अर्जुन गौड़ के धराशायी होने पर ही धरमाट के युद्ध का पूर्णतया अन्त हुआ था।

धरमाट के युद्ध-क्षेत्र से जसवन्तसिंह के चले जाने के बाद रतनसिंह द्वारा युद्ध-संचालन किये जाने सम्बन्धी 'वचनिका०' के इस उल्लेख को कवि कुंभकर्ण ने 'रतन-रासो' में भी कोई २५ वर्ष बाद दुहराया था। 'रतन-रासो' के सन्दर्भ में भी तद्विषयक पुनर्विवेचन सर्वथा अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि 'विन्है-रासो' के संपादक का भी आग्रह है कि 'उल्लिखित तथ्यों के कारण वचनिका के आधार पर प्रतिष्ठापक उज्जयिनी युद्ध के उप-सेनानायक राजा रतनसिंह के मृत्यु-समय का प्रश्न फिर भी जीवित रह जाता है, जिस पर इतिहास के विद्वानों को उपर्युक्त संदर्भों के आधार पर पुनः विचार करना है।' (पृ० ४६)। परन्तु रतनसिंह के मृत्यु-समय के प्रश्न पर कुछ भी विचार करने से पहिले ही यह निर्णय करना सर्वथा अत्यावश्यक हो जाता है कि 'विन्है-रासो' के आधार पर धरमाट के युद्ध में अर्जुन गौड़ सम्बन्धी जिन तथ्यों का उद्घाट करने का प्रयत्न किया गया है, वे कहां तक सम्भव और सही हो सकते हैं तथा मान्य किये जा सकते हैं, क्योंकि 'वचनिका' और 'रतन-रासो' में दिये गये तद्विषयक विवरण को चुनौती देने के कारण और आधार मुख्यतः ये नये तथ्य ही हैं।

प्रथमतः, यह बात तो सर्वमान्य है कि मुगल शाही सेना के सारे विभिन्न हिन्दू और मुसलमान सेनानायकों तथा सैनिकों को पूरी तरह से अपने साथ लेकर पूरे आधिपत्य के साथ युद्ध में उन सब का सफल सेनापतित्त्व कर सकना प्रत्येक उच्च शाही सेनापति के लिये समान रूपेण कदापि संभव नहीं था। योग्यता, पद, कुल और प्रतिष्ठा के आधार पर तदर्थ अनिवार्य निर्विवाद अप्रतिम उच्च सेनापतियों में जसवंतसिंह की गणना नहीं की जा सकती थी। उसके साथ भेजी गई शाही सेना में तो अनेकानेक असम्बद्ध विषम तत्त्वों का बाहुल्य भी था। पुनः सापेक्षिक सम्मान और प्राथमिकता के साथ ही वंशपरंपरागत कौटुम्बिक बैर के कारण भी विभिन्न राजपूत घरानों में एकता का बहुत-कुछ अभाव ही था। अतः उन विभिन्न राजपूत सेनानायकों को यथेष्ट अनुशासन में रख कर अपनी सैनिक व्यूह नीति के अनुसार युद्ध-क्षेत्र में दृढ़ता और सफलता के साथ उनका समुचित संचालन उच्च सेनापति के लिये सदैव पूर्णतया संभव नहीं होता था।

अमरसिंह राठौड़ के मारे जाने के समय से ही गौड़ों (विशेषतया अर्जुन गौड़) और जोधपुर के राठौड राजघराने में जो वैर हो गया था, वह तब भी घटा नहीं था, यद्यपि तदर्थ अनेक आयोजन किये जा चुके थे। धरमाट के युद्ध से पहिले मुकुंदसिंह हाडा को भेजे गये जसवंतसिंह विषयक अर्जुन गौड़ के संदेश का जो उल्लेख 'विन्है-रासो' (पृ० ५२–५३) में है, उससे ही जसवंतसिंह के प्रति अर्जुन गौड़ की भावनाएं स्पष्ट हो जाती हैं। तथापि मुकुंदसिंह हाड़ा तथा अन्य हाड़ा और गौड़ सेनानायकों को साथ लेकर अर्जुन गौड़ ने अपनी निजी प्रेरणा और उपक्रम से जो भी थोड़ा-बहुत इधर-उधर अथवा आगे-पीछे किया हो, उससे उच्च शाही सेनापति जसवंतसिंह के सम्मुखवर्ती मुकुंदसिंह हाड़ा और अर्जुन गौड़ की सापेक्षिक स्थिति पर न तो कोई प्रभाव पड़ सकता था और न पड़ा ही। यद्यपि 'विन्है-रासो' में इस बात का कहीं भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि इस युद्ध में लड़ते समय मुकुंदसिंह हाड़ा और अर्जुन गौड़ ने शाही सैनिक व्यूह–रचना में कौन से स्थान ग्रहण किये थे, अन्य सारी प्राप्य प्रामाणिक आधार-सामग्री से तो यही स्पष्ट होता है कि वे दोनों जसवंतसिंह द्वारा निर्धारित व्यूह-रचना के अनुसार हरोल में ही लड़े थे। यों भी यदि हाड़ा तथा गौड़ सेनानायकों के आधीन सवारों आदि की संख्याओं को देखा जावे तो स्वयं को छोड़ते हुए मुकुंदसिंह हाड़ा तथा अर्जुन गौड़ के साथ क्रमशः पांच और दो अन्य सेनानायक तथा ६६८ और ५१५ सवार ही थे,[१२] जिससे कोई २६६ सेनानायकों तथा सवा तेईस हजार सैनिकों की सेना के उच्च सेनापति जसवंतसिंह की तुलना में उन दोनों की सापेक्षिक स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है। अतः 'विन्है-रासो' में दिये गये अस्पष्ट विवरणों से ही तत्संबंधी औपचारिक या वास्तविक स्थिति में कोई उल्लेखनीय फेर-बदल की संभावना का अनुमान भी मान्य करना उचित नहीं जान पड़ता है।

दूसरे, 'विन्है-रासो' की एक विशेष रूपेण उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न युद्धों का विवरण लिखते समय उसके रचयिता ने उन युद्धों की विभिन्न घटनाओं का वर्णन कहीं भी समयानुक्रम से नहीं किया है। 'पूर्व युद्ध-वर्णन' में शुजा के युद्ध-क्षेत्र से निकल जाने का उल्लेख कर देने के बाद ही 'राजा अनुरुध को जुध' (पृ० १६६) सविस्तार लिखा है। पुनः ज्ञात प्रामाणिक आधार ग्रंथों के अनुसार छत्रसाल हाड़ा, रामसिंह राठौड़, भीमसिंह गौड़, शिवराम गौड़ और रूपसिंह राठौड़ के मारे जाने तथा रही-सही सेना के भाग खड़े होने के बाद ही हतोत्साह और निराश दारा को युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के लिए विवश किया गया था। परंतु 'विन्है-रासो' में दिये गये 'धौलपुर युद्ध-वर्णन' (पृ० १२६ और आगे) में दारा शिकोह के युद्ध-क्षेत्र से चले जाने के बाद ही छत्रसाल हाड़ा, शिवराम गौड़, आदि वीर सेनानायकों द्वारा किये गये युद्ध का विवरण है, तथा शिवराम गौड़ की मृत्यु के साथ ही धौलपुर युद्ध की भी समाप्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'उज्जयिनी युद्ध-वर्णन' में भी उस

१२. जोधपुर हुकूमत री वही, पृ० १०, १२, १४, १५,। धरमाट के युद्ध में उपस्थित नहीं होने के कारण ही शिवराम गौड़, उसके आधीन सेनानायकों और सैनिकों (पृ० ११) की गणना यहाँ नहीं की गई है।

युद्ध की सब विभिन्न घटनाओं का उल्लेख कहीं भी समयानुक्रम से नहीं है। उसके अंतर्गत 'जुध-समय' (पृ० ७७–८१) में जसवंतसिंह के युद्ध करने, उस युद्ध में ५०० राठौड़ तथा ३०० भाटी वीरों के काम आने का उल्लेख करने के बाद ही सर्वप्रथम वह जसवंतसिंह के युद्ध-क्षेत्र से निकल भागने की बात लिखता है। रायसिंह (सीसोदिया), (अमरसिंह) चंद्रावत और (अमरसिंह) कछवाह के युद्ध-क्षेत्र से चले जाने का उल्लेख भी वह तदनन्तर ही करता है। प्रामाणिक आधार-ग्रंथों के अनुसार ये तीनों राजपूत सेनानायक जसवंतसिंह से बहुत पहिले ही निकल भागे थे। यही नहीं, रतनसिंह राठौड़, दयालदास झाला, सुजानसिंह सीसोदिया, गोवरधनं चांदावत, विट्ठलदास चांपावत और इफ्तिखार खां के भी मारे जाने का विवरण जसवंतसिंह आदि उपर्युक्त राजपूत योद्धाओं के चले जाने के बाद ही लिखा है। तदनंतर हाड़ा वीरों के युद्ध के वृत्तांत के बाद ही अंत में 'जुध अरजन जी गौड़ का' विवरण लिखा है।

तीसरे, यद्यपि 'बिन्है-रासो' कार ने यों 'उज्जयिनी युद्ध-वर्णन' के अंत में ही 'जुध अरजन जी गौड़ को' दिया है, उसने अपने इस काव्य में कहीं भी सुस्पष्ट शब्दों में यह नहीं लिखा है कि अन्य सारे शाही सेनानायकों के मारे जाने या युद्ध-क्षेत्र छोड़ देने के बाद भी अर्जुन गौड़ बराबर युद्ध करता रहा और उसके काम आ जाने पर ही युद्ध समाप्त हुआ था, जैसा कि 'वचनिका०' (पृ० ६२-६३) में रतनसिंह के बारे में उल्लेख है। अतः विवरण-क्रम के ही आधार पर तद्विषयक वैसा कोई निष्कर्ष निकालना या अनुमान करना कदापि ठीक या सही नहीं होगा। अपने प्रश्रय-दाता तथा स्वामी की वीरता को समुचित महत्त्व देकर उसका सविस्तार विवरण करने के ही उद्देश्य से कवि ने उसके युद्ध का वृत्तांत अन्त में दिया है। अपने आश्रयदाता घराने के अन्य सुविख्यात वीरों के प्रति भी 'बिन्है-रासो' कार का विशेष लगाव तथा पक्षपात होने के कारण ही अन्य दो युद्धों के वर्णनों में भी उसने यही रीति अपनाई है। यही नहीं, 'बिन्है-रासो' कार ने युद्ध-क्षेत्र से भागने वाले गौड़ वीरों के बारे में भी सर्वथा मौन साधना ही उचित समझा। अर्जुन गौड़ का छोटा भाई भीम गौड़ अंततः शामूगढ़ के युद्ध-क्षेत्र में काम आया, परंतु वह धरमाट के युद्ध में भी सम्मिलित हुआ था।[१३] इसी प्रकार विट्ठलदास गौड़ का छोटा भाई गिरधरदास गौड़ भी शामूगढ़ के युद्ध में दारा शिकोह की हरावल में था और उस युद्ध से बच निकला था।[१४]

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक मात्र 'बिन्है-रासो' में दिये गये विशेष विवरण-क्रम के ही आधार पर जसवंतसिंह के युद्ध-क्षेत्र त्यागने के बाद

---

१३. भीम गौड़ की नियुक्ति जसवंतसिंह की सेना में की गई थी, अतः वह तब जसवंतसिंह के साथ ही था, तथा धरमाट के युद्ध में अर्जुन गौड़ के साथ ही वह भी लड़ा था। जोधपुर हुकूमत री बही, पृ० १४, २५; ख्यात०, १, पृ० २०६; आ० ना०, पृ० ६५; विगत०, १, पृ० १७६; रतन०, उज्जैन०, छं० सं० ७७—पं० ३३।

१४. मा० उ०, (हिन्दी), १, पृ० २४२-२४३; आ० ना०, पृ० ६५।

शाही सेना का संचालन-भार अर्जुन गौड़ द्वारा ग्रहण कर यों अंतिम रूप से उसका ही इस युद्ध का नायक बनना ऐतिहासिक संभावना के रूप में भी मान्य नहीं किया जा सकता है। 'विन्है-रासो' के आधार पर प्रस्तुत इस निष्कर्ष के अतिरिक्त दो और नये कारण भी उक्त काव्य के संपादक ने दिये हैं, जिनके आधार पर उसके विचारानुसार रतनसिंह द्वारा शाही सेना का यही संचालन-भार तब ग्रहण किये जाने संबंधी-'वचनिका०' (तथा 'रतन-रासो') में दिये गये तद्विषयक स्पष्ट उल्लेख को अमान्य किया जाना चाहिए। प्रथमतः 'मारवाड़ की ख्यात की एक प्रति में राजा रतनसिंह की मृत्यु निम्नलिखित योद्धाओं के साथ दी गई है और तदनंतर राजा जसवंतसिंह के रण-त्याग कर मारवाड़ की ओर प्रस्थान करने का विवरण दिया है।' (पृ० ४८)। किंतु वहीं कुछ ही आगे "उज्जीण री राड़ में काम आया सु विगत" देते हुए साथ ही स्पष्ट शब्दों में यह भी जोड़ दिया है "पात-साही उमराव दो फेरां पछै काम आया"।[१५] यों उक्त ख्यात के उस उल्लेख के आधार पर उठाई गई इस आपत्ति में कोई विशेष बल नहीं रह जाता है। दूसरे, "उस समय की सैनिक प्रणाली और युद्ध पद्धति के अनुसार जातियों की सेनाएं अपने कुल के नेता के नेतृत्त्व में रहती थीं। इस युद्ध में भी............उसी व्यवस्था-क्रम के अधीन उन्होंने युद्ध में भाग लिया था। इसलिए जसवंतसिंह और कासिम खां के बाद किसी एक योद्धा के पूर्ण नेतृत्त्व की धारणा उचित नहीं लगती।" (पृ० ४८-४९)। तब प्रचलित जिस सैनिक व्यवस्था-क्रम का निर्देश यहाँ किया गया है, उसी के अंतर्गत राजपूत सेनानायकों और सैनिकों का सबसे बड़ा दल राठौड़ों तथा जोधपुर राजघराने से सम्बद्ध अन्य सभी राजपूत सेनानायकों और उनके सैनिकों का था, जो इस युद्ध में जसवंतसिंह और उसके आधीन अन्य प्रमुख राठौड़ सेनानायकों के व्यक्तिगत नेतृत्त्व में लड़ रहे थे। फारसी इतिहास-ग्रंथों के अनुसार जसवंतसिंह के आधीन यह सारा दल शाही सेना के व्यूह के मध्य में गोल में स्थित था।[१६] 'रतन-रासो' के अनुसार जसवंतसिंह ने अपनी एक सेना के आगे रतनसिंह

---

१५. 'रतन-रासो' के विवरण के अनुसार जसवंतसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ देने के बाद काम आने वाले ये दो पातसाही उमराव थे—रतनसिंह राठौड़ और राठौड़ गोवरधन चांदावत कूंपावत चण्डावल का। उज्जैन०, छं०सं० १५८-१५९, १७२; वचनिका०, पृ० ६४ (छं० ८०), ६८ (छं० ९५-९६); ख्यात०, १, पृ० २०७-२०८।

मारवाड़ की उक्त ख्यात से उद्धृत इस वाक्य के 'दोफेरां' का अर्थ 'दोपहरां' अर्थात् 'दोपहर' भी किया जा सकता है। तब इस वाक्य का अर्थ होगा कि 'पादशाही उमराव दोपहर बाद काम आये।' परन्तु यह अर्थ इतिहास संगत नहीं होने के कारण मान्य नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सब ही प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथों के अनुसार धरमाट का यह युद्ध एक पहर दिन चढ़े प्रारंभ हुआ था और अधिकतर पादशाही उमराव तब हरावल के प्रथम आक्रमण में दूसरे पहर में ही काम आ गये थे।

१६. आ० ना०, पृ० ६५; आकिल खां कृत 'जफरनामा 'जफरनामा' पृ० २८।

को रखा था।[१७] अतः तीसरे पहर बाद जब अपनी हार सुनिश्चित जान कर जसवंतसिंह को बाध्य हो कर युद्ध-क्षेत्र छोड़ना पड़ा, तब मुख्यतः जसवंतसिंह के निजी नेतृत्त्व में युद्ध कर रहे इस सैनिक दल का ही संचालन भार रतनसिंह को ग्रहण करना पड़ा था।[१८] तब तक अन्य कुलों के प्रायः सब ही सेनानायक और उनके सैनिक या तो युद्ध में काम आ चुके थे अथवा युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर पलायन कर चुके थे, अतएव जिस संभावित कठिनाई का इस उद्धरण में निर्देश किया गया है उसके उठने की संभावना सर्वथा नगण्य रह गई थी। इस प्रकार वचनिका० के सुस्पष्ट उल्लेख के आधार पर निश्चित रतनसिंह के मृत्यु-समय के बारे में कोई कठिनाई या आपत्ति रह ही नहीं जाती है।

इसी संदर्भ में यह भी कहना सर्वथा अनुचित नहीं होगा कि 'बिन्है-रासो' में यत्र-तत्र कुछ ऐतिहासिक भूलें भी हैं। पूर्व-युद्ध (बहादुरपुर के युद्ध) के जो वार, तिथि और संवत् उसमें (पृ० १६३-१६४, १७१) दिये गये हैं, वे सही नहीं हैं; उसकी सही तिथि आदि हैं—रविवार, फाल्गुन कृष्ण ७, सं० १७१४ वि०। पुनः उसके 'उज्जयिनी युद्ध-वर्णन' के अनुसार असीरगढ़ पहुँचने से पहले ही औरंगजेब और मुराद की सेनाएं सम्मिलित हो गई थीं (पृ० १४, १९-२०), पर यह कथन सर्वथा अनैतिहासिक ही है। धरमाट के युद्ध से एक दिन पहिले गुरुवार, अप्रेल १५, १६५८ ई० के दिन देपालपुर के तालाब के पास ही इन दोनों शाहजादों की सेनाएँ सम्मिलित हुई थीं।

इसी प्रकार 'बिन्है-रासो' के कुछ उल्लेखों का समर्थन किसी अन्य प्राप्य प्रामाणिक आधार-सामग्री से नहीं होता है। ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है करौली के राजा छत्रमणि यादव का जसवंतसिंह की सेना में होना तथा धरमाट के युद्ध से उसका भाग निकलना (पृ० ११, ७२, १०४)। उसके बड़े भाई राजा जगमन यादव का देहांत सन् १६५६ ई० में हो जाने के[१९] बाद वह करौली की राज-गद्दी पर बैठा था। अतः अपने इस पद के कारण उसका नाम उल्लेखनीय अवश्य ही हो गया था। परंतु जसवंतसिंह के साथ तब भेजी गई शाही सेना के सारे सेनानायकों आदि की जो ब्योरेवार पूरी सूची 'जोधपुर हुकूमत री बही' (पृ० ७, १०-१७) में मिलती है उसमें राजा छत्रमणि यादव का नाम नहीं है। धरमाट के युद्ध संबंधी किसी अन्य आधार-ग्रंथ में भी उसका नाम नहीं है। जनवरी ५, १६५९ ई० के दिन हुए खजवा के युद्ध के समय राजा छत्रमणि यादव अवश्य ही औरंगजेब की सेना के साथ था।[२०] पुनः यद्यपि अनेकानेक राजपूत सेनानायक और जसवंतसिंह अलग-अलग समय पर ही युद्ध-क्षेत्र से भागे थे, 'बिन्है-रासो' में उन सब का एक

---

१७. रतन०, उज्जैन०, छं० १३९।

१८. वचनिका०, पृ० ६४ (छं० ८०, ८२–३, ८८), ६८ (छं० ९४–९९); रतन०, उज्जैन०, छं० सं० १५८–१५९।

१९. वारिस०, २, प० १२८ ब।

२०. आ० ना०, पृ० २४६।

साथ उल्लेख (पृ० ८१, १०४) होने के कारण ही संभवतः उस काव्य के संपादक के मन में एक विशेष शंका उत्पन्न हो गई है। 'युद्ध से पलायन करने वाले उसके (जसवंतसिंह के) संबंधियों में राजा छत्रमणि यादव, राव अमरसिंह चंद्रावत, और राजा वैरीसिंह शेखावत के नाम भी अंकित हैं, इस प्रकार सभी संबंधी योद्धाओं के एक साथ युद्ध त्याग करने के पीछे कुछ अन्य राजनैतिक कारण भी रहे होंगे।' (पृष्ठ ४७)। किंतु इस शंका के लिये तो कोई उपयुक्त आधार नहीं मिलता है, क्योंकि राव अमरसिंह चंद्रावत की पुत्री तथा राजा छत्रमणि यादव की पौत्री के साथ जसवंतसिंह के विवाह धरमाट के इस युद्ध के लगभग सात वर्ष बाद क्रमशः मार्च और अप्रेल सन् १६६५ ई० में ही हुए थे।[२१]

अंत में यह भी स्पष्ट कर देना सर्वथा उचित और अनिवार्य हो जाता है कि इन छोटी-मोटी कमियों और त्रुटियों के होते हुए भी तत्कालीन इतिहास की आधार-सामग्री के रूप में 'बिन्है-रासो' का अपना अलग महत्त्व है। 'बिन्है-रासो' के रचयिता के घराने का गौड़ राजघरानों के साथ विशेष संबंध था, अतः उस घराने के प्रमुख व्यक्तियों की वीरता आदि पर पूरा-पूरा प्रकाश डालने का उसमें उल्लेखनीय कार्य किया गया है। यही नहीं, हाड़ा राजघरानों, आम्बेर के कछवाह राज्य तथा शेखावाटी के विभिन्न राजाओं और सरदारों के साथ भी उसका घनिष्ठ संपर्क था, जिससे उन सब ही राजघरानों, राज्यों अथवा उनके सेनानायकों और अनेकानेक मुख्य अधिकारियों के बारे में भी कवि महेशदास को पूरी-पूरी जानकारी थी। अतः उसी के आधार पर इस काव्य में वर्णित तीनों युद्धों में भाग लेने वाले उन सारे राजघरानों के वंशजों, सरदारों, सेनानायकों, अधिकारियों, आदि के बारे में जो जानकारी उसने इस काव्य में प्रस्तुत की है, वह उक्त राजघरानों या संबद्ध प्रदेशों के तत्कालीन इतिहास आदि के लिए बहुत ही उपयोगी होगी। परन्तु 'बिन्है-रासो' के प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट (२) में दी गई ऐतिहासिक टिप्पणियों से भी यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि जिन अनेकानेक व्यक्तियों का उल्लेख इस काव्य में है, उन सबके बारे में अत्यावश्यक जानकारी प्राप्त करने के हेतु उन विभिन्न क्षेत्रों में सम्बद्ध घरानों, कुटुम्बों, आदि के पुराने कागज-पत्रों, वंशावलियों, जैसी विविध प्रकार की सारी प्राप्य आधार-सामग्री की बहुत-कुछ खोज अब भी अनिवार्य रूपेण जल्दी ही करनी होगी। उसके बिना 'बिन्हैं-रासो' से प्राप्त इस सारी नई जानकारी का समुचित पूरा-पूरा उपयोग कदापि संभव नहीं हो सकेगा।

## (४) 'रतन-रासो' का ऐतिहासिक महत्त्व

'रतन-रासो' प्रधानतया एक ऐतिहासिक काव्य है, यद्यपि इस समूचे काव्य-ग्रंथ में नाम लेने को भी कवि ने किसी घटना का अथवा किसी अन्य संदर्भ में भी कोई तिथि, माह या सन्-संवत् कहीं भी नहीं दिया है। तथापि एक ऐतिहासिक काव्य के रूप में ही 'रतन-रासो' का महत्त्व आंका जाना चाहिए। अनेकानेक ऐतिहासिक घटनाओं का जो विवरण

२१. ख्यात०, १, पृ० २५८-२५९।

या उल्लेख कवि ने 'रतन-रासो' में किया है वह अन्य समसामयिक अथवा दूसरे प्रामाणिक आधार-ग्रंथों द्वारा सुज्ञात इतिहास से कहां तक समान या विभिन्न है ? उन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन या विवेचन करते समय कवि ने कहीं अतिशयोक्ति या कल्पना-मात्र का आधार तो नहीं लिया है ? अपने ऐतिहासिक विवरणों या उल्लेखों में कवि ने ऐसी कोई भूलें तो नहीं की हैं, जिनके कारण काव्य में दिये गये विवेचन की विश्वसनीयता पर आघात लगे ? ऐसी कौन सी जानकारी है जो इस काव्य-ग्रंथ में प्रथम बार विशेष रूप से प्राप्य हो रही है ? काव्य में दी गई ऐसी सारी ऐतिहासिक जानकारी के संभावित आधार क्या हो सकते हैं ? यों उसमें विशेष रूप से प्राप्य नई जानकारी का किन्हीं अन्य प्रामाणिक आधारों द्वारा अंशतः भी कहीं कोई समर्थन होता है क्या ? आदि प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए 'रतन-रासो' का अध्ययन आवश्यक हो जाता है जिससे उसका ठीक-ठीक ऐतिहासिक महत्त्व निर्धारित किया जा सके ।

अपने इस काव्य 'रतन-रासो' में कवि ने मुख्यतः महेशदास और रतनसिंह के जीवन-वृत्तों की प्रमुख घटनाओं का सविस्तार विवरण लिखा है, और उनकी पूर्व कथा के रूप में मारवाड़ के शासक मालदेव, उसके पुत्र मोटा राजा उदयसिंह और मोटा राजा के चतुर्थ पुत्र दलपत का सम्बद्ध विवरण भी उसने दिया है । काव्य के प्रारंभ में कवि ने अपने पूर्वज कवि चंग से लेकर स्वयं तक अपने वंश का वर्णन भी किया है । कवि चंग का पुत्र सांदू गोविन्द मारवाड़ के शासक राव गांगा का समकालीन था, तथा तब से ही जोधपुर के राजघराने के साथ कवि के घराने का विशेष संपर्क रहा था, जो आगे दलपत तथा उसके वंशजों के साथ भी बराबर बना रहा । कवि के पितामह सांदू माला अथवा मल्ल का अधिकांश जीवन बीकानेर के राजा रायसिंह के साथ बीता था । अतः अपने वंश का वर्णन लिखते समय अपने पूर्वजों के इन संरक्षक राजाओं आदि से सम्बद्ध कई एक घटनाओं का भी उल्लेख उसने किया है । यद्यपि यत्र-तत्र कहीं-कहीं प्रकरण विशेष के संदर्भ में उससे बहुत पहिले की भी किन्हीं घटनाओं का उल्लेख या संकेत यत्र-तत्र है, 'रतन-रासो' में मुख्यतः राव गांगा के शासन-काल से लेकर धरमाट के निर्णायक युद्ध (सन् १६५८ ई०) तक के कोई १३५-१४० वर्षों के इतिहास से सम्बद्ध कुछ विशेष घटनाओं का विवरण है ।

कवि सांदू कुंभा ने अपने काव्य में कहीं भी इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया है कि इन सारी ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान उसने किन ग्रंथों या अन्य आधार-सामग्री से प्राप्त किया था । यह तो स्पष्ट ही है कि सांदू कुंभा ने तब तक लिपि-बद्ध किये जा चुके बहुत ही सुविख्यात वीर-काव्य 'पृथ्वीराज-रासो' के लघु अथवा मध्यम रूपांतर का बहुत ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था और तत्कालीन राजस्थान के अन्य ऐतिहासिक काव्यों के रचयिताओं के समान उसने भी पृथ्वीराज और जयचन्द संबंधी सारी ही जानकारी उसी ग्रंथ से प्राप्त की थी । उसके पूर्वजों तथा अन्य कवियों विशेषतः चारणों द्वारा रचित जो-जो ऐतिहासिक काव्य, स्फुट छंद गीत और वार्ता साहित्य तब चारणों में प्रचलित थे उनको तो कुंभा ने पूरा-पूरा पढ़ा ही था । परन्तु इन सारी ऐतिहासिक घटनाओं के विवरणों का

मुख्य आधार निश्चित रूपेण वंशपरंपरागत निजी जानकारी ही रही होगी। कुंभा के घराने का मारवाड़, बीकानेर और रतलाम के राठौड़ राजघरानों से बहुत ही गहरा संबंध रहा था, अतः कुंभा के पूर्वजों के निजी ज्ञान अथवा इन कौटुम्बिक संबंधों के फलस्वरूप उन्हें प्राप्त विशेष जानकारी के द्वारा ही ये बहुत से विवरण कुंभा को उत्तराधिकार में मिले थे। अपने व्यक्तिगत संपर्कों और प्रयत्नों द्वारा भी कुंभा ने अवश्य ही उनमें पर्याप्त वृद्धि की होगी। यों 'रतन-रासो' में दी गई विभिन्न घटनाओं की जानकारी के मुख्य आधार तब राजपूत क्षेत्रों में प्रचलित तथा वहां सुमान्य विवरण ही रहे हैं, जिनका मुगल कालीन इतिहास के लिए अपना विशेष महत्त्व है।

मुगल इतिहास संबंधी चार महत्त्वपूर्ण घटनाओं का 'रतन-रासो' में कुछ विस्तार के साथ वर्णन है। शाहजहां के जीवन तथा इतिहास से सम्बद्ध जिन चार महत्त्वपूर्ण युद्धाभियानों का कवि कुंभा ने यों वर्णन किया है, वे हैं—सन् १६२५ ई० का बुरहानपुर का घेरा, सन् १६३३ ई० में दौलताबाद के किले का घेरा और उस पर विजय, सन् १६४७ ई० में बल्ख पर चढ़ाई तथा अप्रेल १६, १६५८ ई० को हुआ धरमाट का निर्णायक युद्ध। इन चारों ही युद्धाभियानों का विवरण लिखते समय कवि का उद्देश्य तथा दृष्टिकोण सीमित ही रहा है। उन विशिष्ट अभियानों में अपने चरित्र-नायक या उसके भाई-बेटों, सगे-संबंधियों या साथी सहायक सेनानायकों आदि के वीरतापूर्ण कार्यों, उनकी सफलताओं अथवा चरम बलिदानों को ही समुचित रूप में प्रस्तुत करना कवि का प्रमुख उद्देश्य रहा है। उसके कोई भी चरित्र-नायक या ऐसे अन्य व्यक्ति उन अभियानों में शाही सेना के प्रमुख सेनानायकों में से नहीं रहे थे, अतः उनके कार्य-भार और क्रिया-क्षेत्र सीमित ही होते थे। इसी कारण इन युद्धाभियानों की पृष्ठ-भूमि संबंधी मुख्य बातों को संक्षेप में लिखने के बाद कवि ने प्रायः अपना सारा विवरण मुख्यतया अपने चरित्र-नायकों तथा उनके उपर्युक्त संगी-साथियों आदि के उस क्रिया-क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रखा, जिससे 'रतन-रासो' में प्रस्तुत ये विवरण एकांगी ही हो गये हैं। पुनः इनी-गिनी विशिष्ट घटनाओं को छोड़ते हुए इन युद्धों का विवरण अधिकतर कल्पनापूर्ण तथा परम्परागत ही है। अपने चरित्र-नायकों का महत्त्व स्थापित करने के लिए इन अभियानों में उनके पद अथवा उन्हें दिये गये पुरस्कारों आदि का उल्लेख करने में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। इन युद्धों में भाग लेने वाली सेनाओं तथा उनमें हताहतों की संख्याएं भी बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण हैं।

प्रथमतः महेशदास के अग्रज कन्हीराम के जीवन-वृत्त तथा उसकी अद्वितीय वीरता का वृत्तान्त लिखते हुए कवि ने विद्रोही शाहजादे शाहजहां द्वारा सन् १६२५ ई० में लगाए गये बुरहानपुर के किले के घेरे के समय के युद्धों का विवरण संक्षेप में ही लिखा है। कन्हीराम तब बुरहानपुर में शाही सेनापति बूंदी के हाड़ा राव रतन का सेनानायक था, शाह कुलीखां (मुहम्मद तकी) ने जब बुरहानपुर नगर में घुस कर वहां अधिकार कर लिया था, तब 'रतन-रासो' के अनुसार कन्हीराम ने ही किले में घुस कर शाह कुली को परास्त किया था और ऐसा करने में वह तथा उसका वीर सरदार सांचोरा चौहान अज्जा (अर्जुन) मारे गये थे। इन सहायक सेनानायकों आदि का कोई उल्लेख फारसी इतिहास-ग्रन्थों में

नहीं होना अनहोनी बात नहीं है। किन्तु कन्हीराम के इस युद्ध में बरछी चलाने तथा वीरता दिखा कर खेत रहने का उल्लेख कविराजा की ख्यात (२, पृ० २४६) में है। वैसे ही सांचोरा चौहान अज्जा के तब कन्हीराम की सेवा में होने और उसी के साथ बुरहानपुर में उसके काम आने की बात नैणसी (१, पृ० १७६ पा० टि०) ने भी लिखी है। शाहजहां के तब बुरहानपुर पहुंचने से पहिले ही मलिक अम्बर के सेनानायक याकूत खां हब्शी ने वहां का घेरा डाल दिया था, जिससे किले में तब खाद्यान्न की कमी अवश्य ही अनुभव होने लगी होगी, परन्तु उसी कारण अन्तिम युद्ध से पहले कन्हीराम और अज्जा के एक-एक माह तक व्रत रखने की जो बात कवि ने लिखी हैं वह सर्वथा अतिशयोक्ति ही जान पड़ती है।

कवि सांदू कुंभा ने जिस दूसरे ऐतिहासिक युद्धाभियान का सविस्तार विवरण लिखा है, वह है इतिहास-प्रसिद्ध मुगल सेनानायक महाबत खां का सन् १६३३ ई० का दौलताबाद (देवगिरि) के किले का घेरा। कोई साढ़े तीन माह के घेरे के साथ ही अनेकानेक भीषण आक्रमणों तथा घमासान युद्धों के फलस्वरूप तब उस किले पर मुगलों का आधिपत्य हो सका था। दौलताबाद का यह घेरा महेशदास के जीवन में विशेष महत्त्वपूर्ण और निर्णायक प्रमाणित हुआ। उस घेरे के समय अम्बरकोट पर अधिकार करने में तथा अन्य युद्धों में भी महेशदास ने विशेष वीरता दिखाई थी और महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, जिससे वीरता के लिये उसकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो गई और महाबत खां की मृत्यु होने पर सन् १६३५ ई० के प्रारम्भ में जब महेशदास शाही दरबार में पहुँचा तब उसे तत्काल ही शाही मनसब प्रदान कर दिया गया।

दौलताबाद के इस घेरे और तब हुए युद्धों और आक्रमणों आदि का कवि ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है। परन्तु तब दौलताबाद के शासक के नाम आदि की उसे सही जानकारी नहीं थी ऐसा जान पड़ता है। घेरा लगाये जाने पर दौलताबाद के प्रमुख शासक फतेह खां ने अपने पक्ष में दक्षिण के अन्य राज्यों की सहायता प्राप्त करने को जो प्रयत्न किये थे तथा तदर्थ तब भेजी गई सेनाओं का जो विवरण 'रतन-रासो' में है उसमें ऐतिहासिक तथ्य बहुत ही कम हैं। औरंगजेब-कालीन युद्धों में पुर्तगाली सैनिकों को दक्षिणी युद्धों में भाग लेते देख कर कवि ने इस समय भी तब उनके वहां होने का उल्लेख कर दिया है। 'पादशाह-नामा' में दिये गये प्रामाणिक समसामयिक विवरण के अनुसार अप्रेल ६, १६३३ ई० के दिन दौलताबाद के अम्बरकोट को जीतने में महेशदास ने महत्त्व-पूर्ण भाग लिया था। तदनन्तर किले में धान्य पहुँचाने का प्रयत्न करने वाली शत्रु-सेना को अप्रेल १७, १६३३ ई० के दिन पूर्णतया पराजित करने वालों में महेशदास और उनके राजपूत सरदार भी थे। परन्तु मई २४, १६३३ ई० को दौलताबाद के महाकोट पर अधिकार करने वाले सेनानायकों में महेशदास के भी होने का कोई उल्लेख 'पादशाह-नामा' में नहीं मिलता है। 'रतन-रासो' में तब महेशदास, उसके भाइयों और सगे-सम्बन्धियों द्वारा किये गये युद्ध का वर्णन इतना व्यापक और अस्पष्ट है कि निश्चित रूपेण यह कहना सम्भव नहीं कि उसमें उपर्युक्त युद्धों में से किस युद्ध विशेष का वर्णन किया गया है।

अपने इस युद्ध-वर्णन में कवि ने एक भूल तो अवश्य ही की है। उसने जगन्नाथ भाटी के तब युद्ध करने और खेत रहने का उल्लेख किया है, जो ठीक नहीं है। 'पादशाह-नामा' के अनुसार वह मार्च २८, १६३३ ई० को ही काम आ चुका था। सांचोरा चौहान गोपालदास के तब महाबत खां की सेवा में होने और दौलताबाद में उसके काम आने का उल्लेख नैणसी (१, पृ० १७६) ने भी किया है। दौलताबाद-विजय के बाद तद्विषयक महाबत खां के पत्र का जो विवरण कवि ने लिखा है वह वस्तुतः कल्पनापूर्ण ही है। इसी विजय को लेकर शाहजहां के महेशदास को पत्र आदि भेजने की बात भी सर्वथा निराधार और अविश्वसनीय ही है। तब महेशदास महाबत खां की सेवा में था अतः ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं था।

कवि सांदू कुंभा द्वारा वर्णित तीसरा ऐतिहासिक युद्धाभियान सन् १६४७ ई० में बल्ख पर मुगल चढ़ाई है। इस चढ़ाई की तैयारी हो रही थी, तब ही मार्च, १६४७ ई० में लाहौर में महेशदास का देहान्त हो गया, अतः इस चढ़ाई में सम्मिलित होने को उसके उत्तराधिकारी रतनसिंह को बुलाया गया। शाहजहां भी तब तक काबुल पहुँच गया था, अतः रतनसिंह मई माह (१६४७ ई०) में वहीं शाही दरबार में पहुँचा। जून के प्रारम्भ में मिर्जा राजा जयसिंह के साथ उसे बल्ख भेजा गया, परन्तु उनके वहां पहुँचने तक युद्ध समाप्त हो गया था। बल्ख से वापस लौटते हुए अक्तूबर ८, १६४७ ई० को गजनियाक की घाटी के पास जब अलमानों ने शाही सेना के पिछले हिस्से पर हमला किया तब रतनसिंह और उसके साथियों ने वीरतापूर्वक उनका सामना किया, तथा उन्हें मार भगा दिया। इस सारी चढ़ाई में रतनसिंह ने इसी एक लड़ाई में भाग लिया था। परन्तु इस चढ़ाई के सिलसिले में 'रतन-रासो' में जो युद्ध-वर्णन है वह स्पष्टतया अलमानों के साथ हुई इस छुटपुट लड़ाई का विवरण नहीं हो सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि इस चढ़ाई का विवरण लिखते समय कवि ने उससे पहिले तथा बाद की अन्य चढ़ाइयों के समय की घटनाओं को भ्रमवश इसी अभियान विशेष में जोड़ दिया। इस अभियान में उसने वजीर सादुल्ला के होने का उल्लेख किया है, जो ठीक नहीं है। सन् १६४६ ई० में प्रथम बल्ख-अभियान के समय उसे शाहजादा मुराद को समझाने के लिये बल्ख भेजा गया था और एक माह के भीतर ही वह वहां से वापस लौट आया था। 'रतन-रासो' के युद्ध-वर्णन को पढ़ने से ऐसा अनुमान होता है कि इसी प्रकार इस द्वितीय बल्ख-अभियान के अन्तर्गत युद्ध का वर्णन करते समय कवि ने भूल से कंधार के पहिले घेरे के समय अगस्त २५, १६४९ ई० को हुए शाह-मीर के युद्ध का ही वर्णन लिख दिया, जिसमें रतनसिंह ने उल्लेखनीय वीरता और साहस का प्रदर्शन किया था, तथा जिसके लिए तब रतनसिंह पुरस्कृत किया गया था। उधर 'पादशाह-नामा' के अनुसार भी मऊ और पठानकोट के राजा राजरूप, हाड़ा राव शत्रुसाल और गोकुलदास सीसोदिया ने इस द्वितीय बल्ख-अभियान के समय विशेष वीरता दिखा कर उल्लेखनीय कार्य किया था।

'रतन-रासो' में वर्णित मुगल इतिहास सम्बन्धी अंतिम महत्त्वपूर्ण घटना है धर-माट का निर्णायक युद्ध और तदर्थ अभियान विषयक विवरण। 'उज्जैन-समय' शीर्षक

अन्तिम अध्याय में कवि ने इसी अभियान और युद्ध-विशेष का सविस्तार वृत्तांत लिखा है। 'रतन-रासो' के सब अध्यायों में यही सबसे बड़ा और हर तरह से विशेष महत्त्व का है। इस युद्ध में रतनसिंह के अद्वितीय पराक्रम और अनुपम बलिदान का वर्णन करना ही कवि कुंभा का मुख्य उद्देश्य रहा है। उसने स्वयं लिखा है—

अतुलित अतैव प्राक्रम नर्यंद,
संपेखि हरिष जस पित्थ चंद।
तत अमर करन संसार मंध,
रचि रुचिर दिव्य रासो प्रबंध ॥[1]

अतः धरमाट के इसी निर्णायक युद्ध की पृष्ठ-भूमि को सुस्पष्ट करने के लिये तब मुगल साम्राज्य में उत्पन्न सारी राजनैतिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए इस युद्धाभियान के कारणों का कवि ने निर्देश किया है। शाहजहां के ऐश्वर्य के साथ ही नई दिल्ली (शाहजहांनाबाद) के निर्माण का वर्णन करते हुए कवि ने कितना अनोखा चिर सत्य लिख दिया है—

दुलहणि निति नवल्लो दिव्या
अद्भुत रूप रूपसा दिल्ली।
कई सुर असुर अदल्ली
जुग जुग गये काल जरजूरन ॥[2]

शाहजहां के वृद्धापकाल और बीमारी के कारण जब स्थिति बिगड़ने लगी तथा दारा शिकोह के सम्भाले नहीं सम्भली तब सुदूरस्थ तीनों विद्रोही छोटे शाहजादों का सामना करने के लिये शाही सेनायें भेजी गईं। शाहजहां की बीमारी के फलस्वरूप तब मुगल साम्राज्य में सर्वत्र उत्पन्न भय, आतंक, घबराहट और राजनैतिक अनिश्चितता का बहुत ही सही, सुस्पष्ट तथा सजीव वर्णन 'रतन-रासो' में मिलता है। तीनों विद्रोही शाहजादों की सैनिक तैयारियां और दारा शिकोह के विरुद्ध उन सब ही के आपसी मंत्रणा करने आदि की भी कवि ने चर्चा की है। तब 'भविष्य कथन' के रूप में उसने धरमाट तथा तदनन्तर होने वाले शामूगढ़ (धौलपुर) के युद्धों में भाग लेने वाले प्रमुख राजपूत सेनानायकों और उनकी गतिविधियों का संक्षेप में उल्लेख करते हुए उन दोनों युद्धों के परिणामों का भी सुस्पष्ट संकेत कर दिया है।

धरमाट के युद्धाभियान का वर्णन करते हुए यद्यपि कवि कुंभा ने अपना विशेष ध्यान अपने चरित्र नायक रतनसिंह की कार्यवाहियों की ओर ही दिया था, उसने शाही सेना के प्रमुख सेनापति महाराजा जसवंतसिंह की सब ही हलचलों, उसकी व्यूह-रचना तथा

---

१. रतन०, उज्जैन०, छं० सं० २००—पं० १०—११।
२. रतन०, उज्जैन०, छं० सं० १०।

सेना-संचालन, और उसके स्वयं युद्ध करने के बारे में भी पर्याप्त विवरण लिखा है, जिसके फलस्वरूप 'रतन-रासो' का यह 'उज्जैन-समय' मुगल इतिहास के लिये महत्त्वपूर्ण प्राथमिक आधार-सामग्री बन गया है। 'वचनिका०' के रचयिता खड़िया जगा की तरह कवि कुंभा तब इस युद्धाभियान में स्वयं उपस्थित नहीं था, क्योंकि तब उसका बाल्यकाल ही रहा होगा। परंतु वयस्क होने पर जब उक्त अभियान तथा युद्ध में भाग लेने वाले अनेकानेक प्रमुख राजपूत सेनानायकों, उनके उत्तराधिकारियों अथवा उनसे संबद्ध अन्य जानकार व्यक्तियों के साथ उसका घनिष्ठ संपर्क हुआ तब उसने उन सबसे इस युद्धाभियान विषयक सारी बातों की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी। अतः इस युद्धाभियान से लगभग कोई बीस वर्ष बाद रचित इस ग्रंथ में प्रस्तुत जानकारी का महत्त्व अन्य समसामयिक या उसके कुछ समय बाद लिखे गये अन्य आधार-ग्रंथों से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

सारे प्राप्य फारसी आधार-ग्रंथों में इस युद्ध के विवरण मुख्यतया उसके विजेता औरंगजेब के दृष्टिकोण तथा उसी पक्ष विशेष से प्राप्त सामग्री और जानकारी के ही आधार पर लिखे गये हैं। अतः इस युद्ध से पहिले तथा युद्ध के समय जसवंतसिंह की सेना में होने वाली घटनाओं का कोई भी वर्णन उन फारसी आधार-ग्रंथों में नहीं मिलता है। इसी कारण सारे प्राप्य फारसी इतिहास-ग्रंथों के आधार पर डा० यदुनाथ सरकार द्वारा लिखित धरमाट के इस युद्ध का वह विस्तृत अतीव सुस्पष्ट और भावपूर्ण विवरण भी एकांगी ही रह गया है। फारसी ऐतिहासिक आधार-ग्रंथों की इस खटकने वाली बड़ी कमी को तद्विषयक राजस्थानी अथवा हिन्दी आधार-ग्रंथ कई अंशों में पूरा करते हैं, जो तब डा० यदुनाथ सरकार को प्राप्य नहीं हो सके थे। मारवाड़ राज्य की अनेकानेक ख्यातों के समान ही 'जोधपुर हुकूमत री वही' में भी इस युद्ध का विवरण बहुत ही संक्षिप्त तथा केवल महाराजा जसवंतसिंह विषयक है। अपने ऐतिहासिक-काव्य 'सूरज प्रकाश' में कविया करणीदान ने इस युद्ध तथा उसमें महाराजा जसवंतसिंह की वीरता के वर्णन में केवल १०-१२ कवित लिखे हैं। अतः मुख्यतया रतनसिंह विषयक होते हुए भी खड़िया जगा कृत 'वचनिका०' और कवि कुंभा कृत 'रतन-रासो' फारसी आधार-ग्रंथों की उपर्युक्त कमी को बहुत कुछ पूरा करते हैं। पुनः खड़िया जगा द्वारा वर्णित धरमाट के इस युद्ध की अनेकानेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं के सर्वथा स्वतन्त्र समर्थक आधार-ग्रंथ के रूप में भी 'रतन-रासो' का विशेष महत्त्व है।

'रतलाम का प्रथम राज्य' (पृ० १७०-१८८) तथा 'वचनिका०' की भूमिका (पृ० ८८-६४) में इस बात की सविस्तार विवेचना की जा चुकी है कि 'वचनिका०' की तरह 'रतन-रासो' में दिया गया धरमाट के युद्ध का विवरण फारसी इतिहास-ग्रन्थों के ही आधार पर लिखित 'हिस्ट्री आफ औरंगजेब' (१-२, पृ० ३५६-३६७) में डा० यदुनाथ सरकार के युद्ध-वर्णन से दो महत्त्वपूर्ण बातों में सर्वथा विभिन्न है। प्रथमतः डा० यदुनाथ सरकार के अनुसार शाही सेना के घुड़सवारों के प्रथम आक्रमण के समय ही मुकुन्दसिंह हाडा, दयालदास झाला, अर्जुन गौड़ और सुजानसिंह सीसोदिया आदि अन्य प्रमुख राजपूत सेनानायकों के साथ ही रतनसिंह भी तब प्रारम्भ में मारा गया था। (औरंग०, १-२,

पृ० ३६०, ३६३) । 'वचनिका०' और 'रतन-रासो' के अनुसार महाराजा जसवंतसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के अनन्तर तथा अन्य सारे प्रमुख राजपूत सेनानायकों के काम आ जाने के बाद युद्ध की समाप्ति के समय ही रतनसिंह की मृत्यु हुई थी । दूसरे, डा० यदुनाथ सरकार के मतानुसार महाराजा जसवंतसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के बाद 'शाही सेना के बाकी रहे विरोध का अन्त हो गया । शाही सेना के जो बचे-खुचे दल अब तक शाहजादों की सेना का सामना कर रहे थे, वे भी अब युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर भाग खड़े हुए । राजपूत सैनिक अपने-अपने घरों को लौट गये और मुसलमान सैनिकों ने आगरा की राह ली ।' (औरंग०, १–२, पृ० ३६६) । किन्तु 'वचनिका०' और 'रतन-रासो' के अनुसार युद्ध-क्षेत्र छोड़ते समय महाराजा जसवंतसिंह ने तब भी वहां लड़ रही बाकी शाही सेना के संचालन का भार रतनसिंह को सौंपा था, अतः जसवंतसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के बाद रतनसिंह और उसके सब ही साथी सेनानायक प्राणों का मोह छोड़ कर अलौकिक वीरता तथा अद्वितीय साहस के साथ विद्रोही शाहजादों की सेना पर टूट पड़े और लड़ते हुए खेत रहे । रतनसिंह और उसके साथियों के यों काम आने पर ही इस युद्ध का अन्त हुआ था ।

इन दोनों विभिन्नताओं के बारे में 'वचनिका०' और 'रतन-रासो' के कथनों की प्रामाणिकता आदि के बारे में अन्यत्र दिये गये विस्तृत विवेचनों को यहां दोहराना आवश्यक नहीं जान पड़ता है । यहां तो इस सम्बन्ध में संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि 'वचनिका०' में खड़िया जगा वर्णित मूल-भूत घटनावली का उसके कोई २०–२५ वर्ष बाद स्वतन्त्र रूपेण रचित 'रतन-रासो' में कवि कुंभा ने भी पूर्णतया समर्थन ही किया था । अतः फारसी ग्रन्थों या जोधपुर राज्य की ख्यातों आदि में उनके उल्लेख के अभाव के कारण ही तद्विषयक ये विवरण किसी प्रकार भी अनहोने अथवा पूर्णतया अप्रामाणिक नहीं कहे जा सकते हैं, और न उनमें वर्णित उन घटनाओं के मूल तथ्यों को सर्वथा अमान्य ही किया जा सकता है । यही कारण था कि डा० यदुनाथ सरकार कृत 'ए शार्ट हिस्ट्री आफ औरंगजेब' का संशोधित संक्षिप्त हिन्दी संस्करण तैयार करते समय जब धरमाट के युद्ध विषयक 'वचनिका०' और 'रतन-रासो' में प्राप्य इन विवरणों की ओर डा० यदुनाथ सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया तब उन्होंने भी इन दोनों ग्रन्थों में दी गई बातों के आधार पर तत्संबंधी उनके पहिले के विवरण में यत्र-तत्र कुछ अत्यावश्यक परिवर्तन कर दिये थे ।[3] अतः यह उचित ही जान पड़ता है कि मुगल इतिहास के अन्य ग्रन्थों के धरमाट युद्ध-विवरण में भी वैसे ही फेरफार कर दिये जावें ।

धरमाट युद्धाभियान विषयक ऐतिहासिक आधार-ग्रंथ के रूप में 'रतन-रासो' 'वचनिका०' की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है । 'वचनिका०' में खड़िया जगा ने मुख्यतया धरमाट के युद्ध में रतनसिंह और अनेकानेक प्रमुख राजपूत वीरों की वीरता का ही विवरण लिखा है । परन्तु कवि कुंभा ने इनके अतिरिक्त इस युद्धाभियान संबंधी कई अन्य बातों का

---

३. यदुनाथ सरकार कृत 'औरंगजेब' (हिन्दी), प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, ४, पृ० ७७–८० ।

भी सविस्तार उल्लेख तथा विवेचन किया है। शाहजहां और उसके विभिन्न शाहजादों के प्रति तब समाज की क्या धारणा थी इसका स्पष्ट प्रतिविम्ब 'रतन-रासो' में यत्र-तत्र मिलता है। धरमाट के युद्ध को टालने के लिये औरंगजेब और जसवंतसिंह के पत्रोत्तर तथा उस युद्ध में दोनों सेनाओं की व्यूह रचनाओं का भी कवि कुंभा ने सविस्तार वर्णन किया है। अतः 'रतन-रासो' के द्वारा इस उत्तराधिकार युद्ध तथा उसके परिणाम संबंधी जन-साधारण की मान्यताओं और भावनाओं की थोड़ी-बहुत जानकारी हो जाती है।

अपने इस 'उज्जैन-समय' में कवि कुंभा ने यत्र-तत्र कुछ छोटी-मोटी भूलें भी की हैं, जिनमें विशेष रूपेण उल्लेखनीय ये हैं। प्रथमतः विद्रोही शाहजादों के विरुद्ध भेजी जाने वाली सेनाओं का उल्लेख करते हुए उसने लिखा है :—

धरक्के धरा आम है कंप दिल्ली,
फुरे गल्लु आवाज चौचक्क मिल्ली।
सितावी करै साहि छै बंब चड्ढे,
लग्यो मंदर द्वार तै भार कड्ढे ॥[४]

कवि का यह कथन ठीक नहीं है। शाहजहां अक्तूबर १८, १६५७ ई० को ही दिल्ली से आगरा के लिये रवाना हो गया था। तीनों शाहजादों के विद्रोह के समाचार तदनन्तर शाही दरबार में आगरा ही पहुँचे थे और उनके विरुद्ध सेनाएं आगरा से ही रवाना की गई थीं। दूसरे, धरमाट के युद्ध के प्रारम्भ का उल्लेख 'रतन-रासो' में इस प्रकार है :—

भयौ जुद्ध प्रारंभ मध्यान भानं,
प्रयस्से सुरं संगरं आसमानं ॥[५]

फारसी इतिहास-ग्रंथों के अनुसार यह युद्ध सूर्योदय से कोई दो-ढाई घण्टे बाद ही प्रारम्भ हो गया था, जो इस युद्ध के सारे विवरण को देखते हुए सर्वथा सही और अधिक मान्य है। तीसरे, कुछ शाही सेनानायकों के धरमाट के युद्ध-क्षेत्र से भागने का वर्णन करते हुए कवि कुंभा ने लिखा है :—

नृपं रायस्यंघ हट्यों भीमनंदं,
पती लज्ज चित्रंग दुगं सुछंदं।
चमु दच्छिनी खेल मालू दुसत्थं,
बलक्खी भगे साहिजादे सुतत्थं ॥[६]

यहां मराठा सेनानायकों में खेलोजी भोंसले का नाम भ्रमवश लिख दिया गया है। खेलोजी का देहांत सन् १६३९ ई० में ही हो चुका था। धरमाट के इस युद्ध में खेलोजी

४. रतन०, उज्जैन०, छं० सं० ६०–पं० ३१-३२।
५. रतन०, उज्जैन०, छं० सं० १४६–पं० ५६।
६. रतन०, उज्जैन०, छं० सं० १४६–पं० ८४-८५।

का तीसरा भाई परसोजी भोंसले सम्मिलित हुआ था और अपने बड़े भाई मालोजी भोंसले के साथ परसोजी ही युद्ध क्षेत्र से भागा था।

कवि कुंभा ने 'रतन-रासो' में रतनसिंह के पूर्वजों का जो सविस्तार विवरण लिखा है, ऐतिहासिक दृष्टि से वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। जोधपुर के सुविख्यात शासक मालदेव के उत्तराधिकारी राव चन्द्रसेन और उसके बड़े भाई उदयसिंह में हुए संघर्ष के इस वृत्तांत से जोधपुर राज्य की ख्यातों के तद्विषयक विवरण का बहुत-कुछ समर्थन होता है। मोटा राजा उदयसिंह के बाद उसका छठा पुत्र सूरसिंह जोधपुर का शासक बना और मोटा राजा के अन्य पुत्रों की ही तरह उसके चौथे पुत्र दलपत को भी निर्वाह के लिए प्राप्त जागीर आदि से संतोष कर लेना पड़ा। दलपत से ही रतनसिंह का यह राजघराना जोधपुर के राजघराने से अलग हो जाता है। रतनसिंह इसी दलपत का पौत्र था। अतः दलपत, उसके पुत्रों और पौत्रों के विवरण के लिए तो 'रतन-रासो' अवश्य ही प्राथमिक महत्त्व का ऐतिहासिक आधार-ग्रंथ है। उसके इन वंशजों के राजघरानों की ख्यातों में दलपत के बारे में कोई जानकारी प्राप्य नहीं है, अतः 'रतन-रासो' में मिलने वाली जानकारी से दलपत के जीवन-वृत्त पर नया प्रकाश पड़ता है। दलपत का ज्येष्ठ पुत्र कन्हीराम निर्वंश ही रहा, अतः उक्त ख्यातों में उसका केवल नामोल्लेख ही है। उसके ज्येष्ठ पुत्र होने का भी कोई संकेत उनमें नहीं है। उन ख्यातों में महेशदास तथा उसके अन्य साथी भाइयों विषयक विवरण भी बहुत ही संक्षिप्त मिलता है। अतः दौलताबाद के घेरे तथा उस पर विजय के समय उनके वीरतापूर्ण कार्यों की विशद जानकारी के लिए भी 'रतन-रासो' ही मुख्य आधार-ग्रंथ है। रतनसिंह के जीवन-वृत्त के लिये तो यह काव्य-ग्रंथ वस्तुतः प्राथमिक महत्त्व का है। 'कहरकोह' हाथी को वश में करने की घटना रतनसिंह के जीवन में बहुत ही निर्णायक हुई थी, अतः 'रतन-रासो' में उसका विस्तृत वर्णन होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार रतनसिंह को रतलाम मिलने का विशेष रूपेण वर्णन किया गया है क्योंकि यों रतनसिंह के जीवन में ही नहीं इस राठौड़ राजघराने के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ। तब इस राठौड़ राजघराने का मालवा में प्रवेश हुआ और वहाँ रतलाम राज्य की स्थापना हुई। किंतु इस नये राज्य का सुख रतनसिंह के भाग्य में अधिक समय तक नहीं था; लगभग दो वर्ष में ही वह धरमाट के युद्ध में काम आया और तदनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह तथा ज्येष्ठ पौत्र शिवसिंह क्रमशः रतलाम की गद्दी पर बैठे। रतनसिंह के छोटे भाई रायसल, कल्याणदास और फतेहसिंह के बारे में भी 'रतन-रासो' में यत्र-तत्र कुछ ऐसी जानकारी प्राप्त होती है जिसका इन घरानों की ख्यातों में कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

किन्तु रतनसिंह के पूर्वजों तथा उसके वंश का यह विवरण लिखने में कवि कुंभा ने भ्रमवश यत्र-तत्र कई भूलें भी कर दी हैं, जिनमें कुछ विशेष रूपेण उल्लेखनीय ये हैं। मल्ल कवि के विवरण के अंतर्गत 'रतन-रासो' में लिखा है :—

गहिव पंन बंगाल पर,
उदयसिंघ महाबाहु।

करनि करिंद्र कविन्द्र दिय,
नृप दीनैं पतिसाहु ।।[७]

परन्तु मोटा राजा उदयसिंह न तो कभी बंगाल भेजा गया और न वह स्वयं ही वहाँ गया । दलपत के विवाह का उल्लेख करते हुए कवि कुंभा ने लिखा है :—

मानस्यंघ कूरम नृपति
दुतिय अकब्बर साहि ।
सुता दई भूषन वसन हय
करचंद्र दिय ताहि ।।[८]

ये दोनों ही उल्लेख गलत हैं । राजा मानसिंह के पिता भगवानदास की बहिन अकबर को ब्याही गई थी, और राजा मानसिंह की बहिन मानमती अथवा मानबाई का विवाह जहांगीर के साथ हुआ था । गुरुजी० के अतिरिक्त सीतामऊ राजघराने की सब ही ख्यातों के अनुसार दलपत का विवाह मानसिंह की बहिन के साथ हुआ था ।

'कहरकोह' हाथी को वश करने पर शाहजहां ने रतनसिंह को पुरस्कृत किया । उसका उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है :—

करि सरफराज हफतह हजार
सतरि तमाम सौवे करार ।
दे अस्फ फील समसेर ताहि
जालंधरेव दिय दुरंग साहि ।।[९]

तथा आगे फिर लिखा है :—

बखसै खुदाय इस सबब आज
उम्मर तमाम आराम राज ।
इह बर्करार दिल्ली जलाल
अक्तवत्त वत्त किय रतन हाल ।।[१०]

रतनसिंह को दिये गये पुरस्कारों का यह वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण ही नहीं है, परन्तु उसमें काल-क्रम संबंधी तथा अन्य ऐतिहासिक भूलें भी हुई हैं । कहरकोह संबंधी यह घटना जंनवरी, १६४१ ई० के अंतिम सप्ताह में लाहौर में (दिल्ली में नहीं) घटी थी और जालौर का परगना उससे कोई डेढ़ वर्ष बाद ही अगस्त ३१, १६४२ ई० को महेशदास को वतन के रूप में प्रदान किया गया ।[११] महेशदास की मृत्यु के बाद मार्च, १६४७ ई० में ही

७. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० २८ ।
८. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० १२६ ।
९. रतन०, पंचम०, छं० सं० ८—पं० १६६-१६७ ।
१०. रतन०, पंचम०, छं० सं० ८—पं० २०३-२०४ ।
११. रतलाम०, पृ० ५०-५२, ५५ ।

रतनसिंह को जालोर का परगना मिला था। अपने चरित्र-नायकों के महत्त्व का वर्णन करते हुए कवि ने एक स्थान पर लिखा है :—

जिय पाये रतलाम पुर,
जालंधर साँचौर ।
अधिकौ रतन महेस तै,
अधिक कहूँ कहँ और ।।[१२]

परन्तु यहां भी कवि ने सांचोर का उल्लेख कर भूल की है। सांचोर का परगना महेशदास या रतनसिंह के अधिकार में कभी रहा हो ऐसा कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्रत्युत मई, १६३८ ई० तक यही परगना जोधपुर के महाराजा गजसिंह के अधिकार में रहा और सन् १६४२ ई० में वह बल्लू सांचोरा को जागीर में दे दिया गया था। पुनः 'रतन-रासो' में चार वार रतनसिंह के पुत्रों की नामावली दी गई है।[१३] परन्तु प्रत्येक वार केवल नौ पुत्रों के ही नाम दिये गये हैं। तीन पुत्रों के नामों का—पृथ्वीराज, सूरसिंह और धीरतसिंह का—कवि कुंभा ने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है।

मोटा राजा उदयसिंह का विवाह सांचोरा चौहान मेहकरण राणा नींबावत की पुत्री अजायब दे से भी हुआ था। इसी रानी ने दलपत को जन्म दिया था। इसी सम्बन्ध से मेहकरण का तीसरा पुत्र सांवतसिंह सांचोरा दलपत की सेवा में रहा तथा बाद में सावंतसिंह सांचोरा के कई पुत्र और पौत्र भी महेशदास और रतनसिंह की सेवा में बने रहे। इन सब ही सांचोरा वीरों ने अनेकानेक युद्धों में उल्लेखनीय वीरता दिखाई और कई एक उन युद्धों में काम भी आए। अतः 'रतन-रासो' में समय-समय पर कवि कुंभा ने विभिन्न युद्धों में उन सांचोरा वीरों के पराक्रम और साहस का सविस्तार वृत्तान्त लिखा है, जिससे इस सांचोरा घराने के इतिहास पर बहुत-कुछ नया प्रकाश पड़ता है।

'रतन-रासो' में कवि ने दौलतावाद (देवगिरि) दुर्ग, 'जालोर (स्वर्णगिरि) दुर्ग और नगर तथा रतलाम नगर के वर्णन दिये हैं। परन्तु ये वर्णन अधिकतर अतिशयोक्तिपूर्ण और कल्पना-प्रधान ही हैं और उनसे इन किलों या नगरों के बारे में कोई प्रामाणिक तत्कालीन जानकारी नहीं मिलती है। कवि ने अगाध शक्ति वाले सूंधा दुर्ग का भी उल्लेख किया है। पहिले कभी वहां कोई दुर्ग रहा हो, परन्तु आज तो किसी पुराने किले के ध्वंसावशेष भी वहां नहीं दिखाई पड़ते हैं।

अपने सांदू घराने के पूर्वजों की महत्ता का वर्णन करते समय कवि कुंभा ने कई-एक प्राचीन प्रमुख चारणों के आदर-सम्मान संबंधी सुप्रसिद्ध घटनाओं का उल्लेख किया है जिससे उस काल में राजपूत राजाओं और चारण घरानों के सम्बन्धों पर कुछ विशेष प्रकाश पड़ता है। रतनसिंह के राजदरबार के अनेकानेक प्रमुख चारणों की चर्चा करते हुए कवि

१२. रतन०, चतुर्थ०, छं० सं० ७६।

१३. रतन०, पंचम०, छं० सं० ११०—पं० १, ६-१०; उज्जैन०, छं० सं० ८२, ८५—पं० १५-१६, छं० सं० १०१—पं० ४२-४४।

कुंभा ने 'वचनिका०' के रचयिता खड़िया जगा का भी सादर उल्लेख किया है। परन्तु उसकी उस सुविख्यात कृति 'वचनिका०' का 'रतन-रासो' में कहीं भी कोई निर्देश नहीं है। यदि कवि ने किसी समय 'वचनिका०' पढ़ी हो तो भी अपना यह काव्य-ग्रन्थ लिखते समय उसने 'वचनिका०' में दी गई जानकारी का कोई उपयोग नहीं किया था यह बात तो स्पष्ट ही है। 'वचनिका०' में रतनसिंह की चार रानियों के तब सती होने का उल्लेख है जिनमें से दो राजावत कछवाहा रानियां थी। 'रतन-रासो' में केवल दो रानियों के सती होने का निर्देश है जिनमें से एक कौनसी विशिष्ट राजावत रानी थी इसका भी कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है।

बहुत कुछ जांच और खोज के बाद सावधानीपूर्वक लिखे गये बड़े प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों में भी प्रायः घटनाओं, उनके काल-क्रम या विशिष्ट विवरण विषयक कई-एक छोटी-मोटी त्रुटियां अथवा भूलें रह जाती हैं। कवि कुंभा ने तो 'रतन-रासो' मुख्यतया अपनी निजी जानकारी के ही आधार पर लिखा था, अतः उसमें रही ये अशुद्धियां या भ्रांतियां सर्वथा अनहोनी नहीं हैं, और उनसे इस काव्य-ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व किसी भी प्रकार कम नहीं होता है।

मुगल इतिहास तथा राठौड़ राजघरानों सम्बन्धी विविध राजनैतिक घटनाओं और सांदू चारण वंश-परम्परा जैसे उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण विशेष वृत्तान्तों के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, धार्मिक, शैक्षणिक आदि विविध प्रकार की परम्पराओं अथवा परिस्थितियों सम्बन्धी जानकारी भी 'रतन-रासो' में बहुतायत से पाई जाती है। कवि कुंभा स्वयं भी बहुत सुशिक्षित था, राजस्थानी और संस्कृत साहित्यों तथा सब ही विभिन्न शास्त्रों का उसने गहरा अध्ययन किया था, और तत्कालीन समाज, संस्कृति तथा प्रचलित परम्पराओं विषयक उसकी जानकारी भी बहुत ही विशद थी। अतः उचित अवसर पाकर उसने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर तत्कालीन शिक्षा-दीक्षा, अध्ययन-अध्यापन कार्यक्रम, आचार-विचार, धार्मिक मान्यताओं, परम्पराओं अथवा अन्य विश्वासों, दिन-चर्या तथा रहन-सहन आदि का बहुत-कुछ विवरण लिखा है।

उच्च वर्गीय राजपूत समाज के संगठन और तत्कालीन छोटे-मोटे राजपूत राजाओं के राजदरबारों की व्यवस्था तथा उन राजघरानों की दिन-चर्या, रहन-सहन, आचार-विचार और कौटुम्बिक परंम्पराओं आदि की बहुत सी जानकारी 'रतन-रासो' में मिलती है। उन राजघरानों के राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा, तब उनके अध्ययन के विषयों, भाषाओं और ग्रन्थों आदि की जानकारी, तथा उनकी शस्त्र-शिक्षा के कार्यक्रम, आदि का यथेष्ट निर्देश इस काव्य-ग्रन्थ में है। उच्च वर्गीय राजपूत तथा मुसलमान समाज के नर-नारियों की वेश-भूषा, साज-सज्जा और सौन्दर्य-प्रसाधनों आदि का भी कवि ने यत्र-तत्र पर्याप्त विवरण लिखा है। रतनसिंह के सूकर-आखेट और डाकुओं के विरुद्ध सैनिक-कार्यवाही के विवरणों से तत्सम्बन्धी तब प्रचलित तौर-तरीकों की थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है।

वैवाहिक संबंधों के द्वारा जो राजपूत राजघराने मुगल सम्राटों से सम्बद्ध थे, उनके नवयुवा राजकुमारों के प्रति शाही हरम की बेगमों आदि की भावनाओं और व्यवहार पर 'रतन-रासो' द्वारा सर्वथा नया प्रकाश पड़ता है। यद्यपि शाहजहां के साथ किसी राजपूत राजकुमारी का विवाह नहीं हुआ था, परंतु उसकी जननी मानमती (जगत गुसांई) मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री और रतनसिंह के पितामह दलपत की सौतेली बहिन थी। अतः मुगल हरम की बेगमों, शाहजादियों आदि की रतनसिंह में दिलचस्पी होना कोई अनहोनी बात नहीं थी। अतः कहरकोह की घटना के बाद शाही बेगमों द्वारा रतनसिंह का बधावा किये जाने का वृत्तांत अतिशयोक्ति पूर्ण होते हुए भी सर्वथा अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है। ऐसे ही विवरण यह स्पष्ट करते हैं कि तब मुगल शाही घराने के प्रति प्रायः सब ही राजपूत राजघरानों की—जिनके साथ मुगलों का कभी कोई वैवाहिक संबंध नहीं रहा उनकी भी—विशेष निष्ठा और भावना थी, जो औरंगजेब की धर्मांधता पूर्ण नीति के प्रारंभ के बाद भी बहुत समय तक यथावत् बनी रहीं। यही बात थी कि दक्षिण में सन् १६८२ ई० में मराठा आक्रमणकारियों से बुरी तरह घिर जाने पर जब दारा शिकोह की पुत्री और शाहजादा आजम की पत्नी जहांजेब बानू ने बूंदी के हाड़ा राव अनिरुद्धसिंह को बुला कर स्वयं कहा—"शर्म-इ-चग़ताइया ब-राजपूतिया इक अस्त", तब अनिरुद्धसिंह ने उक्त कथन को मान्य किया और भयंकर युद्ध कर उसने मराठा आक्रमणकारियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी।[१४]

उपर्युक्त सारे विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर, जहांगीर और विशेषतया शाहजहां के शासनकाल की कई-एक राजनैतिक घटनाओं, सामाजिक परम्पराओं, सांस्कृतिक गतिविधियों और धार्मिक प्रवृत्तियों आदि सम्बन्धी विविध प्रकार की जानकारी के लिये 'रतन-रासो' प्राथमिक महत्त्व का एक बहुत ही उपयोगी आधार-ग्रन्थ है जिसका गहराई के साथ पूरा-पूरा अध्ययन किया जाना चाहिये।



१४. औरंग०, ४, पृ० ३०१–३०२; जयपुर रेकार्ड्स, (सरकार संग्रह), ३, पृ० १८८–१९०।

# ५. काव्य परिचय : (ख) काव्य पक्ष

## (१) कथा सार

कथा के प्राप्त अंश का प्रारंभ कवि की रतनसिंह विषयक काव्य रचना की इच्छा से होता है। रतनसिंह तेजस्वी, भाग्यशाली, साहसी, ईश्वर भक्त और अमूल्य रत्न के तुल्य है। उस पर दिल्ली सम्राट्, चित्तौड़ के राणा, आमेर के कछवाहे, जोधपुर के राठौड़, जैसलमेर के यादव और चौहान सभी बलिहारी हैं अतः कवि की इच्छा है कि उसका यश वर्णन पारसी, पश्तो, अरबी तथा संस्कृत आदि मिश्रित वाणी में काव्य लिख कर करे। साथ ही मंगलाचरण के रूप में सरस्वती और गुरु हरिद्विज के चरणों की वंदना करके वह उस काव्य का प्रारंभ करना चाहता है जिसमें अनेक शास्त्रीय विषयों और अनेक काव्य, साहित्य एवं शास्त्रीय ग्रंथों का सारांश उल्लिखित हो। वह तर्क, न्याय, योग, शैव, जैन, बौद्ध, मीमांसा, तंत्र, वेदान्त आदि दर्शन शास्त्रों; भागवत, वाराह, मत्स्य आदि अठारह पुराणों; नाट्यशास्त्र, छंदशास्त्र, साहित्यशास्त्र, ज्योतिष, गणित, वैद्यक, योग (सांख्य, हठ, भक्ति), राजनीति आदि शास्त्रों; चौसठ तथा बहत्तर कलाओं; व्याकरण के विषयों; बृहस्पति और शुक्र प्रोक्त साम, दाम, दंड, भेद आदि राजनीति के प्रकारों; चौदह विद्याओं; भूगोल, खगोल आदि विषयों; आसुरी, सुरी और मानवीय चिकित्सा पद्धतियों; स्थिर, शीघ्र, मंद आदि नाड़ी गतियों; इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि स्वरशास्त्र की नाड़ियों; छः शास्त्रों; लिपि, वर्ग, अंक, पल्लव, स्वर, शब्द, शकुन, नवरस, षड्रस, नारी पुरुष परीक्षा, सामुद्रिक लक्षण, अलंकार, काव्य, नगरों के ग्रहण-मोक्ष आदि की विधि; घोड़ों और हाथियों के भेद; मंत्री, भृत्य, सुकवि आदि के उपयोग; ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के कर्म; गुरु, ब्राह्मण और माता-पिता की भक्ति; रत्नों-मणियों की परीक्षा; शस्त्रास्त्रों के प्रयोग; व्यूहरचना; अभिचार मंत्र, फल, पुष्पहार आदि द्वारा करणीय तांत्रिक क्रियाओं आदि अनेक विषयों; तथा भोजप्रबंध, बृहत्कथा, कादंबरी आदि गद्य-पद्य ग्रंथों; नैषध चरित, मेघदूत, कुमारसंभव, रघुवंश, भर्तृहरि के तीन शतक आदि काव्य ग्रंथों; प्रबोधचंद्रोदय, अभिज्ञान शाकुंतल, हनुमन्नाटक, अनर्घराघव, समयसार आदि नाटक ग्रंथों; बृहस्पति, शुक्र तथा चाणक्य के नीति ग्रंथों; रसिक प्रिया, कवि प्रिया आदि साहित्य शास्त्रीय ग्रंथों; तथा वाग्भट संहिता, सुश्रुत संहिता, चरक संहिता, रस मंगल, रस मंजरी, कालज्ञान आदि वैद्यक ग्रंथों का सारांश अपने ग्रंथ में देना चाहता है। उसे आशा है कि विद्याओं का यह अथाह ज्ञान भी गुरु हरिद्विज तथा परमात्मा के चरणों की कृपा से वर्णित किया जा सकता है। अतः उसने ये सब विषय उल्लिखित कर यह ग्रंथ अरबी लिपि में लिखा जिससे मुसलमानों को भी इसका आनंद मिले। यह संपूर्ण

प्रबंध उसकी निजी कल्पना होते हुए भी गुरु की कृपा और संगति से उसे सफलता मिली क्योंकि संगति का प्रभाव चंदन-इतर वृक्ष, कीट-भ्रमर, पारस-लौह आदि उदाहरणों में प्रायः देखा जाता है।

इस काव्य की रचना में कवि को बारह वर्ष लगे। वह दिल्ली सम्राट्, चित्तौड़ के राणा; जोधपुर, बीकानेर, आमेर, बूंदी, रतलाम, जैसलमेर आदि के राजाओं तथा शिवा पुत्र शंभाजी; डूंगरपुर, परवतसर और बांसवाड़ा के रावलों आदि बारह व्यक्तियों के पास बारह वर्ष तक रहा और उस काल में उसने इसकी रचना की। इस रचना में छः भाषाओं, बारह रूपकों और छतीस शृंगारों का समावेश करके उसने सरस्वती और गणेश की वंदना की तथा अपने पुत्र को यह ग्रंथ पढ़ा कर उसे रतलाम नरेश के समक्ष उपस्थित किया। यह वह ग्रंथ है जिसमें रहस्यमयी कथा और संपूर्ण हितों का सार है।

इस वर्णन के पश्चात् कवि पत्नी शंका उत्पन्न करती है कि संसार में तपस्वियों और ऐसे योद्धाओं का जीवन कैसे श्रेयस्कर है जो सांसारिक सुखोपभोग से विरत रहते हैं। कवि उसका समाधान करते हुए गंगाजल, धर्म, भगवान का नाम आदि का महत्त्व बताता है और हरिद्विज नामक गुरु की सहायता से सभी कुछ साध्य बताते हुए ब्राह्मणों का महत्त्व अनेक पौराणिक उदाहरणों से प्रतिपादित करता है। पश्चात् संगति, भावना और परमात्मा में विश्वास तथा सत्य में दृढ़ता का महत्त्व बता कर शंका का निवारण करता है।

## कवि का वंश वर्णन

आगामी अध्याय के प्रारंभ में कवि का वंश वर्णन है जिसमें सर्व प्रथम कवि चंगा के पुत्र गोविन्द और उसके पुत्र उदयकरण का वर्णन है। उदयकरण राव गांगा के सम्मुख लड़ता हुआ मारा गया। उसे स्वयं राव गांगा ने कविराज घोषित कर राजतिलक किया था क्योंकि उसके बत्तीस विरुद थे। उसके विरुदों की प्रशंसा राजा ने भरे दरबार में की थी जिसमें जेता, मेहराज, भैरव चांपावत, रणधीर सोनिगरा, पंचायन, वीरम दूदावत, मूला पुरोहित, शक्ता बारहट, तेजसिंह वरसिंहोत, अमरा धर्मावत आदि सामंत उपस्थित थे। वह उदयकरण मरुधरा और मरुधरेश के लिए लड़ता हुआ स्वर्गवासी हुआ था।

उसका पुत्र मल्ल कवि हुआ। उसने भी चन्द्रसेन से हुए उदयसिंह के युद्ध में वीरता दिखायी। उसने बादशाह अकबर को झूलने, दूहे और गाथायें सुना कर अपने ऊपर तथा अपने राजा पर प्रसन्न किया था। उसे बादशाह ने दो लाख का शासन पत्र, दो हाथी, भूषण, वसन, मुक्तामाला आदि दिये थे। उदयसिंह ने उसके लिए अनेक नेग भी निश्चित करवा दिये थे। उसे वैसा ही दान मिला था जैसा ईसर बारहठ को रावल जाम से, सांवल कवि को तमायच राजा से, कवि दुरसा को सिरोही नरेश सुरतान से, कवि भाव को लखपत से, कवि केदार को पृथ्वीराज तथा जयचंद से, कवि वेताल को विक्रम से, शंकर कवि को रायसिंह से और आशा कवि को करमसिंह से मिला था। उसने अचला कछवाहा तथा अकबर की प्रशंसा की। अकबर की प्रशंसा करने के समय महाराज मानसिंह (आमेर), महाराज रायसिंह (बीकानेर), राव रतन (बूंदी), तथा तानसेन, बीरबल, खानखाना, करण, मधुकर आदि

उपस्थित थे। अकबर ने उससे अपना वर्णन करवाया जिसे सुन कर और प्रसन्न हो कर सोने की सामग्री से सजे हुए घोड़े तथा हाथी और एक लाख द्रव्य तथा रून की पट्टी के चौरासी गांव तथा नागौर का गढ़ दिया। बीकानेर नरेश रायसिंह ने भी उसे अनेक आदर की वस्तुएं दीं और उसे पालकी पर चढ़ा कर स्वयं वहन किया। घोड़ों, ऊंटों और अबोहर परगने के सत्तर हजार के प्रदेश का दान देने के अतिरिक्त राजा ने उसे बीकानेर के नागरिकों से भी बहुत पुरस्कार दिलवाया। मल्ल कवि को अकबर के अतिरिक्त जहांगीर और शाहजहां से भी सम्मान मिला। महाराज दलशाह ने तो उसकी पुत्री के विवाह के समय उसे बहुत ही दान दिया।

मल्ल का पुत्र ईसरदास हुआ जिसकी छत्री पर राजा रामसिंह ने एक हजार का शासन पत्र चढ़ाया। उस ईसरदास का पुत्र कुंभकर्ण हुआ जिसने जालंधर, सांचोर और रतलाम पाने वाले महेशदास तथा रतनसिंह का गुणगान किया। उसने राजा शिवसिंह (रतनसिंहोत) के यहां रहते हुए वर्णन योग्य उस रतनसिंह के यश का गायन किया जिसने दूसरे महाभारत (धरमाट युद्ध) में वीर गति पायी थी। रतनसिंह की विशेषता इसलिए अत्यधिक है कि वह ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर के क्षेत्र में क्षिप्रा के पवित्र तट पर लड़ता हुआ मारा गया। उस पवित्र भूमि में सदा मरने वाले कीट-पतंग तक स्वर्गवासी होते हैं अतः स्वामिधर्म का पालन करते हुए युद्ध में मरने वाले रतनसिंह के महत्त्व का तो कहना ही क्या !

## रतनसिंह के पूर्वजों का वर्णन

कन्नौज में जयचन्द नामक राठौड़ नरेश हुआ था जिसने आठ शाहों और नौ करोड़ म्लेच्छों को जीता था तथा अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। उसके वंश में जोधपुर में राव गांगा हुआ। उसका पुत्र राव मालदेव था। मालदेव का पुत्र राव उदयसिंह था जिसे अकबर ने महाराजा (मोटा राजा) की पदवी दी थी। उसके पिता ने उसके भाई चंद्रसेन को सिंहासन दे दिया था जिसकी विशाल सेना पर पांच सौ सैनिकों से उसने आक्रमण किया और जोगा, कल्ला, दलपत, मल्ल कवि, हिंगोला, कल्याणमल आदि की सहायता से विजय प्राप्त की। चंद्रसेन की अस्सी हजार सेना पर आक्रमण करके पांच घोड़े बदलते हुए अंत में उदयसिंह ने चंद्रसेन को पकड़ लिया और जीत लिया। उस उदयसिंह के पुत्र सूरसिंह और दलशाह हुए। दलशाह का विवाह आमेर के राजा मानसिंह की पुत्री से हुआ। दलशाह के पांच पुत्र हुए:—कन्हीराम, मधकर (महेशदास), जसराज, राजसिंह और जुझारसिंह जिनमें अंतिम चार तो महाबतखां की सूबेदारी में नौकर थे और कन्हीराम बूंदी के राव रतनसिंह के यहां।

जब खुर्रम (शाहजहां) ने जहांगीर के विरुद्ध बुरहानपुर में विद्रोह किया था तब राव रतन (बूंदी) को उसके विरुद्ध भेजा गया था जिसके साथ कन्हीराम भी था। कन्हीराम के साथ शार्दूल, गोपाल, वल्लू चौहान और अचला भी थे। उन सबके समक्ष दलशाह ने मधकर को अपना युवराज बनाया पर फिर भी कन्हीराम ने उसे पिता की इच्छा समझ कर शिरोधार्य किया और स्वयं शिर कटा कर अनंत छत्र धारण करना ही उचित

समझा । उसी कन्हीराम ने रतनसिंह से घोड़ा ले कर तक्की से युद्ध किया और उसे पकड़ लिया तथा उसके किले पर अधिकार कर लिया । उसके साथी अज्जा ने भी भयंकर युद्ध किया यहां तक कि पैर कटने पर भी वह लड़ता रहा जिसके फलस्वरूप राव रतन की विजय हुई और बादशाह जहांगीर ने परमात्मा को धन्यवाद दिया तथा हिन्दू वीरों की प्रशंसा की।

## महेशदास (मधकर) का महाबतखां के पास रहना और दौलताबाद विजय की योजना बनना

बादशाह शाहजहां के पास अनंत युद्धोपकरण था परन्तु उसकी सेना दक्षिण अभियान से भयातुर थी क्योंकि दक्षिण में अनेक मंदिर, शृंग, शिखर, गढ़ और अनंत दुस्साध्य दुर्ग थे । अतः उन्हें विजय करने के लिए समस्त अमीर-उमरावों से मंत्रणा करके बादशाह ने महावतखां को सेनापतित्व संभलाया और उसकी कमर में तलवार कसी । उसी की सेवा में महेशदास आदि चारों भाई भी रहते थे । उनके लिए सब से कठिन देवगिरि की विजय थी जो दक्षिण का अद्भुत दुर्ग था ।

## देवगिरि का वर्णन

देवगिरि का दुर्ग अभेद्य और अजेय था । उसे विजित करने का साहस यमराज तक को नहीं हो सकता था । मानव, नाग, किन्नर, यक्ष, देव और असुर कोई भी उस पर आक्रमण करने में समर्थ न था क्योंकि स्वयं विश्वकर्मा ने इन्द्र के लिए उसका निर्माण किया था । विशाल बुर्जों, अभेद्य चहारदीवारी और मकर-नक्रादि से पूर्ण खाई के कारण वह सब के लिए अगम्य था । उसकी अभेद्यता के साक्षी हनुमान, नील, अंगद, सुग्रीव आदि थे । उसमें स्वयं शंकर, पार्वती, स्कंद और देवगण रह चुके थे । उसके शस्त्रागारों में असंख्य, अद्भुत और उल्का तुल्य नाशकारिणी तोपें, जंबूरें, बाण, तुफंग, रामचंगी, गोले, बारूद आदि भरे हुए थे । असंख्य घोड़ों, हाथियों और वीरों की सेना थी । उसके रक्षक स्वामिभक्त, उत्साही, निर्लोभ और सदा युद्ध प्रेमी थे । उसमें स्नेह, घृत और अन्न आदि खाद्य सामग्री भी अथाह मात्रा में भरी थी । उसकी अजेयता तो वहां के राजा भान यादव और जयचंद के उस संघर्ष से ही स्पष्ट हो चुकी थी जब यादव राज की कन्या का वाग्दान जयचंद के भतीजे वीरचंद्र से हो चुका था पर पृथ्वीराज ने उससे विवाह कर लिया था । तब जयचंद ने क्रुद्ध हो कर देवगिरि पर आक्रमण कर दिया था । पर दीर्घ काल तक असफल रह कर उसे संधि करके लौट जाना पड़ा था । इससे इस दुर्ग की दुर्गमता स्पष्ट व्यक्त हो गयी थी । ऐसे दुर्ग को जीतने के लिए बादशाह की दृष्टि में महाबतखां के अतिरिक्त कोई समर्थ नहीं हो सकता था । क्योंकि देवगिरि का दुर्ग अकबर तक के समक्ष अजेय रहा था अतः महाबतखां से अधिक उपयुक्त कौन व्यक्ति हो सकता था ।

## गुप्तचरों के समाचार और महाबतखां की नियुक्ति

बादशाह ने महाबतखां से गुप्त मंत्रणा की और वहां गुप्तचरों ने समाचार दिया कि इस समय से अधिक विजयोचित अवसर भविष्य में प्राप्य नहीं होगा । इस समय वहां

का शासक नादान है, मंत्री असभ्य और स्वार्थी हैं तथा प्रजा समृद्ध होने के कारण मदमत्त है। अतः सेना सब बेकार पड़ी है और वहां का प्रबन्ध अस्त-व्यस्त है। ऐसे अवसर को उचित समझ कर बादशाह ने महाबतखां को पान का बीड़ा दिया और सेनापति के सम्पूर्ण अधिकार तथा अनन्त युद्धोपकरण दिये। हाथियों, घोड़ों, रथों और सैनिकों के असंख्य समूह तथा सामग्री के अटूट भण्डार दे कर बादशाह ने महाबतखां को विदा किया। महाबतखां ने मधकर (महेशदास) को भी बादशाह के सम्मुख उपस्थित किया और उसके पूर्वजों के शौर्य पूर्ण कृत्य बताये। बादशाह को महेशदास, राजसिंह, जूझारसिंह, जसवंतसिंह, बल्लू चौहान, गोपाल, अचला, सादूल, रघुनाथ, जगन्नाथ, चन्द्रभान, आदि वीरों को देख कर संतुष्टि और विजय की आशा हो गयी। उसने अनेक वीरों को अनेक प्रकार के मनसब दे कर विदा किया। महावतखां की प्रबल हिन्दू और मुसलमान सेना के चलने पर दक्षिण में हाहाकार मच गया और महावतखां ने जा कर किले के चारों ओर घेरा डाल दिया और यातायात बन्द कर दिया।

## महाबतखां का घेरा, देवगिरि की विरोध के लिए तैयारी तथा युद्ध

महावतखां के घेरा डालने पर देवगिरि नगर के समस्त वीर, राजनीति विशारद और बड़े-बड़े व्यापारी करोड़पतियों ने मिल कर मंत्रणा की कि साम, दाम, दंड और भेद में से किस उपाय को अपनाया जाये। अन्त में वे इसी निर्णय पर पहुंचे कि युद्ध ही उत्तम है क्योंकि मुगलों का अन्य किसी बात में विश्वास नहीं किया जा सकता। उनका चरित्र सदा शंकनीय है। साथ ही उस देवगिरि के लिए युद्ध ही शोभादायक है जिसका सम्पूर्ण इतिहास वीरतापूर्ण रहा है। चांद बीबी और सूहा जैसे इसकी वीरता के ज्वलंत उदाहरण हैं। अंततः युद्ध का ही निर्णय हुआ और आठ सेनायें युद्ध के लिए प्रस्तुत की गयीं। यह देख कर महावतखाँ ने अपनी व्यूह रचना की और सुरंगों आदि से किले को उड़ाने तथा गोलों से तोड़ डालने का प्रयत्न किया। महावतखां के व्यूह में चंदोल में वह स्वयं रहा, गोल में मिर्जा और हरोल में मधकर। मधकर के बाईं ओर सांचोरा चौहान बल्लूराव और दाहिनी ओर गोपाल, सावंतसिंह और सुजा थे। सम्मुख राजसिंह, जूझारसिंह, चन्द्रभान, रघुनाथ और जगन्नाथ थे। उस समय एक गोला गोपाल के शिर में लगा और उसके मरने पर आकाश में देवों ने दुंदुभियां बजायीं और पुष्प वृष्टि की। पर महावतखां की सेना का भय दक्षिण में सर्वत्र व्याप्त हो गया और देवगिरि के शासक ने भागनगर, बीजापुर और बन्दर के शासकों को सहायता के लिए पत्र लिखा।

इन पत्रों को पढ़ कर तीनों शाहों को भयंकर क्रोध उत्पन्न हुआ मानो अग्नि में आहुति पड़ी हो अथवा जलती हुई अग्नि को पवन ने अधिक प्रज्वलित कर दिया हो। उनके सैनिक और हाथी-घोडे सब युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। देवगिरि के शाह ने दक्षिण के और भी सभी स्थानों से सहायता मांगी और उन्हें बता दिया कि यदि वे आज सहायता न करेंगे तो कल को उनकी भी यही दशा होगी। महावतखां किसी को अछूता न छोड़ेगा। अतः आज भला इसी में है कि सब एक साथ मिल कर शिर कटाने के लिए प्रस्तुत हो जायें। ये समाचार पा कर दक्षिण के सभी वीर युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये और कोंकण,

कैमद, काश्मीर, कन्नड़, हदफ, अबीसीनिया, यवद्वीप, किरमिज, पुर्तगाल, फ्रांस और रोम आदि के असंख्य वीर सम्मिलित हो कर महाबतखां से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो कर चल पड़े। उनके भयानक हाथियों और घोड़ों से संसार भयातुर हो गया। उनके चलने से आकाश धूलि से आच्छन्न हो गया, पाताल भंग हो गया, सूर्य लुप्त हो गया और रात्रि का सा अंधकार छा गया। गुप्तचरों ने इस कुमुक के आने की सूचना महावतखां को दी। उसे सुन कर युद्ध प्रेमी वीरों के हृदय हर्ष से उछलने लगे। महावतखां को सूचना मिली कि दक्षिण की इस सेना में चार लाख घुड़सवार हैं और चार हजार हाथी। अनंत तोपें, रामचंगी, यन्त्र, बाण आदि युद्धोपकरण हैं और सेनाएं दो भागों में विभक्त हैं।

इस सेना की सूचना पा कर महावतखां ने भी अपने सरदारों से युद्ध मंत्रणा की और व्यूह योजना बनायी। उसने यही निश्चय किया कि अब किसी वक्र चाल से काम लेना चाहिए। उसने मानुल्लाखां, बहादुरखां, मिर्जा और लहुरास्पखां को यथोचित स्थान पर रख कर विजय के लिए प्रयत्न किया।

उसके पश्चात् महावतखां ने दरबार करके मधकरशाह (महेशदास) की बड़ी प्रशंसा की और उसके शौर्य, तेज, सत्यसन्धत्व आदि की प्रशंसा करके उसे पान का बीड़ा दे कर सेनापति नियुक्त किया। उस दरबार में महेशदास के साथ सादूल, रघुनाथ और जगन्नाथ भी थे। सेनापति नियुक्त होने के बाद मधकर पालकी में बैठ कर अपने शिविर लौटा। वहां उसने विधि पूर्वक गंगाष्टक आदि बोलते हुए सुगंधित द्रव्यों वाले जल से स्नान किया और सम्पूर्ण नित्य कर्म किये। गणेश, स्कंद, शिव आदि का पूजन करके उसने शस्त्रों की पूजा की और रघुनाथ व्यास तथा कृष्णदास ओझा से आशीर्वाद प्राप्त किये। तत्पश्चात् वह दीपोत्सव में दरबार लगा कर बैठा और कवि ने उसके पूर्वजों के ऐश्वर्य का गुणगान उसके सम्मुख किया।

### कवि द्वारा महेशदास के पूर्वजों का वर्णन

उस असीम ज्ञानी कवि ने प्रथम महाभारत, राम-रावण युद्ध, वृत्र-इन्द्र युद्ध, तारक-स्कंद युद्ध आदि का वर्णन किया। फिर वेताल-विक्रम और पृथ्वीराज-चंद का उल्लेख किया और अन्त में राठौड़ वंश का वर्णन प्रारम्भ कर महापराक्रमी, आठ शाहों को जीतने वाले, देवासुरों को त्रस्त करने वाले और शंभु-पार्वती को इष्ट मानने वाले जयचन्द (कन्नौज) का उल्लेख किया। जयचन्द के वंश में राव सलखा हुआ। उसका पुत्र मल्लीनाथ हुआ जिसके पुत्र जगमाल ने अलाउद्दीन से युद्ध किया। सलखा का दूसरा पुत्र वीरम था। वीरम का पुत्र चामुंड (चूंडा) हुआ। उसका पुत्र राव रणमल हुआ जिसने गुजरात के शाह से मंडोर छीना और रणमल का पुत्र जोधा हुआ जिसने चित्तौड़ पर भी शासन किया। उसका पुत्र सूजा, उसका बाघा, उसका गांगा और उसका मालदेव हुआ। मालदेव का पुत्र उदय सिंह, उदयसिंह का दलशाह और उसका पुत्र महेशदास है। अतः यदि वह युद्ध में दक्षिण के शाहों को जीते तो क्या आश्चर्य की बात है। यह वृतान्त सुन कर महेशदास को बड़ा जोश आया। उसी समय विरोधी सेना के आगमन की भी सूचना मिली।

दोनों और की सेनाए युद्ध के लिए प्रस्तुत हो कर चल पड़ीं। उधर देव, असुर, गंधर्व यक्ष, किन्नर तथा शिव के गण, गणेश, स्कंद, वीरभद्र एवं अप्सराओं के समूह युद्ध भूमि देखने के लिए आये। योगिनियां रक्त पीने के लिए पात्र ले कर आ गयीं। भयानक मार काट प्रारम्भ हुई। हाथियों के शुंड और कुंभस्थल कटने लगे। वीरों के कवच फटने लगे। रक्त की नदियां बह चलीं। बाणों, तलवारों, भालों, कटारों, सांगों तथा तोपों का भयानक प्रयोग हुआ। उस युद्ध में महेशदास के प्रबल पराक्रम को देख कर महाबतखां का उत्साह बढ़ रहा था। महेशदास के साथ ही उसके भाई राजसिंह अर्जुन के तुल्य, जूझारसिंह भीष्म के तुल्य तथा जसराज लक्ष्मण के तुल्य भयानक युद्ध कर रहे थे। इसके अतिरिक्त बल्लू चौहान, जगन्नाथ और रघुनाथ भाटी आदि वीरों ने भी अपने घोड़े तीनों शाहों की सेना पर डाल दिये। उनके भयानक युद्ध पर मुग्ध हो कर रुद्र स्वयं वहां खड्ग, त्रिशूल, शंख ढाल, धनुष, तूणीर, पट्टासि, शक्ति, चुकुमार, सांग आदि ले कर दश भुजाएं धारण करके आये। अप्सराओं ने वीरों का वरण किया। इस युद्ध में महेशदास के चार घोड़े कट गये। अंत में उसने पांचवें घोड़े पर चढ़ कर तीनों शाहों के छत्र-चमर छीन लिये जिसके फलस्वरूप वह विजयी हो गया। पर राजसिंह और जूझारसिंह इस युद्ध में काम आये।

महाबतखां ने अपनी विजय की तथा शाहों के पकड़े जाने की सूचना बादशाह को दी। पराजित गढ़ के आरक्षियों ने किले के सब भण्डारों की कुंजिया महाबतखां को सौंप दीं। उन भंडारों में वैडूर्य, नीलमणि, माणिक्य, मूंगे, पुखराज, हीरे, लालमणि, अबीभ मोती, सीपी मोती, गजमुक्ता, शंख, सर्पमणि आदि करोड़ों रत्न थे; सूकर, मेघ, सीपी, मत्स्य, गज आदि चिह्नों वाले सिक्के भरे थे; रथों, हाथियों, घोड़ों आदि के असंख्य आभूषण थे; चौधार, खड्ग, बडफर, जंबूर, तोप आदि शस्त्रों का अपार समूह था; और ऊनी, रेशमी, असबग रंग के कालीन, तख्तपोश आदि उत्तमोत्तम वस्त्र भरे थे। उन सब भण्डारों की तालियां ले कर महाबतखां ने दिल्ली भेज दीं और बादशाह को पत्र लिख दिया। बादशाह ने समाचार पा कर दिल्ली में भारी उत्सव किया जिसका बेगमों ने भी समारोह मनाया। बादशाह के दरबार में महाबतखां का पत्र पढ़ा गया जिसमें महेशदास की बड़ी प्रशंसा की गयी थी और युद्ध का विस्तृत वर्णन था। बादशाह ने प्रसन्न हो कर महाबतखां और महेश दास दोनों को विजयी होने का फर्मान दिया और उनकी बड़ी इज्जत की।

कुछ समय पश्चात् महाबतखां की मृत्यु हो गयी और उसके पद पर बादशाह ने उसके पुत्र लहुरास्प खां को नियुक्त कर दिया।

महेशदास के छः पुत्र हुए—रतनसिंह, कल्याणसिंह, रायसल, फतेसिंह, रामचन्द्र, और सूरजमल जो एक से बढ़ कर एक वीर और भाग्यशाली थे। इनमें रतनसिंह बादशाह के पास रहता था और कल्याणसिंह अपने देश में ही।

## रतनसिंह वृत्तान्त—कहरकोह से युद्ध

बादशाह शाहजहां ने एक बार अनेक हाथियों को पकड़ने की आज्ञा दी जिसके फलस्वरूप अनेक जंगली भयानक हाथी पकड़े गये। उनमें कहरकोह नामक एक मत्त हाथी

भी था जो किसी की कभी कोई चिन्ता न करता था और सदा उत्पात करता रहता था। उसके महावत सदा उसकी देख-रेख में रहने के कारण कभी सुख की नींद नहीं सो सकते थे। एक रोज चांदनी रात थी। कौमुदी की शोभा देख कर गजपालों ने सुरापान किया। नशे से उन्मत हो कर वे सो गये। यह देख हाथी जंजीरें तुड़ा कर भाग गया। उसने नगर में महान् हाहाकार मचा दिया। उसे वशीभूत करने के लिए शाहजादों सहित स्वयं बादशाह गया और अनेक कलावेत्ता फीलवानों की सहायता से उसे पकड़ पाया। उसकी चर्चा सुन कर बेगमों को इच्छा हुई कि उसका युद्ध देखें। उन्होंने नाजर द्वारा बादशाह को निवेदन किया कि जिस हाथी को वशीभूत करने में उस बादशाह को भी अत्यन्त कष्ट हुआ था जिसे बड़े-बड़े सुल्तानों को जीतने में नहीं होता और जिससे सब देवासुर, यमराज तक डरते हैं उस हाथी को देखने की हमारी भी इच्छा है। बादशाह ने प्रार्थना स्वीकार की और गज-युद्ध देखने के लिए दरबार किया गया। बेगमें भी झरोखों में आ कर बैठ गयीं। पर हाथी जब अपने स्थान से छूटा तभी महावत के वश में न रहा। वह मत्त हो कर अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं को रौंदता हुआ दरबार के सम्मुख आया और सीढ़ियां चढ़ने लगा। यह देख भयातुर नवाब, मीर और खान भागने लगे। स्वयं बादशाह भी भयातुर हो गया। पर वहां महेशदास का पुत्र रतनसिंह उपस्थित था। उसने हाथी का सामना किया। उसने हाथी के दांत पकड़ कर, उसके मुंह में अपने पैर डाल कर उसके मस्तक पर कटार मारी जिसके फलस्वरूप हाथी घबरा गया और कटार को साक्षात् शक्ति समझ कर उसके सम्मुख आत्म समर्पण कर दिया। उसका मद दूर हो गया। बादशाह ने प्रसन्न हो कर कुमार की विजय पर फातिहा पढ़वाया और खैरात बांटी। साथ ही उसने प्रसन्न हो कर छः हजारी मनसब, सत्तर सूबे, हाथी-घोड़े और तलवार आदि का पुरस्कार दिया। विजयी कुमार के साथ महेशदास अपने डेरे लौटे और उन्होंने बधावे बांटे। उधर शाही हरम में भी रतन की बड़ी प्रशंसा हुई और सबने यही कहा कि यदि वह वीर आज न होता तो वस्तुतः महान् अनर्थ हो जाता। अतः उसके स्वागत में उत्सव करने की उन्होंने बादशाह से आज्ञा मांगी और आज्ञा प्राप्त कर उत्सव किया।

महल की बेगमों और दासियों ने सम्यक्तया स्नानादि करके सुन्दर वस्त्रालंकारों से नख से शिख तक सज कर उत्सव किया और रतनसिंह को बुला कर उसका स्वागत किया। पश्चात् राजा महेशदास से कहा कि तुम हिन्दू रीति से उत्सव करो जिसे हम देखेंगे। महेशदास ने वैसा ही किया और रतनसिंह को सिंहासन पर बैठा कर वेदोक्त विधि से उसका मंगल स्तवन कराया और तिलक किया। उस समय सम्पूर्ण देव गण ब्रह्मा-विष्णु-महेश सहित वहां पधारे जिनके सम्मुख तुंबरु को सरस्वती ने रतनसिंह का भावी जीवन वर्णित किया और बताया कि शाहजहां के शाहजादों के विद्रोह करने पर वह अवंतिका क्षेत्र में किस प्रकार युद्ध करेगा। बादशाह ने भी यह जान कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

## महेशदास और रतनसिंह का जालौर आगमन

बादशाह से हाथी-घोड़े और जालौर का परगना पा कर रतनसिंह के पिता रतन सिंह सहित जालौर आ गये। वहां के साहूकारों और धनिकों ने उनका अपूर्व स्वागत

किया । जालौर का दुर्ग बड़ा ही अगम्य-अजेय और ऋद्धि-समृद्धि-निधि आदि से परिपूर्ण था । उसकी अजेयता वहां के कान्हड और वीरम से हुए अलाउद्दीन खिलजी के संग्राम से स्पष्ट है । वहां की भूमि सम्पूर्ण ऐश्वर्य से सम्पन्न थी । राजा के स्वागत में नगर में बड़ी सजावट हुई । नगर की नारियों ने भी अपने नरेश का स्वागत किया । राजा जा कर दरबार में बैठा । वहां सावंतसिंह का पुत्र वल्लू चौहान उनके दाहिनी ओर बैठा तथा रामसिंह बायीं ओर । रतनसिंह सम्मुख बैठा । चारण भाटों ने अनेक उक्तियां कहीं और दान प्राप्त किया ।

रतन और महेशदास की कृपा से नगर बहुत सम्पन्न बन गया था । उसमें कहीं वेद पाठी विप्रों की वेद ध्वनि श्रुति गोचर होती थी, तो कहीं मल्ल विद्या में निपुण वीर थे । कहीं लक्षाधीश वैश्य थे, तो कहीं एक रात का रमण-मूल्य लाखों रुपये लेने वाली वेश्याएं थीं । कहीं हाथी घूमते थे, तो कहीं घोड़े । कहीं भगवान का पूजन होता था, तो कहीं नगाड़े, झालर आदि बजते थे । कहीं फलों की बहार थी, तो कहीं मेवों की ।

महेशदास के राज्य में प्रजा धनवान और सुखी थी । असंख्य वापी, कूप, तडाग, आराम, शिखर, मंडप और अट्टालिकादि राज्य की सुख समृद्धि बढ़ाते थे । यज्ञ-यागों की अधिकता थी । चारों वर्णों और आश्रमों के व्यक्ति अपने-अपने धर्मों का पालन करते थे । वेदों, नाटकों, काव्यों, छन्दशास्त्र, नाट्यशास्त्र, सामुद्रिक, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, प्रश्नतन्त्र, आयुर्वेद, चिकित्सा पद्धति आदि सभी के ग्रन्थों के सीखने वाले और जानने वाले वहां विद्यमान थे । महाभारत, सप्तशती और भागवत के वहां पाठ होते रहते थे । वहां के पुरुष शिव तुल्य और स्त्रियां पार्वती तुल्य थीं ।

## रतनसिंह का आखेट

एक दिन प्रातः काल उठ कर गोदान, गोदर्शन, शौचनिवृत्ति, दंतधावन, स्नान, संध्या, यज्ञ, व्यायाम, प्राणायाम, शस्त्र पूजा आदि करके रतनसिंह अपने पिता के सम्मुख प्रणाम करने गया । तत्पश्चात् आखेट करने के लिए उसने वन की ओर प्रस्थान किया । वन में अनेक तड़ाग, नदी आदि थे । दाख, अनार, नारियल, लौंग, नागर बेल, चंदन, अशोक, चंपा, कनीर, अखरोट, केला, छोहारा, बिजोरा, जंभीर, जीरा, जरदालु, ईख, सरदा, आदि फलों और मेवों वाले तथा कटु, तिक्त, कषाय, अम्ल, क्षार, मधुर आदि षड्रसों से युक्त कंद, मूल, फल, फूल आदि वाले वृक्ष थे । वे सब मानो रतन का स्वागत कर रहे थे । अनेक जलयंत्र, झरने और फव्वारे थे तथा अनेक प्रकार के कमल थे । कलहंस, राजहंस, बक, कर्कर, कुंज, चकवे आदि पक्षी सरोवरों में विद्यमान थे । सर्प, सीप, जलौका, मेढक, मछली आदि जलचर जलाशयों में विद्यमान थे । अनेक घोर तपस्या निरत और कौपीन धारी ऋषि विद्यमान थे । परस्पर वैरी पशु भी प्रेम से एक साथ ऋषियों की गोद में क्रीड़ा करते थे । वहाँ ऋषियों के सम्मुख रतनसिंह गया और उन्हें एकाग्र चित्त से प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया ।

जब कुमार ऋषियों के पास था तो करोलों ने आ कर सूचना दी कि सौ सूकरों का एक झुंड अपने यूथाधीश के साथ आ रहा है। वह यूथपति बहुत ही प्रबल और विशालकाय है। सिंह आदि सभी वन्य जीव उससे भयत्रस्त रहते हैं। वह यूथ जब किसी खेत में प्रवेश करता है तो उसे पूरी तरह उजाड़ देता है। वह सर्वत्र मत्त और स्वच्छंद विचरण करता है। सिंह तो क्या स्वयं नृसिंह भी उसके सम्मुख शंकित होते हैं। सूचना पा कर रतनसिंह की सेना ने चारों ओर से यूथ को घेर लिया। यूथपति सूकर ने महा भयंकर संग्राम किया पर अंत में कुमार ने उसके दांत पकड़ कर उसे उठा लिया और घोड़े को दौड़ाया। उसी समय अमरा और भगवानदास चौहान ने उसके दो टुकड़े कर दिये। अन्य सूकरों को भी मार डाला गया। फिर कुही, जुर्रा, बाज, कुलंग, तीतर, चर्ज आदि पक्षियों और स्यागोश, चीते, सूकर, विड़ाल, भैंसे, नीलगाय, हाथी आदि पशुओं का भी शिकार किया गया। इस प्रकार शिकार करते हुए वे सूंधा दुर्ग पहुंचे और मेवासों से उनका सामना हुआ।

मेवास बड़े शस्त्र निपुण, साहसी, वीर, विशालकाय, निर्भीक और किसी की परवाह न करने वाले थे। वे रतनसिंह का आगमन सुन कर छिप कर मार्ग में बैठ गये। शीघ्र ही युद्ध के नगाड़े बजने लगे। युद्ध में अमरा, भगवान, राम, केसरी, पृथ्वीराज, रामचंद्र, सूरजमल, नाथ, भावसिंह, विष्णुदास, कल्याण, फतेसिंह, रामचंद्र आदि वीर पहाड़ी पर चढ़ गये और उन्होंने ऐसा युद्ध किया मानो किरात वेषधारी शंकर से कर रहे हों। अंत में वे विजयी हुए और विजय के नगाड़े बजे। युद्ध जीत कर कुमार राजधानी लौटा। उसने युद्ध में दो हजार मेवासों को मारा और उन्हें गाड़ों में भरा कर भिजवा दिया। तत्पश्चात् उसने अपने जालौर दुर्ग के सम्मुख बब्बर कोट नामक दुर्ग बनवाया।

## महेशदास का शाही सेवा में आह्वान और मृत्यु

कुमार के लौटते ही महेशदास को शाही फरमान मिला कि शीघ्र आओ। अतः वह उस फरमान को शकुन-मुहूर्त आदि सब से बढ़ कर समझ कर जालौर का प्रबंध भार रतनसिंह को सौंप कर दिल्ली चला गया। वह पांच हजार सेना ले कर बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ। बादशाह ने उसके तथा अमीरों और खानों के साथ उत्तर के छः खण्डों के यवनों से युद्ध करने की मंत्रणा की। युद्ध की तैयारी सुन कर वीर लोग बड़े प्रसन्न हुए पर महेशदास को जब बादशाह ने अपनी सेना का सेनापति नियुक्त किया तो उधर विधाता ने उसे देव सेना का सेनापति नियुक्त कर दिया। उसे विमान ले कर आते हुए पार्षद दृष्टिगोचर हुए। अतः उसने बहुत सा दान-पुण्य करके वेदोक्त विधि से गंगाजल से स्नान किया और कुशा के आसन पर बैठ कर विष्णु का ध्यान और सामगान का श्रवण करके प्राणायाम किया और योग के नियमानुसार विपरीत स्वर चला कर ब्रह्म-रंध्र से प्राण त्याग कर दिया। उसके साथ रानी चंद्रावती भी सती हो कर कैलाश में उसी के पास जा बसी। बादशाह को यह समाचार पा कर बड़ा खेद हुआ। उसने महेशदास की स्थान पूर्ति के लिए रतनसिंह को निमंत्रित किया।

## रतनसिंह द्वारा सिंहासन प्राप्ति, शिव की तपस्या और वर प्राप्ति

यह सूचना जालौर पहुंचने पर रतनसिंह ने अपने पिता के सब संस्कार गरुड़ पुराणोक्त विधि से करवाये। फिर हाथी, घोड़े, धन, वस्त्र, भोजन आदि के षोडश महादान किये। पश्चात् तलवार, ढाल, नग, जवाहर, लाल, भुजभूषण, कुंडल, केयूर, मुक्तमाल, शिरपेच और जरी के वस्त्र धारण कर उसने राज्याभिषेक करवाया। पर अनेक युद्धों के विजयी महेशदास की मृत्यु रणभूमि के स्थान पर शय्या पर होना जान कर उसे बड़ी चिन्ता हुई। अतः उसने युद्ध में मरने की इच्छा से तदर्थ वर प्राप्त करने का प्रयत्न प्रारंभ किया। उसने बड़े-बड़े ऋषि तुल्य विप्रों को बुला कर षोड़शोपचार से धूप, दीप, गंध, नैवेद्य आदि से देवों का पूजन कराया; यज्ञ, दान, हवन करवाये और गायत्री आदि मंत्रों का जप करवाया। पश्चात् उसने स्वयं घोर तपस्या की जिसके फलस्वरूप प्रसन्न हुए शंकर और पार्वती प्रकट हुए तथा उन्होंने कहा कि "हे रतनसिंह तुम्हारी सब इच्छाएं पूर्ण होंगी।" रतन ने युद्ध में मृत्यु का वर मांगा। इस पर उन्होंने कहा कि विधि लेख अमिट होते हुए भी हम तुम्हें वरदान देते हैं कि तुम शाहजादों का विद्रोह होने पर उज्जैन के रणक्षेत्र में युद्ध करते हुए मारे जाओगे। रतनसिंह यह सुन बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने शिवजी की बड़ी प्रार्थना की और धन्यवाद दिया। शिवजी वरदान दे कर अन्तर्धान हो गये।

## रतनसिंह का युद्ध के लिए बादशाह के पास गमन

रतनसिंह को बादशाह का फरमान मिला जिसके अनुसार उसे उत्तर के छः खण्ड के म्लेच्छों से युद्ध करने के लिए जाना था। उसने अपने सामन्तों के साथ मंत्रणा की और उन्हें फरमान सुनाया। अंत में रतनसिंह ने अपने पुत्र रामसिंह को राज्यभार दे कर जाने का निश्चय किया। रामसिंह के अतिरिक्त रायसिंह, नाहरसिंह, कर्ण, शत्रुशाल, किसनसिंह, अखैराज, सकतसिंह, जेतसिंह आदि कुमार भी जालौर में ही रहे। रामसिंह को भार दे कर रतनसिंह शाही दरबार में उपस्थित हुआ। बादशाह ने उसकी पीठ थपथपा कर उसे सेनापति पद पर अभिषिक्त किया। बादशाह ने कहरकोह युद्ध आदि का उल्लेख करके उसकी बड़ी प्रशंसा की।

## कंधार विजय

शाहजहां द्वारा नियुक्त हो कर रतनसिंह ने खुरासान के विरुद्ध आक्रमण किया। उस युद्ध में आलमगीर, शादुल्लाखां, रूपराम, गोकुल, छत्रशाल, बल्लूराव आदि योद्धा भी थे। घमासान युद्ध हुआ जिसमें अनेक हाथी, घोड़े और पैदल वीरता से लड़ते हुए मारे गये। भयंकर नरसंहार के पश्चात् खुरासान, बलख, कंधार आदि पर विजय प्राप्त हुई। दाराशिकोह ने बादशाह के पास रतनसिंह की वीरता की बड़ी सिफारिश की।

## रतन को पुरस्कार

बादशाह ने रतनसिंह से प्रसन्न हो कर बावन लाख दाम के मूल्य का रतलाम और बदनावर का प्रदेश तथा चमर और छत्र पुरस्कार स्वरूप दिये। पुरस्कार पा कर रतनसिंह

रतलाम चला गया जहां की जनता ने उसका अपूर्व स्वागत किया। रतलाम नगर की शोभा भी बड़ी अपूर्व थी जिसका विस्तृत वर्णन कवि ने किया है। उस नगर में असंख्य धन राशि और अमूल्य पशु-वाहनादि थे और अनेक प्रकार के धनाढ्यों, वीरों और विद्वानों का निवास था। उस नगर में आ कर रतनसिंह ने षोडश महादान किये और सुखपूर्वक राज्य किया।

### उज्जैन समय

इस अध्याय में कवि की इच्छा रतनसिंह के गुणों का गान उसी प्रकार करने की है जिस प्रकार चंद ने पृथ्वीराज का गुणगान किया था। उसे आशा है कि गुरु हरिद्विज और भगवान तथा ब्राह्मणों के चरणों की कृपा से उसे सफलता मिलेगी।

### शाहजहां की बीमारी और उसके पुत्रों की युद्ध के लिए तैयारी

बादशाह शाहजहां बड़ा प्रबल और ऐश्वर्यशाली सम्राट् था। उसने काश्मीर से रामेश्वरम् तक के भारत को विजित कर लिया था। ईरान, तूरान और उत्तर के पट्खण्ड प्रदेश तक उसका प्रताप व्याप्त था। उसके चार प्रतापी पुत्र थेः—दाराशिकोह, शाह शुजा, औरंगजेब और मुराद बख्श। उसके राज्य में आधि, व्याधि, भूत, प्रेत, पिशाच, अकाल मृत्यु आदि का सर्वथा अभाव था और उसके न्याय से सिंह और बकरी एक घाट पानी पीते थे। पर अपने ऐश्वर्य में मत्त होने के कारण उसे यह विदित न था कि संसार का यह सब ऐश्वर्य नाशवान है। संसार की बड़ी-बड़ी शक्तियां समय पा कर नष्ट हो जाती हैं। उसी प्रकार उसके भी बुरे दिन आयेंगे।

अंत में उसके बुरे दिन आये ही। वह रुग्ण हुआ और अनेक अपशकुन प्रकट हुए। उसके बीमार होने की सूचना उसके पुत्रों को न मिले, इसके लिए व्यापारियों और पत्र-वाहकों का आवागमन रोक दिया गया और सब उकील कैद कर लिये गये। बादशाह ने महाराजा जयसिंह और जसवंतसिंह को बुला कर मंत्रणा की जिन्होंने दाराशिकोह के हित की मंत्रणा दी। बादशाह की चिकित्सा के सब प्रयत्न निष्फल हो चुके थे। सब विषयों के तथा आयुर्वेद के सब ग्रंथों के ज्ञाता वैद्य विफल हो गये थे। अनेक होम, यज्ञ आदि किये जा रहे थे। पर इस दशा में भी बादशाह को राज्य विपयक चिन्ता थी और उसने सांसारिक मोह वश जयसिंह और जसवंतसिंह तथा उनके साथी रामसिंह, मुकुंदसिंह आदि की प्रशंसा करके जयसिंह को शुजा के विरुद्ध और जसवंतसिंह को औरंगजेब तथा मुराद के विरुद्ध नियुक्त किया। पत्रों के जब्त होने और आवागमन के अवरुद्ध होने का विपरीत फल हुआ और संदेह वश क्रुद्ध हो कर तीनों शाहजादे अपनी सेनाएं ले कर चल पड़े। उनकी सेनाओं में असंख्य घोड़े, हाथी और वीर थे। उस समय बादशाह के गोलंदाज ने उषा मंत्र का जप करके सिद्धि के हेतु आगे बढ़ती हुई कुमारों की सेना की सूचना दी। औरंग-जेब और मुराद की सम्मिलित सेना असंख्य शस्त्रास्त्रों मे सुसज्जित हो कर युद्ध के लिए चल पड़ी और मार्ग के पशु-पक्षियों को त्रस्त करती हुई तथा आकाश को रेत से आच्छन्न करती हुई वे सेनाएं आगे बढ़ने लगीं। उनके आगमन की सूचना गुप्तचरों ने दी।

वह सूचना पा कर दाराशिकोह का भी क्रोध भड़क उठा। उसने भी अनेक पीरों, पैगम्बरों और औलियों का ध्यान करके एक विशाल सेना की रचना की जिसमें सहस्रों हाथी, घोड़े और पैदल थे। उनके विरुद्ध रेवा के तट पर शाहजादों की सेना आ कर खड़ी हो गयी।

गुप्तचरों ने यह भी सूचना दी कि औरंगजेब ने शुजा को पत्र लिखा है कि तुम आगे बढ़ कर दिल्ली पर कब्जा कर लो; उधर मैं तथा मुराद भी तुम्हारी सहायता पर पहुँच रहे हैं क्योंकि एकता में बड़ा बल है। यह सूचना दे कर बादशाह को गुप्तचरों ने युद्ध की तैयारी की मंत्रणा दी।

होम, हवन, यज्ञ, यागादि से ग्रहों की शांति का प्रयत्न किया गया पर उसी समय भविष्यवाणी हुई कि बादशाह का छत्र भंग होगा। भयानक फल होंगे। हिन्दू और मुसलमान खंड-खंड होंगे। शाहजहां कैद होगा। औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध जसवंतसिंह भयानक युद्ध करेगा। उसमें शाइस्तखां और भाफरखां पीछे हट जायेंगे। हवश, बलख, बगदाद, किजलवास, तूरान आदि के वीर भाग जायेंगे। गोवरधन बानेत, बल्लूराव, बीरम, राठौड़ दुर्गादास, मुकुंददास, राव शत्रुशाल, मुकरबखां, रूपसिंह, भगवानदास, केहरी, राम, कीरतसिंह, अर्जुन गौड़ आदि वीरता से लड़ेंगे। जसवंतसिंह जोधपुर लौट जायेंगे। उनके बाद रतनसिंह युद्ध करके मारा जायेगा। फिर दाराशिकोह धवलपुर में दूसरा युद्ध करेगा पर उसकी सेना पीछे हट जायेगी। औरंगजेब विजयी हो कर दिल्ली जायेगा और वहाँ के दुर्ग पर अधिकार करके बादशाह को कैद करेगा। फिर शाहशुजा के पीछे सेना भेज कर उसे भगा देगा और मुराद को भी धोखे से कैद करेगा।

यह भविष्यवाणी सुन कर भी दाराशिकोह निराश नहीं हुआ। वह स्वयं राज-सिंहासन पर बैठा और उसने अनेक रत्न आदि धारण कर एवं दान दे कर शहनाइयां बजवायीं। सब अमीरों-उमरावों ने उसे सलाम किया। उसने औरंगजेब और मुराद का दमन करने के लिए जसवंतसिंह को नियुक्त किया और उसके साथ ही घोड़े, हाथी, सिरोपाव और खड्ग दे कर रतनसिंह को भी। मुकुन्दसिंह के साथ उसके भाई मोहनसिंह, तथा किशोर सिंह, दयालदास भाला, अर्जुन गौड़, भीमसिंह, और गोवर्धन बानेत थे जो उसकी बरात के बराती से प्रतीत होते थे। उन वीरों की सेना सुसज्ज हो कर उज्जैन के निकट क्षिप्रा के तट पर आ कर एकत्र हुई।

## रतनसिंह का रतलाम गमन और रामसिंह का राज्याभिषेक

जसवंतसिंह ने रतनसिंह को आज्ञा दी कि वह रतलाम जा कर मिल आए। आज्ञा पा कर वह रतलाम गया जहां जनता ने उसका अपूर्व स्वागत किया और उसके स्वागत समारोह में उत्सव मनाया। रतनसिंह प्रजाजन से मिले और अपने गढ़ में आये जहां उनके पुत्रों रामसिंह, रायसिंह, कर्ण, नाहर, शत्रुशाल, अखैराज, कृष्ण, सकतेस और जैत ने उन्हें प्रमाण किया। राजा ने दरबार किया जिसमें अमरदास चौहान, केहरी,

भगवानदास, बाघा, फतेहसिंह, नाथ, विष्णुदास, भाऊ, देवराज पुरोहित, रामेश व्यास, ओझा परशुराम, बारठ जसा, खिड़िया जगा, जीवराज, खेतसिंह और हरिदास उपस्थित थे। दरबार समाप्त कर वह रनवास में गया और वहां उसने रानियों से वार्तालाप किया और रामसिंह को अभिषिक्त करने का विचार बताया और स्वयं युद्ध में मर कर अमर पद पाने की इच्छा प्रकट की। प्रातःकाल होने पर रानियां उसके पास से उठ कर प्रणाम करके चली गयीं। राजा ने उठ कर गौ, विप्र, गणेश, शक्ति और शिव को प्रणाम किया। फिर स्नान, देवपूजा, शस्त्रपूजा आदि करके रामसिंह का अभिषेक किया और अपने अन्य सभी आज्ञाकारी पुत्रों के साथ उसे कुछ नेक सम्मतियां दीं। उसने बताया कि राज्य सुख भोगने के पश्चात् या तो मुनिव्रत का निर्वाह करना या युद्ध में लड़ कर मरना। राजा की आज्ञा का अनुमोदन, ब्राह्मणों, मन्त्रियों, भृत्यों और कवि जसराज ने किया और राम तथा परशुराम की पितृभक्ति के उदाहरण दिये। इसके पश्चात् रतनसिंह ने अमरा और भगवान तथा कृष्णदास बानेत के पुत्र विट्ठलदास की बड़ी प्रशंसा की और उन्हें रामसिंह के पास रतलाम में रहने के लिए कहा। पर उन्होंने अस्वीकार करके युद्ध में ही कट कर मरने की इच्छा व्यक्त की। सभी सामन्त अपने-अपने भवन गये।

इसके पश्चात् राजा ने रामसिंह के राज्याभिषेक के लिए मुहूर्त पूछ कर उसे राज्य दे कर स्वयं शिवजी की मुंड माला में सम्मिलित होने की इच्छा व्यक्त की। राजकुमार सिंहासन पर बैठा। सम्पूर्ण तीर्थों के जल से उसने स्नान किया और छत्र-चमर धारण किये। सुर, नाग, यक्ष, किन्नर तथा मेघों ने पुष्प वृष्टि की। ब्राह्मणों ने पूजन करवाया। षोडश महादान किये गये। अनन्त द्रव्य न्यौछावर किया गया। रतलाम के घर-घर में उत्सव मनाया गया। राजा ने अपने श्रीकर से राज्य तिलक किया। ब्राह्मणों ने मंगलाचार किया। राजा ने युद्ध के लिए तैयारी की। यह सुन कर सब भृत्य भी उसके साथ जाने को तैयार हो गये। उन्हें यहां संसार मिथ्या मायाजाल प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने निश्चित हो कर उसे त्याग देना चाहा। राजा ने घोड़ा मंगवाया। राजकुमारों ने राजा की चरण वंदना की। प्रजा ने भी उसे प्रणाम करके अनेक रत्न उस पर न्यौछावर किये। राजकुमार रायसिंह ने उसके साथ चल कर महाकालेश्वर के स्थान का दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। राजकुमार को राजा ने रामसिंह की सेवा में रहने तथा उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए कहा पर जब रायसिंह ने हठ किया तो उसे साथ चल कर शिव दर्शन करके लौट आने की अनुमति दे दी। पश्चात् राजा उज्जैन क्षेत्र गया और महाराज जसवन्तसिंह की सेवा में उपस्थित हुआ। जसवन्तसिंह ने उसका स्वागत किया और उसे गोवर्धनधारी कृष्ण के तुल्य बताया।

## औरंगजेब और मुराद की सेना के अभियान की सूचना और जसवन्तसिंह की व्यूह रचना

गुप्तचरों ने आ कर सूचना दी कि शाहजादों की सेना उज्जैन क्षेत्र में आ चुकी है जिसमें नौ लाख सैनिक और नौ हजार मत्त हाथी हैं। वह सेना भयंकर रूप धारण करके

चल पड़ी है । उसमें सिन्दूर से लाल हुए हाथी प्रदीप्त अग्नि वाले धुएं के समान अथवा बादल दल के समान उमड़-घुमड़ कर आ रहे हैं मानो सृष्टि का संहार करने चले हों । बड़े विकट पदाति हैं । पांच हजार बैलों, असंख्य ऊंटों, घोड़ों, कबानों, तोपों, जंबूरों और गोलों वाली वे सेनाएं जसवंतसिंह के सम्मुख चल पड़ी हैं । सेनाएं जहां जाती हैं वहीं हाहाकार मच जाता है । उनका युद्ध देखने के लिए यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सिद्ध, नारद और शंकर आदि विमानों में बैठ कर आ रहे हैं । रुद्र अपने शस्त्र—त्रिशूल, चक्र, तोमर, खट्वांग, शक्ति, धौम्र, पट्टासि, ढाल आदि—लिये आये हैं । उनके साथ बावन वीर, स्कंद, भृंगी, नांदी, गणेश, पार्वती, गंगा तथा वीरभद्र हैं । वृषभ और सिंह पर वे आसीन हैं । यह जान कर जसवंतसिंह ने रतनसिंह को सेना सज्जित करने के लिए कहा और रतनसिंह ने अपना दरबार बुलाया ।

रतनसिंह के दरबार में अमरा, भगवान और युद्ध प्रेमी फतेसिंह उपस्थित थे । उन सब ने कहा कि कुमार रायसिंह अभी बच्चा है अतः उसे यहां से वापस चला जाना चाहिए । राजा ने उन्हें रायसिंह को समझाने के लिए कहा । रायसिंह को उन्होंने कहा कि बच्चों को युद्ध से लौट जाने पर पाप नहीं लगता । इस पर कुमार ने उत्तर दिया कि सिंह का बच्चा पैदा होते ही हाथी पर वार करता है । एक सच्चा क्षत्रिय कुमार युद्ध भूमि से वापस नहीं जा सकता । मुझे इस विषय में पिता की आज्ञा की भी आवश्यकता नहीं है । पतिंगा जलने से पूर्व किसी से पूछता थोड़े ही है । उसकी ऐसी दृढता देख कर कवि जसराज ने उसकी बड़ी प्रशंसा की और उसकी तुलना वीर अभिमन्यु, भीष्म, कर्ण एवं दुर्योधन से की । रायसिंह, फतेसिंह आदि सभी युद्ध के लिए दृढ संकल्प हो गये । उसी समय राजा जसवंतसिंह ने रतनसिंह को बुलाया और उसने सब नित्य कर्म करके, शस्त्रों की पूजा करके तथा अनेक प्रकार के दान करके सजधज कर प्रस्थान किया । सब कवियों और भाटों ने जोश दिलाने वाले काव्य पढ़े और वृत्रासुर-इन्द्र संग्राम, बलि-इन्द्र संग्राम, बाणासुर-यदुवर संग्राम और परशुराम-सहस्रबाहु संग्राम आदि की कथाएं सुनायीं । राजा रतन ने जसवन्तसिंह के पास जा कर शाहजादों की आठ सेनाओं से युद्ध करने के लिए योजना बनायी ।

शाहजादों की आठ सेनाएं क्रमशः औरंगजेब, मुराद, नबी, मीर खूमान, केसरी सिंह (बीकानेर) तथा अन्य तीन सेनापतियों के आधीन थीं । इस प्रकार सैन्य सज्जा के पश्चात् औरंगजेब ने महाराज को पत्र लिखा कि आप हमें रोक रहे हैं सो अच्छा नहीं है क्योंकि हम पिताजी का आरोग्य पूछने के शुभ काम से जा रहे हैं । अतः आप न रोकें । जसवन्तसिंह ने उत्तर दिया कि मुझे तो आपको रोकने की आज्ञा मिली है अतः आप वापस लौट जाएं अन्यथा मेरे पास आपका शिर काटने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है । यह सुन कर औरंगजेब आग बबूला हो गया । उसने उत्तर भेजा कि यदि तुम वस्तुतः बादशाह का भला चाहते हो तो मेरा मार्ग छोड़ दो । दोनों ओर से कोई वापस हटने को तैयार नहीं था । फलतः औरंगजेब ने भी अपनी सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी ।

उधर जसवंतसिंह ने भी अपनी व्यूह-रचना की। सबसे आगे चित्तौड़ के भीमसिंह के पुत्र रायसिंह की सेना थी। उसके बाद इफ्तिखार खां की। उसके बाद थे मुकुन्दसिंह, उसके बाद दयालदास झाला और उसका भाई। एक सेना जसवंतसिंह ने अपने पास रखी और उसके अग्रभाग में रतनसिंह को रखा। उनके अतिरिक्त सेना में आसकरण, दुर्गादास, महेशदास, दलशाह, गोवर्धन, दो ऊदावत वीर, बल्लू, कुंभकरण, रघुवर, महेश, केसरी, किसन और जैसा यादव आदि वीर थे। राजा जसवंतसिंह ने विजय स्तम्भ गाड़ दिया और देवता तथा असुर गण युद्ध देखने के लिए प्रस्तुत हो गये। आकाश में धुंध छा गयी और हरि, हर तथा ब्रह्मा ने मानो कल्पान्त की समाधि लगा ली।

## धरमाट के युद्ध का प्रारम्भ

दोनों सेनाओं का भयंकर संग्राम प्रारम्भ हो गया। हाथी, घोड़े और पैदल मत्त हो कर परस्पर भिड़ गये। क्षुधार्त मांसाहारी पक्षियों ने लाशों को नोचना प्रारम्भ किया। रक्त की धाराएं प्रवाहित होने लगीं। हाथियों के कुंभस्थलों से रक्त के फव्वारे छूटने लगे। शिर कट-कट कर धड़ों पर गिरने लगे। कहीं एक धड़ पर पांच शिर गिरते थे तो कहीं एक शिर पांच धड़ों से जुड़ जाता था। कहीं हाथी के शिर घोड़ों के धड़ों से जुड़ रहे थे तो कहीं घोड़ों के हाथियों से। चंडी और योगिनियां रक्त पान कर रही थीं तथा अप्सराएं वीरों का वरण कर रही थीं। यह युद्ध मध्याह्न में प्रारम्भ हुआ था। हरोल में रतनसिंह इन्द्र के तुल्य लड़ रहे थे। महाराज जसवंतसिंह पर्वतों के राजा के तुल्य प्रतीत हो रहे थे। उनके छत्र-बाणों को देख कर उन्हें पहचान कर म्लेच्छ उन पर आक्रमण कर रहे थे। राजा के आगे दुर्गादास लड़ रहा था। नाहर का पुत्र भी जयचन्द विरोधी परिहार के तुल्य लड़ रहा था। दुर्गादास के चार घोड़े कट गये और वह पांचवें पर चढ़ कर लड़ने लगा। वह खंड-खंड हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके अतिरिक्त कर्ण, पृथ्वीराज, जेता, बाघा, बलिराम, ऊदावत, कुंभकर्ण और आसकरण गिर गये। उदयभान, जसराज और रायमल मारे गये। चित्तौड़ का रायसिंह, दक्षिणी वीर खेलू और मालू तथा खुरासान के शाहजादे भाग गये। औरंगजेब और मुराद का साहस बढ़ गया। उन्होंने राजा के डेरे दबा लिये और झण्डे छीन लिये। पीछे से औरंगजेब ने, दाहिनी और बायीं ओर से नबी ने तथा सामने से मुराद ने राजा पर आक्रमण किया। मुराद से महाराजा का सामना हुआ। जसवंतसिंह के साथ चित्तौड़ का जगतसिंह, मुकुन्दसिंह हाड़ा और उसके भाई तथा झाला दूलीचन्द थे। मोहनसिंह हाड़ा, दयालदास झाला और अर्जुन गौड़ गिर पड़े। खान, रायसल, सुजानसिंह और उदयसिंह मारे गये। रतनसिंह और उसके भाई फतेहसिंह ने लोमहर्षण युद्ध किया। उसके सम्मुख सादूल पुत्र चौहान बन्धु थे। रामेस ब्राह्मण भी युद्ध कर रहा था और जसराज तथा ईसरदास बारहठ युद्ध के अतिरिक्त विरुदावली कह रहे थे। राजा ने विजय के लिए ब्रह्मा का ध्यान किया। म्लेच्छ सेना भागती हुई नजर आयी पर औरंगजेब ने दो लाख कुमुक भेज कर उसे रोका। यह स्थिति देख कर महाराजा को उत्साह दिलाने के लिए सुकवि ने अंबा की प्रार्थना की और उसके स्वरूप का वर्णन किया। उसने निवेदन किया कि भयंकर युद्ध हो जिसमें शंकर और पार्वती स्वयं उपस्थित हों।

इसके पश्चात् कवि ने रतनसिंह की वीरता तथा अन्य गुणों का विस्तृत वर्णन किया और उसकी कहरकोह हाथी, मेवास थान के डाकुओं तथा सिरोही के राव पर हुई विजयों की भी प्रशंसा की और उसके पूर्वजों--महेशदास, दलशाह, सलखा और जयचंद आदि की वीरताओं का उल्लेख कर उसे जोश दिलाया फिर उसके चाचा जुझारसिंह, राजसिंह, कन्हीराम, जसवंतसिंह आदि की वीरता का उल्लेख किया। फिर उसके भाई कल्याण तथा रायसल की वीरता का उल्लेख किया। उनके अतिरिक्त गोपीनाथ, भावसिंह, विष्णुदास आदि की प्रशंसा की।

रतनसिंह ने जोश में आ कर घोड़े की बाग खींची और तीन लाख सेना में अपना घोड़ा डाल दिया। उसके सम्मुख उसका पुत्र कुमार रायसिंह भी लड़ने लगा। वह कट कर खंड-खंड होने लगा। विधाता उसके शरीर के टुकड़ों को जोड़ कर उसे पुनः सदेह बनाते जा रहे थे। भगवान और अमरा रतन के बायें और दाहिने लड़ रहे थे। जसराज और रामेश भी वहीं थे। वे वीर मुराद पर झपटे और उन्होंने उसके झंडे तथा छत्र छीन लिये। उन्होंने उन्हें महाराज रतनसिंह को भेंट किया। पर दाराशिकोह के दुर्भाग्य से औरंगजेब की विजय निश्चित थी। महाराज की सेना के सब म्लेच्छ भाग गये। आसकरण, मधकर आदि ने यह अवस्था देख कर महाराज जसवंतसिंह को वहाँ से जोधपुर लौट जाने की प्रार्थना की। पर वह प्रस्तुत न हुआ। उस समय आकशवाणी हुई और उसने महाराज को बताया कि विधाता ने औरंगजेब को सिंहासन दिया है अतः जसवंत को वहाँ से जोधपुर लौट जाना चाहिए। इसे ईश्वरीय आज्ञा समझ कर जसवंतसिंह ने रतनसिंह को सेनापतित्व सौंपा और स्वयं प्रस्थान किया। रतन दूल्हा बना और उसकी सेना बरात बनी। युद्ध भूमि उसकी दुलहिन थी।

## रतन का अंतिम युद्ध

रतनसिंह के सेनापति नियुक्त होने पर गोवर्धन बानैत, पीथल, गिरधरदास, दलशाह, प्रयागदास, उदयभान, जगराम, रघुपति, केहरी, किशन, महेशदास, जगा, जगमल, जैसा आदि उससे गले मिले। फिर उन्होंने भयंकर युद्ध प्रारंभ कर दिया। अनेक शस्त्रास्त्र चलने लगे और रक्त की नदियां बहने लगीं। छः लाख यवन सेना से एक अयुत हिन्दू सेना भिड़ पड़ी। राठौड़ों ने अपूर्व हस्तलाघव दिखाया। राजा ने विशाल म्लेच्छ सेना में घोड़ा डाल दिया। उसका घोड़ा कट कर गिर पड़ा। उसने एक अमीर को पछाड़ कर उसका घोड़ा छीन लिया। चौहान वीरों ने भी भयंकर युद्ध किया। गोकल, गोवर्धन, दयाल, रुघा और विट्ठल भी शौर्य प्रदर्शन कर रहे थे। रतन का घोड़ा फिर कट गया और वह स्वयं पृथ्वी पर गिर पड़ा। वह शत्रु सेना से घिर गया पर चौहान बन्धुओं ने शत्रु सेना को दबाया। अवसर पा कर रतनसिंह उठा और उसने आलमगीर के प्रिय एक मीर का घोड़ा छीन लिया। वह घोड़ा मानो हयग्रीव का दूसरा अवतार था। उसके चरणाघात से हाथियों के मस्तक फटते थे। यह रतनसिंह का पांचवां घोड़ा था। पुनः भयंकर युद्ध के पश्चात् रतनसिंह का घोड़ा खंड-खंड हो गया और उसने पैदल ही घनघोर युद्ध प्रारंभ कर

दिया। उसने सहस्रों मीरों को कुचल डाला। अनेकों को मुष्टिका घात से मार दिया। अनेक घोड़े मार डाले। सहस्रों यवनों को पैरों से मसल दिया। अंत में वह शत्रु सेना से घिर कर खंड-खंड हो कर गिर पड़ा। उसकी आत्म ज्योति परमात्मा में मिल गई। सादूल, अमरा, भगवान, जसराज (कवि), फतेसिंह और रायसिंह भी गिर पड़े। आकाश से पुष्प वृष्टि हुई। रक्त की धारा ऐसी बहने लगी मानो क्षिप्रा उलटी बहने लगी हो। अनेक उपमाओं के योग्य इस युद्ध में साठ हजार हिन्दू और तीन लाख मीर मारे गये। रतनसिंह के सिर पर हजारों कृपाणें टूटीं। उसके शरीर में हजारों नेजे, भाले, बाण और खड्ग चुभे हुए रह गये। वह शरशय्याशायी भीष्म के समान गिर पड़ा। बादशाह के भाग्यहीन हो जाने के कारण सेना परास्त हुई। रतनसिंह मर कर महाकालेश्वर की ज्योति में लीन हो गये। उस समय बीकानेर के केसरीसिंह ने कहा कि सच्चा राजा रतन-सिंह ही है। शाहजादों ने भी उस समय उसकी वंदना की।

शाहजादों ने अपने अमीरों से चौहान वन्धुओं, अमरा और भगवान, का परिचय पूछा। उन्होंने बताया कि वे एक सौ इकहत्तर फौजों के विजयी बरजांग के पोते और दिल्ली के नमक हलाल सेवक वल्लू के भतीजे हैं और शार्दूल के पुत्र हैं। अर्जुन, गोपाल और अचला भी इनके चाचा थे। इनमें अर्जुन बड़ा वीर था। उसने राव रतन और कन्हीराम के साथ युद्ध में जा कर तक्की को मारा था। उसी युद्ध में वीर सावन्तसिंह, बल्लू और गोपाल भी लड़े थे। गोपाल तोप के गोले से वहीं मरा था। ये अर्बुद पर उत्पन्न हुए चाहमान के वंशज हैं। उन्हीं चौहानों में शोभा हेमालोत हुआ जिसने सत्रह खानों को मारा। सुल्तान मुहम्मद ने पूछा कि रतन के आगे लड़ने वाला वीर कौन था। उसे उत्तर मिला कि वह वीर रायसिंह था। और जो जसवंतसिंह को बचा कर ले गया वह दुर्गादास था। औरंगजेब ने उन्हें शाहनामों में उल्लेख के योग्य बताया। उसने प्रसन्न हो कर विजय दुंदुभी बजवायी और फातिहा पढ़वाये।

रतन के मरने पर त्रिदेव, यक्ष, गंधर्व, अप्सरा, देव आदि ने शिव द्वार पर उसका स्वागत किया। गीत, काव्य, नृत्य आदि किये गये और मधुपर्क से उसका अभिषेक किया गया। उसे शंकर की समस्त सामग्रियां प्राप्त हुईं और वह साक्षात् शिव रूप हो गया। बादशाह को उसकी मृत्यु की खबर मिली और रतलाम में भी सूचना पहुँची। सती का महत्त्व सबसे अधिक होने के कारण रानी देवड़ी और राजावती सती हुईं और अपने पति के पास पार्वती और गंगा के समान पहुँच गयीं।

## रासो का निर्माण और उसकी कथा

रतनसिंह के अगाध गुणों का बखान कवि ने रतन रासो में किया जिसमें समस्त शास्त्रों का ज्ञान भरा पड़ा है और जिसका अतुल माहात्म्य है। उसकी रचना राजा शिव-सिंह के दरबार में की गयी। पृथ्वीराज रासो, वेताल द्वारा रचित विक्रम विषयक काव्य, कादम्बरी, भोजप्रबंध, नैषध और दुर्जनशाल वर्णन काव्य के समान यह काव्य है। इसमें

समस्त शास्त्रीय विषयों का परिचय है। इसमें राम नाम का तत्त्व वर्णित है। प्रातःकाल के सब कृत्य करके इस का सम्यक् पूजन करके, भोजन आदि से निवृत्त हो कर कवि राज-दरबार में गया और वहाँ उसने मखमली वस्त्र से आच्छादित चौकी पर ग्रंथ को रख कर कवियों, भृत्यों, मंत्रियों और राजा के सम्मुख इसकी कथा सुनायी।

## (२) वस्तु विवेचन

रतन रासो रघुवंश के समान एक राजन्य वंश के अनेक राजाओं का चरित्र वर्णन करता है। एक ही दिन में आठ बादशाहों पर विजय प्राप्त करने वाले जयचन्द के वंश में उत्पन्न हुए गांगा से प्रारम्भ करके शिवसिंह तक के राजाओं का नामोल्लेख रासो में हुआ है पर विस्तृत वर्णन मुख्य नायक रतनसिंह और उसके पिता महेशदास का ही है। वैसे आरम्भ में उदयसिंह और चन्द्रसेन का युद्ध वर्णन है, फिर उदयसिंह के पुत्र दलशाह, शूरसिंह आदि का उल्लेख है, फिर दलशाह के पुत्र कन्हीराम के बुरहानपुर घेरे में मारे जाने का उल्लेख है। इसके बाद महेशदास और मुख्यतः रतनसिंह के कृत्यों का विस्तृत उल्लेख है। रतनसिंह के पुत्र रायसिंह की वीरता और रामसिंह की सिंहासन प्राप्ति आदि का भी उल्लेख हैं। अन्त में रामसिंह के पुत्र शिवसिंह की सभा में रासो कथा का उल्लेख है। यों यथा प्रसंग एक राजवंश के अनेक राजाओं का चरित्र वर्णन है यद्यपि ग्रन्थ का नाम प्रमुख पुरुष रतनसिंह के नाम पर ही रखा गया है। अब संक्षेप में कथावस्तु पर विचार करना आवश्यक है।

काव्य के आरम्भ में काव्य नायक के चयन का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि रतनसिंह के तुल्य अन्य कोई बादशाह-राजा नहीं है अतः उसी का चरित्र चित्रण कवि को अभीष्ट है। अपनी काव्य रचना में विविध भाषाओं और विविध शास्त्रों के ज्ञान का समावेश करने की इच्छा कवि ने व्यक्त की है। रासो ग्रन्थों के प्रिय पद्धरी छन्द में कवि ने अनेक शास्त्रों का उल्लेख किया है जिनका उपयोग वह अपने काव्य में करना चाहता है। इस प्रसंग में उसने काव्यशास्त्र, छंदशास्त्र, नाट्यशास्त्र, पुराण, ज्योतिष, शकुन शास्त्र, यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र, शालिहोत्र, व्याकरण, काव्य, नाटक, राजनीति, भूगोल, खगोल, सांख्य, योग, वेदान्त, आयुर्वेद आदि अनेक विषयों का तथा उन विषयों के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख किया। अनेक भाषाओं, विशेषकर अरबी-फारसी आदि, के पांडित्य का प्रदर्शन करने की भी इच्छा कवि ने व्यक्त की है और अपने काव्य को मूलतः अरबी लिपि में लिपिबद्ध करने का उल्लेख किया है। शास्त्रों और ग्रन्थों की इस सूची का उद्देश्य कवि का दर्प प्रदर्शन नहीं है इसलिए उसने भद्रोचित नम्रता का प्रदर्शन किया है। आरम्भ में **द्विजवर उदार हरिचरन बंदि** कहा है और पद्धरी की समाप्ति पर फिर अपनी शालीनता का परिचय देते हुए कहा है—

गुरु मुख अस्त्र सस्त्रह विचार। बुधि अल्प जल्प संग्रह अपार।।
नर आयु तुच्छ फुनि क्षुद्र ज्ञान। विद्या प्रबन्ध बेहद प्रमान।।
द्विज वर उदार हरि चरन वंदि। क्रित कुंभकर्न लहु वर्न छंदि।।
अग्यान वचन अभ्रक प्रियेव। खिम्मता जोगि सामर्थ देव।।

यों अपने समग्र ज्ञान का श्रेय कवि ने अपने गुरु हरिद्विज को दे दिया है और अन्तिम पंक्ति में तो अपनी नम्रता का अधिकतम परिचय दे डाला है। गुरु के प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति से कवि को संतोष नहीं हुआ अतः उसने पांच दोहों में फिर गुरु गरिमा का उल्लेख किया है। पांचों दोहे एक ओर कवि की गुरु भक्ति के द्योतक हैं तो दूसरी ओर काव्य प्रतिभा के:—

सजल जलद जलधर प्रचुर बरखि हरखि गुरधार।
कुंभकरन थंमन कृतक ह्रिद ह्रिद जद प्रस्थार।।
अनसिख्या अकथा कथा अतिसय अगम अरत्थ।
मंडन हरिद्विज चरन रज को खंडन समरत्थ।।
धोम अगर विख व्याल हर बद्रिय थल जल गंग।
कीट भमर पारस असम श्री खंडत परसंग।।
ऐसे प्रवल प्रताप गुर अगम गाध ध्रुव मेर।
सत्यारथ साधक वचन सिद्ध करत सौ वेर।।
विमल वरख खट दुव अवधि वंछित परम प्रताप।
श्री हरिद्विज पूरन क्रिपा महिमा अगम अमाप।।

यों इन काव्यात्मक दोहों में गुरु की कृपा का गौरव बताते हुए कवि ने उल्लेख कर दिया है कि उसने बारह वर्ष की अवधि में इस काव्य की रचना की थी। इसके बाद कवि ने उन आश्रय दाता राजाओं का उल्लेख किया है जिनके यहां क्रमशः बारह वर्ष तक रह कर उसने काव्य रचना की थी। फिर यह उल्लेख किया है कि कवि पुत्र के मुख से रासो का वाचन राज सभा में हुआ था।

यहीं कवि ने काव्य प्रयोजन का उल्लेख किया है:—

कमँध वंस विख्यात भ्रम पावन जद जल जत्र।
त्रिपता कलिपत्तार पितर त्रय कारिज एकत्र।।
सफल जन्म कुल धर्म रति ब्रह्म भगति विविधान।
प्रापति सुर सरिता वसन त्रय कारिज इक थान।।
सुद्रिढ़ विचार विचार प्रभु रहिस कथार उचार।
सकल सार हित संग्रहन वार वार भव पार।।

यों अपनी रचना को कवि ने एक साथ तीन-तीन कार्यों को सिद्ध करने वाली बता दिया है।

उसके बाद सौती परम्परा में कवि और कवि पत्नी का प्रश्नोत्तर कथन है। यह परम्परा का पालन मात्र है। नीरस और अस्पष्ट है। सम्भवतः कुछ अस्पष्ट सा होने

के कारण ही कविता प्रवाह में वाधक सा प्रतीत होता है। इस बर्णन में एक बार फिर गुरु गौरव का वर्णन है:—

जिनके मन कारज सफल हरिद्विज ब्रह्म सहाय।

इसी प्रसंग में ब्राह्मणों की गरिमा की सूचक कुछ कथाओं का संकेत किया गया है। फिर साहचर्य, भावना आदि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए प्रश्नोत्तर कथन समाप्त कर दिया गया है। यहां आते-आते श्रोता कदाचित् कुछ ऊबने सा लगता है अतः कुंभकर्ण ने प्रसंग समाप्त कर दिया है और नया अध्याय आरम्भ कर दिया है। अध्याय की समाप्ति की पुष्पिका कुछ शंकाएं उत्पन्न करती है। पर उनका विवेचन अन्यत्र करेंगे।

नये अध्याय का आरम्भ तो विगत अध्याय के विषय अर्थात् भावना के महत्त्व से ही होता है पर कवि संक्षेप में उज्जयिनी की महिमा तथा राजा और कवि के कर्त्तव्यों का उल्लेख करके अपने वंश का वर्णन करने में प्रवृत्त हो जाता है।

कवि ने सर्व प्रथम चंगा के पुत्र गोविन्द का वर्णन किया है और बताया है कि राव गांगा के सम्मुख ही युद्ध करता हुआ गोविन्द स्वर्गवासी हुआ था—**टूक टूक मुँह अग्ग**। गांगा ने गोविन्द के पुत्र उदयकरण को अत्यधिक गौरव प्रदान किया था। कवि ने अपने पूर्वजों में उदय्करण और मल्ल दो का ही विस्तृत वर्णन किया है। उदयकरण के मान-सम्मान के वर्णन तक की बात तो ठीक थी पर कवि ने उसके बत्तीस विरुदों का ऊबा देने वाला वर्णन भी किया है और फिर राव गांगा के सभासदों का भी वर्णन कर डाला है। अन्त में देश के हेतु त्याग का वर्णन है—

मुरधर छलि महाराव छलि गो विप्रह छलि लाज।
उदयकरण जुग जुग अमर स्रित अवसर पर काज॥

उदयकरण की गौरवारपद मृत्यु के उल्लेख के बाद मल्ल कवि के अनेक राजाओं द्वारा सम्मानित होने का वर्णन है। अनेक राजाओं द्वारा अनेक कवियों के सम्मानित होने का भी वर्णन है। अकबर के दरबार में मल्ल के सम्मानित और पुरस्कृत होने के वर्णन के पश्चात् बीकानेर नरेश रायसिंह के द्वारा मल्ल के सम्मान-दान का उल्लेख है। मल्ल के बाद उसके पुत्र ईसरदास का वर्णन है और ईसरदास का पुत्र स्वयं कुंभकर्ण है। यों लगभग अस्सी कवित्त-दोहों में कवि ने अपने पूर्वजों का गौरव गान किया जो कहीं नीरस हो गया है तो कहीं युद्धवीर और दानवीर रसों के परिपाक में समर्थ हुआ है।

इस वंश वर्णन के बाद कवि ने एक बार फिर रतनसिंह के गुण गान को अपना लक्ष्य बनाने का औचित्य बताया है और कहा है:—

जिय पाये रतलाम पुर जालंधर साँचौर।
अधिकौ रतन महेस ते अधिक कहूँ कहँ और॥
× × × ×
रतन क्रित्ति कहतब्बिता अथिर जान संसार।

रतन के विरुद गायन का औचित्य बता कर कवि ने उज्जयिनी के गौरव का उल्लेख किया है जहां रतन स्वर्गवासी हुआ था। उस स्थान पर स्वर्गवासी हो कर रतन ने और भी अधिक गौरव प्राप्त किया। यह बताने के लिए कहा है:—

तिहिं थानिक खिति धर्म धर स्याम काम तन तच्छि।
प्रबल पुंनि पावहि रतन सिव पारखत्त प्रतच्छि।।

यों रतन को अपने काव्य का उचित आलंबन मान कर कवि ने उसके पूर्वजों का विरुद गायन आरम्भ किया है। आरम्भ जयचन्द के वर्णन से है पर कवि कन्नौज से सीधा जोधपुर जा पहुंचता है और गांगा तथा मालदेव के वर्णन आरम्भ कर देता है।

मालदेव के बाद उसके दो पुत्रों–उदयसिंह और चन्द्रसेन–के बीच हुए युद्ध का सरस वर्णन है। थोड़े से दोहों में अच्छा रस परिपाक हुआ है। भाषा भी प्रसंगानुकूल और आलंकारिक है:—

पंच तुरिय बदले नृपति फारन फौज छछोह।
छंडि छंडि चढि चढि किये खंड खंड तन लोह।।

यह वीप्सा का अच्छा उदाहरण है। उदयसिंह के पुत्र दलशाह के नीरस वर्णन के पश्चात् उसके पांच पुत्रों का उल्लेख है जिनमें पहले कन्हीराम के शौर्य-वीर्य का वर्णन है। उसके बाद तो मधकर या महेशदास का ही विस्तृत उल्लेख है जिसका पुत्र रतन है।

कन्हीराम के वर्णन में उसकी पितृभक्ति और अनुज स्नेह का उल्लेख करके बुरहानपुर के घेरे का वर्णन किया गया है। युद्ध वर्णन बहुत सरस और सालंकार है। युद्ध की समाप्ति का वर्णन करते हुए विदेशी शब्दावली का चमत्कार दिखाया गया है। यह अन्तिम दोहा अच्छा बन पड़ा है:—

सखी सहीदी भिस्त मैं इज्जत अब्द सिपाह।
सुकरस हिंमति हिन्दु की सिफति करत पतिसाह।।

इसके पश्चात् महेशदास आदि चार भाइयों की महाबतखां की सेना में नियुक्ति का उल्लेख है और बादशाह द्वारा महाबतखां की सिपहसालार पद पर नियुक्ति का भी। उसी सांस में महाबतखां द्वारा विजेतव्य दक्षिण की अजेयता का भी वर्णन है। शाही सेना की प्रबलता का उल्लेख करते हुए दक्षिण की शक्ति का भी अपूर्व उल्लेख किया गया है। यहीं देवगिरि दुर्ग का विस्तृत वर्णन है। दक्षिण दिशा की अजेयता का वर्णन वीर रस के उपयुक्त कवित्त (छप्पय) छंद में है और देवगिरि का वर्णन मोतीदाम छंद में जो सौती कवियों का बहुत ही प्रिय छंद रहा है। देवगिरि का यह वर्णन भाषा वैभव, अलंकार चमत्कार, वर्णन कौशल सभी दृष्टियों से उत्तम है पर उसमें पृथ्वीराज रासो की 'शशिव्रता समय' वाली कथा का वर्णन थोड़ा विस्तृत प्रक्षेप लगता है, यद्यपि यह कथा देवगिरि की अजेयता के प्रतिपादन

में सहायक ही हुई है। वर्णन कौशल और दुर्ग की अजेयता के नमूने के लिए कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं:—

अभीत अजीत असाधि अगाधि। साबाति सुरंग अलंगन साधि।।
चढाव लगाव न डाव चोकोर। नृभै सुर अस्सुर नाग रहौर।।

× × ×

किते नर दानव देव क एक। अगिरग्गस वंछित ऋद्ध अनेक।।
अभंग पराक्रम पुंज अनादि। देवंगिर द्रुंग सुद्रुंगनि आदि।।

ऐसे दुर्गम दुर्ग की विजय केवल महाब्रतखां जैसे वीर से ही संभव है, इसका उल्लेख द्रष्टव्य है :—

विना रवि कौन करै ब्रह्मंड। प्रलै जल सोखि प्रदीपति खंड।।
पियै कुन पावक दिव्य प्रकार। बिना जदु इंद सगोप विथार।।
नृभै नरस्यंघ बिना कर नक्ख। हतै तप उग्र स को हरिनक्ख।।
पियै कुन रुद्र बिना द्रिगपाल। झलाहल कोट हलाहल झाल।।

देवगिरि की दुर्गमता का यह वर्णन शत्रु पक्ष की शक्ति की अपरिमेयता का दिग्दर्शक है और शत्रु जितना अपराजेय हो उतना ही विजेता को गौरव प्राप्त होता है अतः यह प्रसंग कवि के मार्मिक स्थल-चयन-कौशल का अच्छा उदाहरण है।

इस अजेय दुर्ग पर आक्रमण करने के लिए उपयुक्त अवसर की सूचना देने गुप्तचर आते हैं और गुप्तचरों की दी हुई सूचना का उल्लेख बहुत कठिन अरबी-फारसी परिपूरित शब्दावली में किया गया है मानो गुप्तचरों के समाचार की गोपनीयता का ध्यान रख कर ही कवि ने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। कवि ने अपने अरबी-फारसी के ज्ञान का परिचय देने का यह अच्छा अवसर निकाला है यद्यपि पांडित्य का प्रदर्शन कहां तक हो पाया है यह संदेहास्पद ही है। वचनिका का गद्य खंड तो पूरी तरह गुप्त भाषा प्रतीत होता है ही पर उसके बाद के दोहों में भी विदेशी शब्द कम नहीं है। एक बार फिर देवगिरि की अजेयता और केवल महाबतखां द्वारा ही जेयता का उल्लेख है।

दक्खिन महबतिखान विन करै फतूहस कौन।
को कूदै महरान कूँ बिन हनमंत हजौन।।

× × ×

अकबर साहि जलाल दी करामाति सुविहान।
उन ही सैँ गढ देवगिर ठड्ढा रह्या अमान।।

खैर, इस अजेय दुर्ग को जीतने महाबतखां चला और उसके चलते ही धरा और अंबर कंपित हुए—

आकंपित धर अंबरह विदा मुहब्बति साय।

बादशाह ने महावतखां को सभी प्रकार की सामग्री और सुविधाओं से समन्वित कर दिया । उसे बड़ी से बड़ी इज्जत बख्शी । महावतखां ने अपने साथ के वीरों का परिचय बादशाह को कराया ।

यहां तक महावतखां के ही बल गौरव का चित्रण था पर अब कवि ने अपने प्रिय पात्र मधकर (महेशदास) की अवतारणा कर दी । उसके पूर्वजों का उल्लेख कर के उसे जोश दिलाये जाने का वर्णन कर दिया और फिर महेशदास के बंधुओं और अनुचरों का विवरण दे डाला । कवि ने यहां इस मर्यादा का ध्यान रखा है कि मधकर के वर्णन से पूर्व महावतखां का गौरव वर्णन किया जाये क्योंकि मधकर यहां चरित्र नायक होते हुए भी आखिर महावतखां का अनुचर था । अस्तु, बादशाह से सम्मानित होने पर महावतखां का प्रयाण शुरू हुआ । उसके सैन्य अभियान का चित्रण वर्णन कौशल का उदाहरण है:—

नीसान नद्द भुव कंप चाल । पर सद्द नद्द गर्जित पताल ।।
लोपिय अजाद मनु उदधि सत्त । कलपंत अंत मह प्रलय घत्त ।।
खह धूरि पूरि धुंधरि दिसान । दिसि विदिसि दंग सुज्झहि न भान ।।
तल अतल वितल भू आसमान । भय अनल विनल पस्सहि न पान ।।

यों धरा और गगन को विकंपित करती हुई वाहिनी ने दुर्गम दुर्ग को जा घेरा, सितम ढहाना शुरू कर दिया और गोलों की झड़ी लगा दी । गोलों के प्रहार की त्वरा का आलंकारिक (अतिशयोक्ति) वर्णन देखिए:—**गोला पहल दिवाल सँग पाछे तोप अवाज ।** कारण से पूर्व कार्य होने लगा । यह स्थिति आने पर देवगिरि में मंत्रणा होती है कि शत्रु के साथ कैसा व्यवहार किया जाए । नीतिशास्त्रीय चर्चा की जाती है और अंत में निर्णय यही होता है कि साम-दाम आदि उपायों से काम नहीं चलेगा । दंड का मार्ग ही अपनाना पड़ेगा ।

मंत्रणा के मध्य देवगिरि के गौरव मय पूर्व वृत्त-का भी वर्णन होता है । इस वर्णन में पंजाबी और खड़ी बोली का कुछ पुट है । वर्णन मार्मिक है। जिस भूमि में स्त्रियां और नपुंसक तक वीरता का अपूर्व प्रदर्शन कर गये हों उसके शौर्य-गौरव का क्या कहना !

मिहरी भो जिस मुलक दी सरम खतम सुविहान ।
लड़ी अकब्बर साहि सन चँद बीबी है रान ।।
नाजर जिस दरिगाह का सूहा नाम अचंभ ।
फील जँजीर जड़ाय के गाडि लड़्या रिणखंभ ।।

देवगिरि के गौरव वर्णन की यह पुनरुक्ति है पर फिर भी खटकती नहीं । देवगिरि विषयक ये सब बातें पहले देवगिरि वर्णन प्रसंग में कह दी गयी होतीं तो वहां का वर्णन अनुपात हीन और विस्तृत हो जाता । बीच में प्रसंग निकाल कर फिर उसी का वर्णन करने की कला में कवि निपुण है ।

इसके बाद देवगिरि की आठ फौजों की तैयारी पर दुर्ग में रसद की कमी का उल्लेख है। फिर महाबतखां द्वारा डाले गये घेरे का विकट वर्णन है। इसकी भाषा पंजाबी-जैसी और छंद तदनुरूप त्रिभंगी है:—

गोले बरिहंदे अंबर संदे गड़े गणंदे अगिणंदे।
दखिणी दुर संदे तीर तुकंदे कोट विलंदे किलकंदे।।

इसके बाद महाबतखां की व्यूह रचना का विवरण है और गोपाल को गोला लग जाने का उल्लेख है। इस पर युद्ध विकट रूप धारण कर लेता है और देवगिरि की यवन सेना में त्रास छा जाता है। सर्वत्र भय व्याप्त हो जाता है।

चलि ईरान तुरान कूँ दहसति तरफ तरप्फ।
दक्खिन स्यंघल हबस डर हिंमति हिंदु हरप्फ।।

आखिर देवगिरि के लोग दक्षिण के अन्य तीन नवाबों के पास सहायतार्थ पत्र लिखते हैं और पत्र देखते ही वे तीनों नवाब आग बबूले हो जाते हैं:—

सुनि कग्गद त्रय बादिस्याह ज्यूँ अग्गि पराले।
लग्गी पवन विलंद बोचि भरलक्की झाले।।
होर अँबाराँ गंधकाण रू सोर फुराले।
भाहि भट्ट की घाहि गंज भरि वत्थ उलाले।।

निसाणी बद्ध इसी वर्णन में आगे अन्य लोगों के लिए भी नीति उपदेश है कि जो इस समय पीछे रह जायेगा वह बाद में पछतायेगा:—

आगम बंधण पाज राज वरयाँ अलसाये।
घण हर बुट्ठै आव फेरि किनि जाय ठँभाये।।

पत्रों को पढ़ने पर नवाब लोग युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। यहां हाथियों का विकट वर्णन है :-

फील उलट्टे स्याह दे फट्टे दधिनाले।
घण वरहण घेघूँवि भूँवि रंजण रळियाले।।
पी चल्ले सामंद ज्यूँ दल वद्दल काले।

फिर विविध प्रदेशों के वीरों का वर्णन है:—

कंनड कूँकण कासमीर कइमद तिम झाले।
हदफ हबस्सी, हद्द सूँ मुस्ताक मसाले।।
हिरमच किरमिच राफसी सुन्नी सिफताले।
पोसक्खी प्रतिकाल दे रंगीरफ वाले।।

इस विकट त्रय-शाह-सेना का पता महाबतखां को चलता है और वह मंत्रणा करता है। फिर वह मधकर की अनेक रूपों में प्रशंसा कर के उसको सेनापति नियुक्त करता है। इस प्रशंसा के प्रसंग में महेशदास के सामंतों का भी उल्लेख है:—

सामंत नंद बलिराव राव। मनु दुतिय कन्ह नरनाह भाव।।
भट्टी सदून नृप संग तेव। रघुनाथ अनुज जगनाथ देव।।
लखपत्ति नंद दलसाह संग। आज़ान बाहु बज्रंग अंग।।

कवि की धारणा है कि राजा की शक्ति उसके सामंतों में निहित होती है। अतः उसकी शक्ति का सच्चा परिचय देने के लिए उसने सामंतों का भी परिचय दिया। सामंतों का वर्णन करने के बाद सभा विसर्जित होने का उल्लेख है। फिर महेशदास के स्नान करने का वर्णन है। यह वर्णन इस प्रसंग में खटकता है पर कवि ने राजा के नित्यकर्मों के वर्णन के लिए यह प्रसंग निकाला है। नित्य कर्मों के वर्णन के पश्चात् एक बार फिर महेशदास का वंश वर्णन कराया गया है। पहले जयचंद का विस्तृत वर्णन है फिर सलखा, मालदेव, जगमाल, वीरम, रिणमल्ल, जोधा, सूजा, बाघा, गांगा, मालदेव, उदयसिंह, दलशाह आदि का वर्णन है। यहां पुनरुक्ति खटकती है। पर कवि का मन नायक के वंश वर्णन से भरता ही नहीं। वह नायक में उत्साह भरने के लिए कवि मुख से यह वर्णन आवश्यक समझता है। इस वर्णन से नायक को जोश आया ही—

भयव नृपति जाजुल्लि तेज असमान लग्गि सिर।
प्रलय काल क्रित्या अनूप तूप वरिखत ता ऊपर।।
जग्गिय करि जामंगिय तोप दग्गियति बान सन।
दुरँग सुरँग साबत्ति भत्ति भभकियति तरित घन।।
प्रगटिय त्रिनेत क्रित्या प्रलय सपत स्यंध सेतह टरिय।
स।भ्रंत चित्त कवि भ्रित्त तस कस विधान उप्पम करिय।।

इसके बाद युद्ध भूमि और वहाँ के वातावरण का चित्रण है। इस वर्णन में कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार की सहायता से युद्ध में हो रही कट-बढ़ का विकट वर्णन किया है:—

करी अंग जंगं वरं श्रोण लाला। मनू द्रोण संजीवनी दीपमाला।।
खतंगं उडं बान संगो क्रिपानं। दुपो वद्दलं चक्र साचंद्र भानं।।
गजं कुंभ आचंभ खग्गं खनंके। मनू झज्झरं अच्छरी पैं झनंके।।
गिरं ग्रीखमं अग्गि लग्गो भयानं। घटा मद्धि होरी झरं विद्दिमानं।।
झरै धार संनाह जु ग्राह फट्टे। कवारी कुठारं वनं काठ कट्टे।।

कटते हुए हाथियों का यह पूर्ण जीवंत वर्णन है। इसी वर्णन में आगे योद्धाओं का फिर वर्णन आता है। ऐसे प्रसंगों में कवि का मन बहुत रमता है और उसने कल्पना काशल का पूरा परिचय दिया है।

उसके बाद महेशदास के द्वारा किये जा रहे युद्ध का वर्णन है; उतना ही विस्तृत और उतना ही ओज पूर्ण।

कुप्यौ कि प्रलय संघार काल। चख चक्रित रुद्र भभकी कि झाल।।

× × ×

परि पक्क अंब डंडूर वाय । जस करिय कमल सर पंक वाय ।।

× × ×

भभकंति श्रोन मद श्रोघ तत्र । चलि उपटि पूरि चवसट्ठि पत्र ।।
किलकंत वीर वयताल पंति । खहचरह खेल कउतक हसंति ।।

× × ×

प्राक्रंम पिक्खि मधकर महान । बरिखंत कुसुम नभ सुर विवान ।।

अंत में मधकर की विजय हुई और—

मधकर फतूह वग्गे निसान । कर गहिग बग्ग महवत्तिखान ।।

युद्ध का यह कवित्व मय वर्णन कवि की कल्पना शक्ति का प्रवल प्रमाण है। कवि की भाषा के ओज और प्रवाह का जीवंत उदाहरण है। इस वर्णन की एक-एक पंक्ति पठनीय है।

अस्तु, इस विजय के वाद देवगिरि के रक्षक अपने भांडागारों की चावियां ला कर समर्पित कर देते हैं। इस वात का उल्लेख भी उपमा की सहायता से बड़ा सुन्दर हुआ है—

यूँ उतरे अभिमान विनि रक्खिक देवगिरंद ।
ज्यूँ उडि चलै अकास तैं हीन क्रिया तजि चंद ।।

फिर भांडागारों में विद्यमान अपार सामग्री का वर्णन है। तत्पश्चात् दक्षिण के अन्य किलों पर विजय होती है।

वादशाह को देवगिरि विजय की सूचना मिलती है तो दिल्ली में बड़ा उत्सव मनाया जाता है। दरवार में बैठ कर वादशाह महावतखां के पत्र को पढ़ता है जिसमें महावतखां ने विकट युद्ध की भीषणता का वर्णन किया है। पत्र की समाप्ति के बाद बादशाह द्वारा महावतखां और मधकर का सम्मान करवा कर कवि अध्याय समाप्त कर देता है। यह सहसा समाप्ति कुछ खटकती है।

नये अध्याय का आरम्भ भी मानो बहुत जल्दबाजी में किया हुआ है। मिर्जा आदि सब सूवेदारों को मधकर समेत बादशाह बुलाता है। महावतखां के मर जाने पर उसके पुत्र लहुरास्पखां को उसके स्थान पर सूवेदार नियुक्त करता है। ये सव घटनाएं कवि को व्यर्थ प्रतीत होती हैं और वह उनका संकेत मात्र दे कर चलता कर देता है। फिर महेशदास के पुत्रों का नामोल्लेख है। वहीं संक्षेप में बता दिया है कि रतनसिंह शाहजहां के पास रहने लगा और कल्याणमल अपने देश में। यह सब कथा विस्तार कवि को ठीक नहीं लगा। कहरकोह युद्ध वर्णन की उतावली है। फल यह हुआ कि यह सब संक्षिप्त उल्लेख नाटक के विष्कंभक सा लगता है।

इसके आगे कवि का प्रिय विषय आ जाता है और उसका मन रम जाता है। कहरकोह को रतन ने मार दिया था। इसमें उसकी शूरता का वर्णन तभी सम्भव था

जब पहले कहरकोह की विकट शक्ति का उल्लेख होता। कवि ने यह उल्लेख जी खोल कर किया है। पहले उसके पकड़े जाने में हुई कठिनाई का वर्णन है—

कइ जरब जतन हठ निग्रहेति। कउतक्क हुक्क आलम वदेति ।।

यहीं कहरकोह के भयानक स्वरूप का वर्णन है—

अय पट्ट तट्ट उपटंत वारि। घररंत मंत भद्दव घटारि ।।
खुध्या पिपास न त घाम छाँहि। निस दिवस भेव मनतेव नाँहि ।।
+ + +
करि खंड खंड दरखतिनि डारि। ले चीर चीर नखहि उखारि ।।
+ + +
लंगरह कहर तोरनि तराक। चूरिक्कि कच्च भंजत भराक ।।

हाथी की अपार शक्ति का वर्णन करने के लिए एक रात्रि की घटना दी गयी है जब वह रात को रस्से तुड़ा कर शहर में निकल भागा था और बादशाह अनेक मन्त्रियों और बीर फीलवानों की सहायता से उसे पकड़ पाया था और इस घटना से भयातुर अनेक फीलवानों ने संन्यास लेना स्वीकार कर लिया था।

पचि फीलदार कइ त्रिच्छि मूल। जप दाव जरव्र जारित कबूल ।।
उस्ताद पीर पैकंव्र जोस। अंबिया वली अवलिया गोस ।।
किल्ले किमाड़ पाहाड़ तोड़। रन पहलवान कइ बिरद कोड़ ।।
जल उपल अग्नि सारह असंक। तोपह जँबूर साव्राति कंक ।।
भंजन अभंग भुरिजन भयान। फौजन विरौल मौजन महान ।।
कब्बान बान तब्बान जोस। वे परह परह सेलह सरोस ।।

अस्तु, जब यह विकट गजराज पकड़ लिया गया तो इसकी सूचना महल में बेगमों को मिली और उन्होंने बादशाह को कहलवाया कि वे उस हाथी को देखना चाहती हैं। इस प्रसंग में बादशाह के बल-गौरव का विस्तृत वर्णन है। उसके शासन में किसी तरह का उत्पात नहीं होता और सब मस्त रहते हैं। यम भी डरता है।

आकाल काल म्रिति उभय व्रिद्धि। त्रय लोक एक वसतव प्रसिद्धि ।।
इति अदब साहिजेहान साहि। बिनि लेख दिवस मधि भुंमि ताहि ।।
काँकरहि बदत अस प्रेतराट। सा भूमि इन्द्रप्रस्थह सुबाट ।।
आकाल अवधि विनि समय तेव। सब जंतु मात तज्या भयेव ।।
आकाल मेघ न न चंड बात। सर्करा उपल न त वज्रपात ।।

बेगमों की प्रार्थना नाजर ने बादशाह को सुनायी और बादशाह ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। रानियां महल के झरोखों से देखने के लिए आ बैठीं—

जारीनि रंध्र झंखत सुबार। मनु सुफर जुत्थ रस तंत जार ।।

हाथी मैदान में लाया गया परन्तु महावत उसे संभाल न सका। अनेक महावत मिल कर भी उसे वशीभूत न कर पाये और सर्वत्र भय छा गया। कोट, हट्ट, पट्टन, बाजार आदि में से होता हुआ हाथी आमखास तक आ पहुंचा—

धसि कोट हट्ट पट्टन बजार। धरहरति सद्द सावातिगार॥
अग्र आय साहि करि खास आम। कउतक्क हक्क आलम तमाम॥

यह दृश्य वहां उपस्थित महेश-पुत्र रतन ने देखा और वह उस पर झपट पड़ा—

इक तरफ दुपिय इक तरफ राज। सम दिष्टि दिष्टि पर झपटि बाज॥

रतन से आक्रान्त हाथी आमखास की दिशा में भागा और सीढ़ियाँ चढ़ने लगा तो सब घबड़ा गये—

उप्परह तरह तर उप्परेव। हल कंप भंग कातर कितेव॥

× × ×

भय खास आम उप्पम उपाय। चल दल कि पत्र डंडूर वाय॥

आकाश में देवता लोग भी यह संघर्ष देखने आ गये—

आच्छादि व्योम गहमह विवान। कउतक्क त्रिदिसि देदीपिमान॥

हाथी ने रतन को अपनी सूंड में लपेट लिया—

कर करिय मद्धि वेष्टित कुमार। द्रह जमुन कन्ह काली प्रकार॥

रतन अवसर पा कर हाथी के कुंभस्थल पर जा बैठा और अपनी कटार उसने हाथी के मस्तक पर रोप दी। हाथी का मद उतर गया। रक्त की धारा बह निकली। जय जय कार होने लगी। देव पुष्प वर्षा करने लगे। योगिनियां खप्पर भरने लगीं—

मद रद गज्यंद्र आश्चर्य कौन। दुव दीन दरद मन मगज तौन।
झरहर भसुंड वहि रकत धार। जावक गिरींद्र पावक भँभार॥
जय जयति शब्द दुंदुभि निसान। वरिखंत पुप्प सुर हर्खिमान॥
चवसट्ठि पान खप्पर प्रपूर। गुंजार करत अलिगन गरूर॥

कटार को साक्षात् शक्ति मान कर हाथी मानो उसकी पूजा करने लगा। कवि ने पूजा का सांग रूपक बांध दिया। हाथी कांति हीन हो कर हट गया। रतन विजयी हुआ। बादशाह ने प्रसन्न हो कर सात हजारी मनसब और सत्तर सूबे बख्शे। इसके अतिरिक्त अनेक हाथी-घोड़े भी दिये और जालौर का दुर्ग दिया।

शाही सम्मान प्राप्त कर रतन अपने शिविर में आया। यहां कवि ने राम-धनुर्भंग कथा बीच में जड़ दी है—उपमा के रूप में। पुराण कथा का यह समयोचित उपयोग है। कवि की सूक्ष्म दृष्टि का द्योतक है। मधकर और रतन अपने दरबार में आते हैं और एक

साथ अभिषिक्त होते हैं। फिर विविध दान करते हैं। युद्ध वीर के वर्णन के समाप्त होते ही कवि ने दानवीर का प्रसंग निकाल लिया है—

कवि विवह विवह खटवर्न जत्र । अभिलाख लाख पूरे सुतत्र ।।
गज ग्राम दर्व हय दर्क हत्थ । उमराव दान सनमान तत्थ ।।

इसी प्रसंग में कवि एक बार फिर शाही हरम में जा पहुंचता है और बेगमों के मुंह से रतन की वीरता का बखान कराता है। वे उसका बधावा करना चाहती हैं और बादशाह से कहती हैं कि शाहजादे के व्याह जैसा उत्सव किया जाए। उत्सव किया जाता है। उत्सव का प्रसंग निकाल कर कवि ने नखशिख वर्णन कर डाला है। समस्त वर्णन कल्पना कौशल, भाषा वैभव, छंद माधुर्य, अलंकार चमत्कार सभी दृष्टियों से अद्भुत है। महाकाव्य के लक्षण कारों ने नखशिख वर्णन को भी उसमें स्थान दे दिया था। कुंभकर्ण भी इससे वंचित नहीं रहना चाहता था। इससे अधिक उपयुक्त प्रसंग नहीं निकाला जा सकता था। वीर रस प्रधान काव्य में शृंगार की इतनी ही अवतारणा संभव थी। कोमल कान्त पदावली की गुंजार के मध्य पाठक एक बार रण की विभीषिका से मुक्त हो ही जाता है।

बेगमें रतनसिंह का बधावा करने के लिए अपनी तरफ से महेशदास से भी आग्रह करती हैं। महेशदास रतन को सिंहासन पर बैठा कर उत्सव करता है। यहां रतन का वेष-वर्णन है। इसी उत्सव के अवसर पर कवि ने सरस्वती के मुख से रतनसिंह के भविष्य का वर्णन करवाया है।

यह प्रसंग कवि की कल्पना शक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। बात यह है कि रतन रासो का प्रमुख नायक रतनसिंह वस्तुतः युद्ध में परास्त हुआ था और रण-भूमि में लड़ता हुआ स्वर्गवासी हुआ था। अतः उसका चरित्र गायन करने वाले कवि का कविकर्म उतना सरल नहीं था जितना विजेता नायक वाले चरित्र गायक का होता है। कवि को अपने इस दुष्कर साध्य का सम्यक् ज्ञान था और उसके लिए उसने यहीं से भूमिका आरंभ कर दी है। जिस घटना के होने का विधि ने विधान कर दिया है, जिसका भविष्य कथन सरस्वती ने रतन की कुमारावस्था में ही कर दिया वह तो भवितव्य थी ही। मानव इस भवितव्य को टालने में समर्थ नहीं होता, अतः रतन की पराजय और मृत्यु उसकी गरिमा को न्यून कैसे कर सकती है। यह तर्क ले कर कवि रतन के गौरव की रक्षा करना चाहता है। इसी लिए इस स्थल पर युद्ध घटना से बहुत पूर्व ही उसने भवितव्य का उल्लेख करवा दिया है।

अस्तु, शाहजहां और उसके हरम से यथेष्ट सम्मान प्राप्त कर मधकर और रतनसिंह जालौर नगर चले जाते हैं जो उन्हें शाही जागीर के रूप में प्राप्त हुआ था।

कवि को दुर्ग वर्णन का एक और प्रसंग प्राप्त हुआ। यह वर्णन देवगिरि के वर्णन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वही छंद है, वैसी ही शब्दावली है। उसमें शशिव्रता की

लंबी कथा बीच में दे दी थी। इसमें यह दोष नहीं है। एक दोहे में कान्हड़ दे प्रबन्ध के कथानक का संकेत अवश्य कर दिया है :—

कन्हड दे रावल समथ वीरम देव कुमार।
अलादयत सुविहान सूँ जस गिरंद्र झूझार।।

दुर्ग वर्णन के पश्चात् कवि ने जालौर नगर का वर्णन किया है। सौती कवियों की परंपरा भुक्त शैली का यह वर्णन किसी भी नगर का वर्णन माना जा सकता है। नगर वर्णन में जिन बातों का उल्लेख करना शास्त्र कार विहित है, उनका वर्णन किया गया है। नगर वासियों का वर्णन करते हुए अध्ययनशील विप्रों के वर्णन के प्रसंग में अनेक काव्य-शास्त्र-नाटक के ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है जिसमें ग्रन्थारंभ में परिगणित ग्रन्थों की पुनरुक्ति पर्याप्त है।

इसके पश्चात् कवि ने कवि समय का निर्वाह करते हुए 'अष्टयाम परंपरा' का पालन किया है। रतन के प्रभात कृत्यों का पहले वर्णन है, फिर पूजादि कृत्यों से निवृत्त हो कर वह राज सभा में जाता है। यहाँ उसके अनेक उपमानों का उल्लेख है।

राजसभा गमन के वर्णन के पश्चात् मृगया विहार के लिए जाने का वर्णन भी है। यहाँ अनेक वृक्षों और फलों-मेवों की तालिका दे कर कवि ने इस वर्णन की परंपरा का भी पालन कर दिया है। अनेक पक्षियों की नामावली भी दी है। फिर अनेक प्रकार के योगियों और तपस्वियों का उल्लेख है :—

कइ जटाजूट त्रिजटह कयेव। धूमरह पान भुज उर्ध मेव।।
कइ मूनि मग्न कइ लग्न ध्यान। कइ उर्ध चरन झूलित धृतान।।
कइ विविध व्रिच्छि मूलनि अधारि। वेष्टित विनोद वल्ली सुचारि।।

ऋषियों के सम्मुख आ कर रतन उनको नमस्कार करता है और उनका आशीर्वाद प्राप्त करता है।

इतने में करौल आ कर सूचना देते हैं कि एक विकट सूकर अपने यूथ के साथ निकट ही है। फलतः उसके आखेट का उपक्रम होता है। कहरकोह प्रसंग के समान यहाँ सूकर-प्रमुख की विकटता का प्रचंड वर्णन है क्योंकि तभी आखेट कर्त्ता का गौरव प्रस्फुट होगा।

थह छंडि भभकि उठ्यौ वराह। दग्यौ कि बान कैंवर कि राह।।
लग्यौ कि सोर सावाति थान। जग्यौ कि पंच आनन भयान।।
प्रति सब्द सब्द गज्जिग पहार। भभक्यौ कि स्यंह मनु खंभ फार।।
धधकारि धखनि धसलेटि थेटि। उर चेटि फेटि लिंने लपेटि।।
पारधि विधुंसि पयदाति फारि। लगि दंत मंत सम अंतडारि।।

ऐसे वराह के आखेट के पश्चात् अन्य अनेक पशु-पक्षियों के आखेट का उल्लेख है।

शिकार करता हुआ रतन मेवासों के सूंधा दुर्ग तक पहुँच जाता है। फलतः उसका मेवासों से युद्ध होता है। मेवासों की विकटता का भी वर्णन द्रष्टव्य है :—

आजान बाहु परिगह प्रमान। वर प्रथुल कंध केहरि समान॥
दुव हत्थ हत्थ छत्तिय दराज। कर करिय मंड भुव डंड साज॥
जंतह सु धनुर अंतह निदान। मंतह प्रपार पक्खर सरान॥
आकाल काल चुक्कहि न तीर। सुर सब्द वेध आदिष्टि धीर॥

मेवासों से युद्ध के प्रसंग में सामंतों का भी वर्णन किया गया है।

इसके पश्चात् शाहजहां द्वारा महेशदास के आह्वान का वर्णन है। वह रतन को जालंधर का प्रबंध सौंप कर दिल्ली जाता है। उत्तर के अमीरों के उपद्रव का दमन करने के लिए महेशदास की नियुक्ति की जाती है। परंतु इसी बीच उसकी मृत्यु हो जाती है। इस घटना के उल्लेख में कवि का उक्ति वैचित्र्य देखिए :—

लरन छ खँड सुविहान सम मधकर उच्छव सार।
देव सेन सेनाधि कूँ अभिखेजित करतार॥

इधर शाही सेना का सेनापतित्व मिला तो उधर भगवान ने उसकी योग्यता देख कर देव सेना का सेनापतित्व सौंप दिया। महेशदास के साथ उसकी रानियां सती हो जाती हैं। उधर बादशाह रतनसिंह का आह्वान करता है। जाने से पूर्व रतन अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करवाता है। फिर सिंहासनासीन होता है।

इस स्थल पर कवि एक बार फिर अपने दुष्कर कर्म को सरल बनाने का मार्ग ढूंढता है। रतन का युद्धभूमि में जो अंत हुआ उसका कारण स्वयं रतन द्वारा ही ऐसा वरदान मांगना बताया गया है। अद्भुत कल्पना है। इस कल्पना की स्थापना का अवसर भी कवि ने चुन कर ढूंढ़ा है :—

अनफेरि पिट्ठि सत्तसट्ठि रन मधकर घर सज्या मरन।

जो मधकर सड़सठ युद्धों में अजेय खड़ा रहा था उसे अपने घर में शय्या पर मरना पड़ा। इस घटना को वीरोचित न समझ कर रतन ने अपने प्रसंग में ऐसी परिस्थिति का निवारण करने का उपाय सोचा। उसने शिव को प्रसन्न करने के लिए घोर तपस्या की। फलस्वरूप शिव, गणेश और अंबा प्रकट हुए तथा आकाशवाणी हुई। उसे वर प्राप्त हो गया कि उसकी मृत्यु उज्जैन में युद्ध भूमि में होगी और वह शिवरूप को प्राप्त होगा। यों कवि ने युद्ध भूमि में हत अपने नायक की गौरव रक्षा का यह अद्भुत मार्ग निकाला। अर्थात् जब युद्ध भूमि में मारे जाने का वर स्वयं रतन ने ही घोर तपस्या कर के प्राप्त किया तो उससे उसके गौरव का ह्रास कैसे हो सकता है।

अस्तु, इसके पश्चात् कवि ने रतन के मुख से शिव का रूप वर्णन करवाया है। शिव प्रसन्न हो कर उसे वर देते हैं और उसका भविष्य कथन करते हैं। भविष्य कथन की यह शैली रासो साहित्य की एक विशेषता है।

इसके पश्चात् इधर रतन सिंहासनासीन होता है; उधर बादशाह उसके आह्वान का फर्मान भेज देता है। फर्मान को देख कर रतन अपने सभासदों के साथ मंत्रणा करता है और जाने को प्रस्तुत होता है।

यात्रा से पूर्व वह दुर्ग की रक्षा का भार अपने पुत्र रामसिंह को सौंपता है और इसी प्रसंग में कवि ने रतन के अन्य पुत्रों का भी नामोल्लेख किया है।

शाही दरबार में पहुंचने पर बादशाह रतन को सेनापति पद पर नियुक्त करता है। उसकी वीरता की प्रशंसा करता है। खुरासान आदि छः खंडों के प्रचंड दलों का दमन करने के लिए रतन जाता है।

युद्ध वर्णन का एक और अवसर कवि को प्राप्त हो जाता है और वह अपने कल्पना कौशल, वर्णन वैदग्ध्य, छंद छटा और शब्द शक्ति का पूरा परिचय देता है :—

गजे आतसं तोप बानं हवाई। प्रलै कालि उट्ठे मनू मेघ धाई।।
किलक्के गहक्के छके आसुरानं। नचे चौसठी वीर बावंन तानं।।
तुटे बंधनं मत्त छंछाल छुट्टे। पल कांज लंकाल भूखाल जुट्टे।।
अकालं सरं बुंद धारा अचालं। घटा प्रावटा आगमं मेघमालं।।

युद्ध में विजय प्राप्त होती है। बलख, कंधार आदि प्रदेशों को भी जीता जाता है। रतन के युद्ध कौशल की प्रशंसा दाराशिकोह करता है। फलतः रतनसिंह को रतलाम और बधनावर पुरस्कार स्वरूप प्राप्त होते हैं। यों रतनसिंह अपनी अभिलषित नगरी उज्जयिनी के निकट पहुंच जाता है।

रतलाम में उसका अपूर्व स्वागत होता है। यहां नगर वर्णन का दूसरा अवसर कवि को प्राप्त होता है। शैली वही है जो जालौर के वर्णन में अपनायी गयी है।

उस नगर में रतन बस जाता है पर उसे सतत अपना वरदान याद रहता है। यहां कवि अध्याय समाप्त कर देता है। यह अध्याय रतन के चरित्र से ही संबंधित है पर इसका उपयोग कवि ने अलंकार शास्त्रियों के बनाये हुए विधानों का निर्वाह करने के लिए अधिक किया है। आगे का अध्याय ऐतिहासिक सामग्री से अधिक भरपूर है अतः उसमें इन विधानों के निर्वाह की गुंजाइश कम थी यद्यपि उसमें भी कुछ अवसर निकाले ही हैं। हां, इस अध्याय के अधिकतर अंश विधानों के पालन से संबंधित हैं। कहरकोह युद्ध प्रसंग में रतन के शौर्य की स्थापना, फिर नखशिख वर्णन, उत्सव वर्णन, भविष्य कथन, स्वर्णगिरि वर्णन, प्रातः कृत्य वर्णन, पशुओं, पक्षियों, वृक्षों, फूलों, मेवों आदि के वर्णन, वराह-मृगया-विहार का वर्णन, मेवास युद्ध वर्णन, सतियों का वर्णन, तपस्या और आकाशवाणी का वर्णन, शिव स्वरूप वर्णन, मंत्रणा वर्णन, संतति-सामंत वर्णन, रतलाम वर्णन आदि सभी वर्णन कवि परंपराओं के निर्वाह के लिए ही किये हुए हैं। इनका ऐतिहासिक वृत्त में कम महत्त्व है फिर भी ये कहीं रस भंग के कारण नहीं बने हैं। आखिर रतन रासो काव्य ग्रंथ है और कवि रीतिभुक्त परंपरा का कवि है अतः इन रूढ़ियों का निर्वाह उसने ठीक ही किया है। इन वर्णनों में उसने कौशल तो दिखाया ही है।

नये अध्याय का नाम कवि ने उज्जैन समय रखा है। इसमें कवि ने अपनी रचना की तुलना पृथ्वीराज रासो से की है:—

चंद कथित प्रथिराज जस अमर सूर सामंत।
कुंभकरण कवि कुल रतन वर्णन मन हुलसंत।।

फिर गुरुचरणों के प्रताप और गणपति शक्ति के स्मरण के पश्चात् कवि ने दिल्ली के बादशाह शाहजहां के ऐश्वर्य का वर्णन किया है। ईरान-तूरान तक उसके प्रताप का विस्तार बताया है। फिर उसके चार पुत्रों का वर्णन है जिन्होंने अपने बल-प्रताप से देशों को जीता है। बादशाह की अगाध शक्ति का वर्णन करते हुए बताया गया है कि संसार के सभी अशक्य कार्यों को भी शाहजहां ने संपन्न कर लिया, बस–

न तु आसमान सीढी चढाव। न तु विमर भूमि पाताल दाव।।

पर गर्विष्ठ शाहजहां को कभी यह न सूझा कि भगवान को भी याद करता—

दहसति रब्बि न रक्खियाँ साहिजहाँ सुलितान।

इसी प्रसंग में सदा-सुहागिन दिल्ली का उल्लेख किया गया है:—

दुलहणि नित्ति नवल्ली दिव्या अद्‌भुत रूप रूपसा दिल्ली।
कइ सुर असुर अदल्ली जुग जुग गये काल जर जूरन।।

यहीं नश्वरता का भी प्रासंगिक उल्लेख द्रष्टव्य है:–

अपछरा किंनरा जख्या दिव्या देवेन्द्र दानवा।
सिद्धा विद्याधरा सर्वा सुर्गा काले विनस्यति।।

फिर परमात्मा की भू भार हरण की इच्छा का और अपशकुनों तथा दुष्ट ग्रहयोगों का उल्लेख है।

भूमि थरर थरहरति सिखर गिरिवर प्रकंप मय।
सिंधु ख्युभित खलभलित वलित झलझलित कलित भय।।
चंड चलित प्रजलित समीर विदगलित पत्र तर।
अकसमात उलकात पात चक्रित सुविग्गि नर।।

भयातुर हो कर व्यापारियों ने आवागमन बंद कर दिया। रास्ते रुक गये। विदेशी राजदूत कैद कर लिये गये। स्थिति को संभालने के लिए जसवंतसिंह और जयसिंह से मंत्रणा की गयी। बादशाह के स्वास्थ्य विषयक समाचारों पर रोक लगा दी गयी। वैद्यों की चिकित्सा बेकार हो रही थी। इस प्रसंग में कवि ने आयुर्वेद और स्वरोदय शास्त्र का कुछ परिचय दिया। परंतु अंत में स्थिति का विकट निर्देश करते हुए कहा–

क्रित व्रिथा वैद औखध गताय।

निराशा की स्थिति में चारों दिशाओं में स्थिति संभालने सेनाएं भेजी गयीं। बादशाह ने जसवंतसिंह और जयसिंह से पृथ्वी की रक्षा करने का निवेदन किया। दारा का हित सोच कर जयसिंह और जसवंतसिंह क्रमशः पूर्व और दक्षिण में भेजे गये। गुप्तचरों ने शाहजादों के विद्रोह की सूचना दी। कवि ने दारा की चिन्ता का कलात्मक चित्रण किया है—

द्वारासाह सवत्त सूँ आगम बुद्धि उपाय।
पाज पहल्ली बंधिया आव रहे ठहराय॥

इससे आगे शाहजादों की सेना का वर्णन है। फिर शाहजादों के विजयी होते हुए आगे बढ़ने का वर्णन है। एक गोलंदाज अपने स्वप्न का वर्णन करके भावी स्थिति का संकेत करता है। फिर औरंगजेब और मुराद की आगे बढ़ती हुई सेना का वर्णन है।

वर अष्ट विदिसि दिसि धोम सोर। आछन्न गगन अंधार घोर॥

+ + +

थरहरत द्रुंग पत्तन अनेक। खरहरत भुरिज प्रासाद तेक॥
दिसि विदिसि भिन्न आच्छन्न भान। सुन तुमल सव्द सुनिये न कान॥

+ + +

खलभलिय स्यंधु जल सप्त तत्र। हलचलिय उर्मि चल दलकि पत्र॥
कलमलिय चित्त कातर अधीर। किलकिलिय सक्ति चवसट्ठ वीर॥
डहडहिग डिवरु करु गवरु कंत। प्रहप्रहिय वदन मन सूर संत॥

ऐसी विकट सेनाओं की सूचना गुप्तचरों ने दी तो दाराशिकोह प्रज्वलित हो उठा—

सिंच्यो जानि सम्रिद्ध हुतासन तूप सें।

और उसको कुपित देख कर—

धरक्के धरा धोम गोमं गरज्जे। प्रलै मेघ मारुत्त आवर्त्त वज्जे॥

इसके पश्चात् हाथियों का विकट वर्णन है:—

गढं तोर साजोर फौजं विरोलं। हरोलं दलं मंथ चंदोल गोलं॥

+ + +

तनं तेल संदूर जंगाळ चित्रे। मनू इंद्र चापं घटा मेघ धित्रे।

हाथियों के विस्तृत वर्णन के पश्चात् घोड़ों और पैदलों का उल्लेख है। हाथियों और घोड़ों के वर्णन की अनुपात हीनता खटकने वाली है।

उसके बाद का वातावरण चित्रण उत्कृष्ट है जिसमें गिद्धों, चीलों, अप्सराओं, योगिनियों, गंधर्वों, किन्नरों, यक्षों, सिद्धों आदि के आ पहुंचने का वर्णन है। इस सारी स्थिति का वर्णन गुप्तचर करते हैं।

इस बीच औरंगजेब ने शुजा को अपनी ओर मिलाने के लिए एक पत्र भेजा जिसे गुप्तचरों ने ला कर दारा को दिखा दिया। इस पत्र के समाचारों से औरंगजेब की नीति कुशलता व्यक्त होती है। स्वयं कवि ने भी उसकी प्रशंसा की है। यों तीन शाहजादों के मिल जाने की सूचना मिली तो दारा ने आत्मरक्षार्थ होम-बलिदान आरम्भ कराये।

यहां एक बार फिर डंडीमाली छंद में भविष्य वर्णन है जिसका उद्देश्य पराजित रतन और पलायित जसवन्त की मर्यादा की रक्षा करना है। जो होना ही है उस पर किसी का क्या वस है। भविष्य वर्णन का सार इस प्रकार है—

विकट युद्ध में जब प्रालेय ज्वालाएं भभकेंगी तो शाही सेना भाग छूटेगी। झाफर खां तथा हबश, बलख, बगदाद, बंगस, किजलवास, तूरान आदि के वीर अमीर भाग जाएंगे। छः खंडों के मुसलमान पेड़ के पत्तों की तरह उड़ जाएंगे—

छह खंड धर खुरसानयं। उडि चलिग तरवर पानयं।।

और तो और, जसवन्तसिंह भी दिल्ली का राज छत्र ले कर चले जाएंगे। कवि ने भगोड़े जसवन्तसिंह की भी मर्यादा की रक्षा का यत्न किया है। इसीलिए कहा—

पधराय न्रिप जसराजयं। धरि छत्र दिल्लिय राजयं।।
मँडि रतनस्यंघ सुजंगयं। मधकरह नंद अभंगयं।।

अर्थात् दिल्ली का राज छत्र धारण करने के लिए रतनसिंह जसवंतसिंह को वहां से भिजवा देगा। रतन के सहयोगियों का भी वर्णन है। और अन्त में

तत दइव गति विपरीतयं। नर नाग देव वदीतयं।।
हटि चलिग द्वारा जूहयं। अवरंग जंग फतूहयं।।

यों नायक की मर्यादा की रक्षा करने के लिए कवि ने भविष्य वर्णन करवाया है और सारा दोष विपरीत दैवगति पर थोप दिया है। भविष्य वर्णन सुन कर दारा के हृदय में आग लग जाती है पर वह हिम्मत नहीं हारता; कर्तव्य पालन को तैयार है—

जदपि जथा सास्त्र प्रणित व्रिथा न बचन उपाय।
तउ उद्दिम करतब्बिता जो कुछ करहि खुदाय।।

जो होगा सो देखा जाएगा। लड़ना तो है ही क्योंकि **साहस जत्र तत्र संसिद्धि।**

दाराशिकोह ने खूब ठाटबाट से छत्र धारण कर लिया और युद्ध के लिए सेनाएं भेज दीं। जसवंतसिंह रतन आदि सामंतों के साथ अभियान पर चल पड़ा और वीरों ने—

असमान लग्गि करि करि सलाम। दर कूच कूच दिन्ने तमाम।।
फलतः—आभूह जूह चतुरंग सैन। उडि गरद धुंध आच्छन्न गैन।।

यह सेना आ कर उज्जैन के मुक्ति धाम में रुक गयी।

यहां आ कर कवि अपने कथा प्रवाह को एक नया मोड़ दे देता है। रीति कार के कुछ आदेशों का पालन बाकी रह गया था अतः उनके लिए प्रसंग निकालता है।

विकट वर्णन से घुटते हुए पाठक के मन को कुछ हलका करने के लिए कवि जसवंत सिंह की आज्ञा से रतनसिंह को एक बार रतलाम ले जाता है ताकि वह अपनी अन्तिम यात्रा से पूर्व सम्बन्धियों से मिल आए और अपना सिंहासन अपने पुत्र को सम्भला दे। रतन के रतलाम आने पर आनंदोत्सव होता है—

भाँति भाँति उच्छव नयर आये रतन नरिन्द्र।
धुनि ग्रिह ग्रिह मंगल धवल पूरन प्रेम अतिन्द्र॥
धुज पताख तोरन कलस ग्रिह ग्रिह वन्दनवारि।
करि शृंगार पुर जोखिता मुक्ता कुन्दन थारि॥

रतन रतलाम आया तो उसके दरबारियों ने भी कृतकृत्य हो कर उसके दर्शन किये और उसके पुत्रों ने भी। जनता उतनी ही हर्षित हुई जितनी जनक के यहां स्वयंवर जीत कर आये राम को देख कर हुई थी—

जनक सुयंबर जयति जय रघुवर अवधि पधारि॥

रतन ने पूरा दरबार किया और उसके सब सामंत उपस्थित हुए। एक-एक सामंत का आलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है।

दरबार को विसर्जित करके रतन महल में जाते हैं और वहाँ तखत पर बैठते हैं तो पतिव्रता रानियां घेर लेती हैं। इस परिस्थिति के वर्णन को ले कर कवि ने नव रसों का नाम परिगणन कर दिया है :—

समय सोभ शृंगार वीर उद्धित उछाह मन।
करुणा आगम भविख साहिजेहान जब्द सन॥
मंडल भेदित तरुण हासि आनंद जोति मग।
रवद्र व्यूह अवरंग मुरादि मुंडह भसुंड खग॥
विभिछ विलोकि जामण मरण गति भयान अदभुत रतन॥
वपु अरुचि सांति चित्तह रतन जतन जुक्ति दसधा करन॥

नव रस वर्णन की यह शैली सौती कवियों में बहुत लोक प्रिय रही है। उसी का अनुसरण कुंभकर्ण ने किया है। काव्य भावक जानते हैं कि यों रस निष्पत्ति नहीं हुआ करती; रसों का नामोल्लेख तो दोष है। पर कुंभकर्ण इस प्रसंग में कोई अपवाद नहीं है। परंपरा का रक्षक मात्र है।

राजा ने परिवारी जनों के सम्मुख अपनी इच्छा व्यक्त कर दी कि वह ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह को अभिषिक्त करना चाहता है।

यों विविध वार्तालाप में रतन ने महल में रात्रि समाप्त कर दी और प्रभात हो गया। यहीं कवि ने प्रभात वर्णन का अवसर निकाल लिया और शृंगार रस की अवतारणा

का भी यत्न किया—मनोहर शब्दावली तथा छंद विधान के बल पर। छंद त्रोटक है जिसके वे ही लक्षण हैं जो हिन्दी के सवैये के हैं :—

चलि नागरि नाह समीपन ते। विधि प्रेरित काज अमीपन ते।।
वजि नूपुर जेहरि जंभरयं। गय गामनि हंस पराज भयं।।
चतुरंग चमू मकरद्धुज की। विजया दिग जीत जयं सुजकी।।

इसके पश्चात् रतन के प्रातः कृत्य और रामसिंह के अभिषेक का वर्णन है। इस प्रसंग में प्राचीन ऋषियों के नामों का उल्लेख है। उन सभी के प्रोक्त मंत्रों से अभिषेक हुआ। इससे आगे अपवर्ग प्राप्ति के दो मार्गों का उल्लेख है :—(१) पारिव्राड् योग-युक्तश्च (२) रणे चाभिमुखो हतः। इन्हीं मार्गों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। राजा द्वारा पुत्रों को दिये जा रहे उपदेश के प्रसंग में राम वनवास की कथा, परशुराम की रेणुका हनन कथा आदि दे कर पितृ भक्ति का गौरव बताया गया है। ये प्रकरियां कथा प्रवाह को तोड़ती हैं। वहीं सामंतों के बल की प्रशंसा करके रतन ने उन्हें रामसिंह के पास रहने की राय दी है पर वे युयुत्सु वीर कैसे तैयार होते। उन्होंने रणभूमि में जाने का ही संकल्प बताया। अस्तु,

रामसिंह का राज्याभिषेक हुआ और इसी प्रसंग में राम के जनक यज्ञ से लौटने और दशरथ के उसे राज्याभिषेक देने के विचार का उल्लेख कर के कवि ने तुलना करके बताया है कि दशरथ ने वानप्रस्थ की इच्छा से यह विचार किया था पर रतन ने युयुत्सा और रण भूमि में मुमूर्षा से ऐसा विचार किया। इसके पश्चात् रामसिंह के स्वरूप का वर्णन है और अभिषेक संबंधी कृत्यों का। नगर में उत्सव होता है और अभिषेक के बाद रतन युद्धार्थ जाने की तैयारी करता है तो उसके सेवक जन भी जीवन को निरर्थक मान कर साथ जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। रतन रानियों से वैकुंठ में मिलन की बात कह कर युद्धार्थ चला।

जब रतन युद्धार्थ चला तो उसका छोटा पुत्र रायसिंह युद्ध की इच्छा से साथ जाने को तैयार हो गया। उसके आग्रह को देख कर राजा ने उसे समझाया। "तुम्हें अपने बड़े भाई के पास रहना चाहिए; पर खैर, तुम्हें युद्ध भूमि देखने की इच्छा है तो साथ चल कर देख आओ।" यों समझा कर रतन जसवंतसिंह के पास पहुंच गया।

इसी समय चरों ने शाहजादों की नौ लाख सेना के आ पहुंचने का समाचार दिया। सैन्य वर्णन का एक और प्रसंग कवि को प्राप्त हुआ। उसे पता है कि वह शत्रु सेना की विकटता का जितना अधिक वर्णन करेगा उतनी ही उसे सफलता मिलेगी। उसका नायक जिस सेना से परास्त हुआ वह निस्संदेह बहुत विकट होनी चाहिए। इसीलिए उसने अनेक बार उसका वर्णन किया। यहाँ फिर हाथियों के वर्णन में ही उसका मन अधिक रमा है। कुंभकर्ण घोड़ों का वर्णन कम करता है, हाथियों का अधिक यथा—

प्रपूर दंति पंतियं । घटा कि मेघ मंतियं ।।
झरंति दान झल्लर । भ्रमंति भ्रूह कल्लरै ।।
प्रवाह मद्दवान के । कि कद्दवा धरान के ।।
गिरंद वृंद गह्वरे । झमंकि तंकि निर्झरे ।।

इसके पश्चात् रथ, पदाति, ऊंट, बैल, घोड़े, तोप, गोले-गोलियों आदि का वर्णन है ।

युद्ध दर्शन के प्रेमी देवगण आ उपस्थित होते हैं :—

सुतुंबनी महत्तथं । नालिब्र नाम तंतयं ।।
धरै सु दिव्य नारदं । सगंध्रपं विसारदं ।।
अनेक जक्खि किन्नरं । सुसिद्ध चारनं वरं ।।
चवग्र सट्ठि जुग्गनी । हुलास ग्रास भुग्गनी ।।
दुवीर गोर स्यामयं । पचास झुंड तामयं ।।
अनेक वृन्द अच्छरी । सहूर फिरसते परी ।।

शिव के गण पहुंचते हैं और उनका भी लंबा वर्णन है । अस्तु, विकट सेना का मर्दन करने रतनसिंह वैसे ही चला जैसे मानो अगस्त्य समुद्र सोखने चला हो ।

दो विकट सेनाएं आमने-सामने उपस्थित देख कर जसवंतसिंह ने रतनसिंह को तैयार होने के लिए कहा । रतन ने अपने वीरों को बुलाया । उनमें अमरा और भगवान चौहान थे तथा रतन का भाई फतेहसिंह भी था । सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था रतनसिंह का अल्पवय कुमार रायसिंह । वीर रस की सम्यक् अवतारणा करने के लिए कवि ने यहाँ इस वीर बालक के विकट रूप का वर्णन किया है । अनेक उपमानों का प्रयोग भी किया है ।

जस अर्थ सुकवि मन वरण छंद । जस सरल सील मद्धहि गुव्यंद ।।
जस सत्त मद्धि साहस सुध्रम्म । वैराग ग्यान जस मिलति ब्रह्म ।।
हर मुकट मद्धि जस गंग धार । जस गंग मद्धि संकर प्रकार ।।
जस स्यंभ मद्धि त्रय भवन मंड । जस मंड मद्धि ज्योतिहि अखंड ।।

अपने पुत्र के ऐसे स्वरूप को देख कर रतन का मन तो हर्ष से अपने आप में समा नहीं रहा था पर सभासदों ने कहा कि रायसिंह अभी बच्चा है, उसे घर भेज देना चाहिए । रतन ने उसी को पूछने के लिए कहा तो कवि जसराज ने कहा कुमार को चाहिए कि क्षिप्रा में स्नान करके पुण्य लाभ करें और लौट जाएं । अमरा-भगवान आदि ने भी कहा बारह वर्ष से कम आयु के बच्चों को धर्माधर्म का दोष नहीं लगता अतः उसे लौट ही जाना चाहिए —**न तु धर्म दोख द्वादस प्रजंत** । इस पर कुमार ने हँस कर कहा—'सिंही का

पुत्र उत्पन्न होते ही हाथी के मस्तक पर प्रहार करता है । उसका आधा अंग जब गर्भ से निकल पृथ्वी पर आता है तो आधा गज कुंभ पर जा पहुँचता है :—

हसि कहि कुमार तत वचन फेर । स्यंघनि प्रसूति प्रसुवत सुवेर ।।
थिति अर्ध भाग मंत्रहि प्रसत्थ । उडि अर्ध अंग लगि कुंभि मत्थ ।।

अनेक तर्क देते हुए कुमार ने कहा—"क्षत्रिय कुमार जब पगड़ी बांध कर और तलवार हाथ में ले कर रणभूमि में आ गया तो वापस कैसे जा सकता है ? युद्ध विमुख कैसे हो सकता है ?" उसने यहाँ तक कह डाला कि मेरी प्रतिज्ञा भंग कराने का यत्न करेंगे तो आपको रतनसिंह की सौगंध है ।

फिरि कहहि तात नतु धरहुं प्रान । व्रत भंग तत्र नृप रतन आन ।।
परतंग भंग क्रित राजहंस । तत व्रिथा जन्म छत्रियन अंस ।।

कुमार का यह स्वरूप देख कवि जसराज ने उसका काव्य मय वर्णन किया और इस प्रसंग में अर्जुन पुत्र अभिमन्यु से उसकी तुलना करते हुए व्यूह भेदन की कथा का वर्णन किया । यह प्रकरी लंबी हो गयी है पर प्रसंग में ठीक बैठती है । इसी प्रसंग में भीम, कर्ण आदि से संबंधित अन्य प्रसंगों का भी संकेत कर कवि ने अपना पुराण ज्ञान परिचय दिया है ।

इसी समय रतन के पास सूचना आयी कि सेना युद्धार्थ तैयार है । वह स्नानादि कर के युद्ध के लिये चल पड़ा । उसकी वेष सज्जा का अपूर्व वर्णन है । राजा ने अनेक पौराणिक युद्धों के आख्यान सुने । कवियों ने उत्तेजक कवित्त सुनाये । युद्धार्थ सेनाएं प्रस्तुत देख कर जसवंतसिंह और रतनसिंह ने अपनी सेना को व्यूह बद्ध किया । यहाँ कवि ने औरंगजेब की सेना की विकटता का और व्यूह का फिर वर्णन किया है—

मनु सप्त स्यंध लुप्पिग लहरि प्रलय मेघ घन घुम्मरिग ।

इस समय औरंगजेब का चातुर्य भरा पत्र जसवंतसिंह को मिला जिसमें उसने जसवंत की प्रचंड वीरता का उल्लेख करके लिखा कि "आप अपनी वीर सेना को व्यर्थ नष्ट न करें" :

सा त्वं सर्व समूह सेन कदनं राजन् वृथा मा कृथा ।

पत्र के लिए कवि ने संस्कृत का शार्दूल विक्रीडित छंद प्रयुक्त किया है । महावत खां के पत्र में भी यही छंद था ।

पत्र का जसवंत ने उत्तर भेज दिया—"यहाँ से आगे न बढ़ो अन्यथा तुम्हारे सिर काट लिये जाएंगे । बादशाह की यह आज्ञा है । यदि न मानोगे तो मैं युद्ध के लिए बाध्य हूँ"—

हजरति हुकम न मन्नि हौ तो लड़नै इकतार।

पढ़ कर औरंगजेब आग बबूला हो गया—

जाणि भभूका अग्गि दा दव्या बाण सिताब।

उसने कहलवाया—"यदि बादशाह की इज्जत रखना चाहते हो तो मार्ग से हट जाओ।"

अस्तु, आगे न बढ़ने की बात दोनों ही पक्षों के समझ में नहीं आयी और

जग्गी अग्गि पराल झाल भरलक्क पवन्नाँ।
घन द्वादस अनचिंति मंत्र नावहिं मघवन्नाँ।।

जसवंतसिंह ने अपनी शाही सेना को व्यूह बद्ध किया—

इक्क अनिय रायस्यंघ भीम नंदन चित्रंगिय।
दुतिय प्यार इकतार खान खल्लील अभंगिय।।
खुरासान सुविहान लज्ज चहुवान मुकंदे।
चव बंधव आनंद नंद मधकर हुलसंदे।।
झाला दुवाह दल साह चँद चक्रव्यूह सानद्ध करि।
जसवंतस्यंघ नृप इक्क सरि रतनस्यंघ मुख अग्र सरि।।

अस्तु, युद्ध का विकट वातावरण बन गया—

तोप बान आतस उड़े तुपक जंबूर प्रजंत।
बान कवान कि जंत्र कल भइ उतंग मयमंत।।
वजिव हक्क डिंवरुव डहक्क गिर हक्क किलक वर।
चंद्रभाल चख प्रलय ज्वाल विकराल काल भव।।
सम बावन चवसट्ठि जक्खि किंनर सुर तुंबर।
गोम धोम रज व्योम धुंध आरुद्ध ध्यान हर।।
ब्रह्मंड मंड तंडव त्रिखय त्रिदस थंड खट खँड लरिग।
हरि हर विरंचि कलपंत वत तत समाधि तद्दिन टरिग।।

इसके बाद तो बहुत विस्तृत युद्ध वर्णन है। इसकी कला में तो कवि कुशल ही नहीं पारंगत है और ऐसे अवसर की तो खोज में ही रहता है।

युद्ध होते-होते स्थिति शाही सेना के विपरीत और शाहजादों के अनुकूल हो जाती है :—

तवै दच्छिनी इंद्रप्रस्थं दवाई। हटे तोपखाने जँबूरे हवाई।।
भगे फील गोला लगे कुंभथानं। क्रितं वाहनी व्यूह ज्यूँ रंध्रमानं।।

भगे सासता खान खाने खवानी। खलोलं तजी लज्ज सानी किरानी ।।
नृपं रायस्यंघं हट्यौ भीमनंदं । पती लज्ज चित्रंग द्रुगं सुछंदं ।।
भगे दच्छिनी खेल मालू दुसत्थं । बलक्खी भगे साहिजादे सतत्थं ।।
हरेबी फिरी बाग ऐराक वाले । महावात डंडूरु ज्यूँ तूर पाले ।।

शाही सेना में भगदड़ मच गयी। बड़े-बड़े नवाबजादे और खानजादे प्राण ले कर भाग खड़े हुए। चित्तौड़ के भीम का पुत्र रायसिंह भी भाग खड़ा हुआ। तब भी राठौड़ डटे रहे। रतन ने तीन बार सीधे मुरादबख्श पर हमला किया। उसके साथी भी डटे रहे।

समं च्यारि भ्रातं प्रपातं सँग्रामं । सुतं माधुवंदा मुकंदा सुनामं ।।
दलीचंद झाला ततं पच्छ दौरे । इकं सव्विसाचीव सा नाम गोरे ।।

खैर, युद्ध में मोहनसिंह हाड़ा, दयालदास झाला, अर्जुन गौड़ आदि वीर मारे गये और—

गिरे सट्ठ हज्जार हिंदू सँग्रामं । त्रयं लच्छि मीरं परे जज्झि तामं ।।

पर फिर भी रतन को सोत्साह रखने के लिए कवियों ने अपना यत्न चालू रखा—

दुती जुक्त ज्यूँ पित्थ सोमेस नंदं । रसं चित्त आकर्षणं चंद छंदं ।।

इसी प्रसंग में कवि जसराज ने अंबा का ध्यान किया और उसकी प्रार्थना की। युद्ध वर्णन से थका हुआ कवि मानो यहां विश्राम ले रहा है। परंतु नहीं, वह तो युद्ध को और अधिक विकट बनाने के लिए ही चंडी का आवाहन कर रहा है—

चढै स्यंघ रानी। सनद्धा भवानी ।। भुजा दिव्वि वीसं । सु उग्रायुधीसं ।।

इस शक्ति की किलकार के सम्मुख ही कवि रतन को जोश दिलाने के लिए उसके पूर्वजों का इतिवृत्त बताने लगता है।

किलकंति सक्ति भभकंति सिंघ। कवि पढति विरद कुल राज रिंघ ।।

जोश में आकर रतन अपना घोड़ा शत्रु सेना के बीच डाल देता है—**झिल गरक बाज मधि प्रबल सेन।**

जसवंतसिंह का भी विरुद गायन कवि ने किया तो उसने भी युद्ध में अपना घोड़ा डाल दिया और सीधे औरंगजेब और मुराद के सम्मुख जा पहुँचा।

जसराज बाज नंखिव इताब। अवरँग मुरादि पोँहचे सिताब ।।

यहां युद्ध की विकटता का और अधिक वर्णन है। युद्ध में से पलायन करने वाले यशवंत के यश की रक्षा भी तो कवि को करनी है। अतः शाहजहां के भाग्य को दोष दे कर वह सामन्तों से यह सम्मति दिलवाता है कि जसवंतसिंह जा कर दिल्ली के छत्र की रक्षा करें, वहां वे ही लड़ेंगे—

तप फिर्‌यौ साहिजेहान छोह। दिन फिर्‌यौ मिच्छ द्वारासकोह।।
सव फिरी फौज इँदप्रस्थ लाज। मन फिरत नाँहि महाराज राज।।
+ + + +
ज्ञित स्याम धरम नृप फहम चेत। कटि परै कमध सठि सहस छेत।।

इसलिए सामंतों ने जसवंतसिंह से लौट जाने की प्रार्थना की—

गहि आसकंन मधकर सुवग्ग। अरिदासि करिग महाराज अग्ग।।
कहि रतन स्यंघ जसराज राज। अवरंग बलिय अजमति दराज।।
कुदरति तखत्त दिय मिहरवान। तत हुकम उजर बेउजर मान।।

यों सामंतों के प्रार्थना करने पर भी जसवंत पीछे हटने को तैयार नहीं होता तो आकाशवाणी होती है—

हठ न करहि महाराज अब मम दिय अवरँग पाट।
गिरा मेघ गंभीर वत नभवायक वैराट।।
छत्र धरहि सुविहान को रतनस्यंघ सिर अत्र।
छत्र धरन हिंदुवान को नृपति पधारहु तत्र।।

अस्तु, ईश्वरेच्छा सुन कर जसवंतसिंह वहां से जाने को तैयार होता है और अपना सेनापति पद रतनसिंह को सौंप देता है।

रतनसिंह युद्धयात्रा रूपी वरयात्रा का दूल्हा बनता है—

जान कमँध दुल्लह रतन सेन्या दुव सुलितान।
रन तोरन दुलहनि वरन झलहल बद्दल भान।।

एक वार कवि फिर युद्ध वर्णन में रम गया है; मोतीदाम छंद में वर्णन करने लगा है। इस युद्ध वर्णन की एक एक-एक पंक्ति नहीं एक-एक वर्ण का दाम पता नहीं कितने मोती हैं। युद्ध के फलस्वरूप—

थकित भये सुर सत्थ सब वर विवान वर वाल।
भइय त्रिपति दुर्गा महद बनि त्रिनेत रुँडमाल।।
× × ×
टूक टूक आयुध भयव वाज राज सत खंड।
जयति खंभ ठाडौ रतन परिघ वाहु परचंड।।

इसके बाद कवि ने दोहा, त्रोटक और पद्धरी छंदों में नाना प्रकार से रतन के युद्ध का वर्णन किया है। उसका एक-एक चरण पठनीय है। अन्त में तीन पहर के युद्ध के बाद--

इहि भाँति भयानक भेस करे। त्रय जाम सँग्राम प्रनाम लरे।।
मिलि जोति रतंन भये अमरं। महाकाल उजेन महा सिपरं।।

उसकी वीरता का वर्णन सुन कर शाहजादों ने भी उसकी वंदना की---

रतनेसुर वंदि सुभान तये। सु पराक्रम पिक्खि हैरान भये।।

इसके बाद युद्ध के हताहतों का परिचय शाहजादों ने प्राप्त किया। यह वर्णन गद्यबद्ध है। यहां कवि फिर कथा को मोड़ देता है और रतन के स्वर्ग में हुए सम्मान का वर्णन करता है; उसके शिवस्वरूप प्राप्त करने का उल्लेख करता है।

समाचार रतलाम पहुंचता है। रामसिंह सिंहासनासीन होता है। सब लोग रतन के वीर कृत्य की गाथा सुनने को उत्सुक होते हैं।

इसके बाद कवि सती धर्म के गौरव का वर्णन करता है और रतन की रानियों के सती होने का उल्लेख करता है। दोनों रानियां सती हो कर पार्वती और गंगा बनती हैं और शिवरूप रतन से जा मिलती हैं---

गंग गवरि अर्धांग हर जटा जूट मनि तेव।
रुद्र भयव दुल्लहु रतन सक्ति सक्ति भइतेव।।

इसके पश्चात् कवि अपने काव्य का उपसंहार करते हुए काव्य प्रयोजन बताता है और उसमें प्रयुक्त विविध शास्त्रीय ज्ञान का उल्लेख करता है। रतन रासो का पाठ शिवसिंह की सभा में होता है---

जस सभा मद्धि पन ख्यात्रि रिंघ। रासो प्रसिद्ध गुन रतनसिंघ।।

फिर रासो का माहात्म्य वर्णन है। अंत में रासो का सार रामनाम बताया गया है और राम नाम की महिमा का गायन है। रासो कथा की शिवसिंह सभा में समाप्ति और ग्रंथ पूजादि के साथ काव्य समाप्त कर दिया गया है।

इस वस्तु विवेचन को समाप्त करने से पूर्व हमें एक वार कवि की सफलता का लेखा-जोखा कर लेना चाहिए। रासो एक प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध काव्य में कथा प्रवाह की एक अविच्छिन्न धारा आवश्यक है। महाकाव्य के लक्षण कारों ने उसमें अनेक वर्णनों का भी विधान किया है। सफल कवि वही होता है जो वर्णनों के लिए प्रसंग निकालना जानता है और मूल कथा के प्रवाह को विच्छिन्न नहीं होने देता; रस भंग नहीं होने देता। महाकवि माघ का कहना बहुत ठीक है कि **अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः**। कवि

लोग प्रायः वर्णनों में ऐसे रम जाते हैं कि अर्थ सम्बन्ध ही उज्झित हो जाता है। वर्णनों में अनुपात अपेक्षित है। कथा प्रवाह की निरंतरता आवश्यक है।

हम रतन रासो कार में भी अन्य सौती कवियों के समान वर्णन मोह देखते हैं। पर सामान्यतः उसे अनुपात का ज्ञान है। वह वीर रस प्रेमी है अतः युद्ध का वर्णन करने में उसका मन बहुत रमता है पर कहीं पाठक को ऊब जाने की या प्रवाह भंग की शिकायत नहीं होती। अनुपात हीनता यत्र-तत्र खटकती है। विशेष कर कहरकोह वृत्तान्त से पहले के विष्कम्भक जैसे वर्णन में। वहां कवि को मानो कहरकोह वर्णन की उतावली है। परंतु फिर भी अनेक पीढ़ियों के इतिवृत्त और अनेक युद्धों के वर्णन से समन्वित इस काव्य में कथा प्रवाह सतत ही रहा है; कवि-सामर्थ्य का ही द्योतक है। प्रवाह यदि टूटता है तो भाषा की जटिलता से। प्रत्येक पाठक अरबी-फारसी का ज्ञाता नहीं हो सकता। जहां उनके शब्दों की भरमार आती है वहां पाठक को कुछ कष्ट होता है पर कथा प्रवाह में उसे अभाव नहीं माना जा सकता। कुछ वर्णन बारंबार कराये गये हैं। उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि कवि का मन वर्णनों में रमता बहुत है। दूसरे यह कि एक प्रसंग को लम्बा बढ़ता हुआ देख कर कवि विषयान्तर लाता है और विषयान्तर के बाद फिर अपना पुराना वर्णन करने लगता है।

वर्णन प्रधान सौती कवियों के वातावरण में पले कुंभकर्ण का वस्तु-विन्यास तात्कालिक आदर्शों को देखते हुए उत्कृष्ट ही कहा जायगा।

## (३) नायक निर्णय और चरित्र चित्रण

पहले बताया जा चुका है कि रतन रासो एक वंशानुकीर्तन काव्य है। उसमें अनेक पीढ़ियों का वर्णन है अतः किसी एक व्यक्ति को इस महाकाव्य का नायक नहीं कहा जा सकता। जहां जिस राज पुरुष या कवि आदि का मुख्य रूप से वर्णन हो रहा है वही उस प्रसंग विशेष में नायक माना जा सकता है। यों यथा प्रसंग अनेक नायक माने जा सकते हैं। महाकवि कालिदास के महाकाव्य रघुवंश की भी ऐसी ही स्थिति है। पर फिर भी रतन रासो एक दृष्टि से रघुवंश से भिन्न कोटि का है। रघुवंश के आदि के राजाओं का प्रताप-ऐश्वर्य प्रबल है और राम तक उनका विकास होता है। वहां जा कर संभवतः चरम सीमा हो जाती है और अवतरण आरम्भ हो जाता है। परवर्ती राजा क्रमशः क्षीण-बल होते जाते हैं और अन्तिम राजा अग्निवर्ण तो उन राजाओं के मध्य कलंक-सा प्रतीत होता है जिनके विषय में आरम्भ में **'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्'** आदि कहा गया है और जिनके वर्णन को आरम्भ करना कवि साहसकर्म मानता है—**तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्**। और संकोचवश अपने को आकाश छूने का इच्छुक 'उद्बाहुवामन' बताता है। पाठक अग्निवर्ण का वर्णन पढ़ कर यही सोचेगा—"हाय रघुवंश तेरी यह दशा!"

उधर रतन रासो की परिणति रतनसिंह के शिव सारूप्य में जा कर होती है। रतन वंश उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त होता रहता है। दूसरी बात यह कि यदि महाकाव्य में नायकों के मध्य एक महानायक की कल्पना की जा सके तो वह स्थान निस्संदेह रतनसिंह को ही देना पड़ेगा। नायक फल का भोक्ता होता है। रतन रासो के सभी नायक यथा प्रसंग फल के भोक्ता भी रहे हैं पर रासोकार कवि के अभिलषित फल का भोक्ता रतन ही है। कवि ने आरम्भ में ही **'हिन्दू गौहर अजूब'** कह कर रतन के गौरव का वर्णन कर दिया है। बाद में **'अधिकौ रतन महेस ते अधिक कहूँ कहँ और।'** तथा **'रतन क्रित्ति कहतब्बिता अथिर जानि संसार'** कह कर भी अपना मुख्य उद्देश्य रतन का कीर्ति गायन ही बताया है। अन्त भी रतन की सारूप्य प्राप्ति पर कर दिया है। ग्रन्थ का अधिकांश भाग भी रतन सिंह के वर्णन से ही सम्बन्धित है अतः शुद्ध शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से तो रतनसिंह को ही इस काव्य का नायक कहा जा सकता है।

परन्तु हमारी धारणा है कि नायक के लक्षणों को इस सीमा तक संकुचित रखना उचित नहीं। इसमें संदेह नहीं कि रतनसिंह के पूर्वज होने के नाते ही उसके पूर्वजों का वर्णन हुआ है। अतः उनका वर्णन प्रासंगिक कहा जा सकता है। परन्तु कुंभकर्ण की यह विशेषता है कि वह जिस पात्र के प्रति उदार होता है उसका वर्णन करते समय वह इतना रम जाता है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके काव्य का प्रयोजन उसी पात्र का वर्णन है। वह उसके चित्रण में कोई कमी नहीं रखता। नायक की कोटि में पहुंचा कर ही छोड़ता है। अतएव हम ऐसे अनेक नायकों के मध्य रतनसिंह को महानायक कहें तभी उचित होगा।

पात्रों के चरित्र चित्रण में कवि उदारता का परिचय देता है और वचन दारिद्र्य तो मानों उसके पास है ही नहीं। कवि ने रतन वंश वर्णन से पूर्व स्ववंश वर्णन किया है। अपने पूर्वजों में वह सर्व प्रथम चंगा का नामोल्लेख करता है पर वर्णन उसके पुत्र गोविन्द का ही करता है जो राव गांगा के सम्मुख युद्ध करते हुए मारा जाता है—**टूक टूक मुँह अग्ग**। पर गोविन्द का इतना ही वर्णन करके कवि छोड़ देता है और उसके पुत्र उदय करण का वर्णन करता है। उदयकरण के मान-सम्मान, बत्तीस विरुद और राव गांगा के वीर सामन्तों द्वारा भी उसके प्रशंसित होने का उल्लेख किया गया है। पर इस विस्तृत विरुद वर्णन में भी वह बात नहीं आ पायी जो निम्नलिखित एक ही दोहे में आ गयी है—

मुरधर छलि महाराव छलि गौ विप्रह छलि लाज।
उदयकरण जुग जुग अमर मृत अवसर पर काज॥

उसके बाद के दो कवित्त निस्संदेह गौरव निरूपक हैं।

उदयकरण का पुत्र मल्ल कवि है। उसके भी सम्मानित और पुरस्कृत होने का उल्लेख है पर वर्णन उबा देने वाला है। हां, जहां अन्य राजाओं द्वारा अन्य कवियों के पुरस्कृत होने का उदाहरण रूप उल्लेख हुआ है वह काफी सुन्दर है। मल्ल के अकबर बादशाह तथा अन्यान्य राजाओं से सम्मानित होने का वर्णन है। मल्ल का यह विस्तृत वर्णन भी उसके

प्रति हमारे मन में वह भावना उत्पन्न नहीं कर पाता जो **'ट्रूक ट्रूक मुँह अग्ग'** कहने मात्र से गोविंद के प्रति होती है। मल्ल के पश्चात् ईसरदास की दानवीरता का वर्णन है और फिर स्वयं कुंभकर्ण का उल्लेख है।

कवि वंश वर्णन के बाद महानायक के वंश का वर्णन जयचन्द से आरम्भ किया गया है। पता नहीं किस कारण चारण कवियों में यह प्रसिद्धि रही है कि जयचन्द के वंशज कन्नौज-पतन के बाद जोधपुर के पास मंडोर नामक स्थान पर जा बसे थे। उनमें यह भी अनुश्रुति रही है कि जयचन्द ने आठ शाहों को एक दिन में बंदी बना कर छोड़ दिया था। इस प्रसंग में कुंभकर्ण की तो एक पूरी रचना है जो अभी अपूर्ण ही प्राप्त हुई है। अस्तु रतन रासो में कवि जयचन्द के गौरव का वर्णन एक कवित्त (छप्पय) में करता है और उसी कवित्त में गांगा के पुत्र राव मालदेव तक पहुंच जाता है। जयचन्द का गौरव देखिए—

असिय लक्ख पक्खर प्रचंड कनवज्ज छत्र धर।
असिय सहस मयमंत दन्त सइल्यन्द कवच धर ।।
अष्ट साहि नव कोटि मिच्छ त्रयलोक पसंदे।
इक्क दिवस रन इक्क मद्धि छंडे करि वदे ।।
कनवज्ज जोध दुरगह अगर गहि मोखन असपत्ति कय।
गंगेव नंद गंगेव भुव मल्लराव जँगहत्थ मय ।।

वंश का क्रमिक वर्णन गांगा पुत्र मालदेव से ही आरम्भ हुआ है और मालदेव को गांगेय भीष्म के तुल्य संसार रक्षक बताया गया है। मालदेव के दो पुत्र उदयसिंह और चन्द्रसेन बताये गये हैं और कहा गया है कि मालदेव ने छोटे बेटे चन्द्रसेन को अपने सामने अभिषिक्त कर दिया तो उदयसिंह को यह बात बुरी तो लगी पर उसने पितृभक्त होने के कारण तत्काल विरोध नहीं किया—

तावत अभिखेकित अनुज पित जीवहु चिर आय।
पुनि बिधुंसि सेन्या सकल पल मैं लेहुँ छिनाय ।।

अपनी इस प्रतिज्ञा को उसने पूरा भी किया—**कही नृपति तैसी करी।**

उदयसिंह के वीर चरित्र का विकट चित्रण है। उसने अस्सी हजार सेना पर केवल पांच सौ सवारों से हमला कर दिया और सेना को चीरता हुआ चंद तक जा पहुंचा—

जैसे गोला तोप को निकसत फौरि दिवाल।
गोल हरोल चँदोल मैं चंद लयौ इकताल ।।

इस युद्ध में उदयसिंह को पांच घोड़े बदलने पड़े, सब मरते गये—

पंच तुरिय वदले नृपति फारन फौज छछोह ।
छंडि छंडि चढि चढि किये खंड खंड तन लोह ।।

छठा घोड़ा बदलने पर वह वीर विजयी हो ही गया । उदयसिंह के इस वर्णन में कवि ऐसा रमा हुआ लगता है जैसे वही उसके सम्पूर्ण फल का भोक्ता नायक हो । यह कवि की सहृदयता है ।

उदयसिंह के दो पुत्र सूरसिंह और दलशाह हुए । इनमें कवि की रुचि दलशाह में ही है क्योंकि वह रतन का पितामह है। पर दलशाह का चरित्र चित्रण कवि ने केवल एक दोहे में किया है और इस बात के वर्णन पर अधिक जोर दिया है कि उसका विवाह कछवाहा मानसिंह की दूसरी पुत्री से हुआ और यों वह अकवर का साढू था । चरित्र चित्रण का दोहा यों है:—

सत्य वचन इन्द्रिय दमन वेद करम चित्तेक ।।
को गनि है दलसाहि क्रित जस जुध जग्य अनेक ।।

अस्तु, दलशाह का एक पुत्र कन्हीराम तो बूंदी के राव रतन का सामंत बना और शेष चार–मधकर (महेशदास), जसवंतसिंह, राजसिंह और झूझारसिंह महाबतखां के अधीन रहे । इन सब के विषय में एक साथ कहा है—

ए सव छत्रिन तैं वड़े इन सूं वड़े दयाल ।

पर इन भाइयों में से दो का चरित्र चित्रण कुंभकर्ण ने किया है । विशेष चित्रण तो मधकर का ही है क्योंकि वह रतन का पिता है पर कन्हीराम का छोटा सा वर्णन भी उसके गुण-गौरव का प्रदर्शन करने के लिए पर्याप्त है ।

कन्हीराम बुरहानपुर के घेरे में राव रतन के साथ था और वह युद्ध में विजयी हुआ जा । उसकी पितृ भक्ति और भ्रातृ स्नेह के वर्णन के वाद उसकी मीर तक्की पर हुई विजय का वर्णन है—

धरि हक्की चतुरंगिनिय तक्की गयौ उडाय ।

युद्ध में वह वीरगति को प्राप्त हुआ । परंतु एक मास तक व्रत रख कर भी वह वीरता पूर्वक लड़ा था—

मास वरत उपवास जुर तकी हन्यौ सुविहान ।
वीस हजार सिपाह मैं तक्कि लियौ चुनि मीर ।

कन्हीराम की वीरता का चित्रण करते हुए कवि ने भाषा भी विषयानुरूप रखी है:—

नीधक्क धक्क आसुर प्रयत तलप तक्क तक्किय धरिय ।
\+ \+ \+
चपलाक चपल वलहाक झर धूर झलकि सयलह परिय।।

और कन्हीराम द्वारा हाथी के मारे जाने पर--

कुंभ करिय करि कंचुकिय छौनि गये धसि दंत।
धरहराय सयल्यंद्र धर ढेर भयौ मयमंत।।

सारांश यह कि कन्हीराम का चित्रण करते समय कुंभकर्ण ने उसके प्रति उसी भावना को बनाये रखा जो काव्य नायक के प्रति अपेक्षित है। वह यह भूल गया है कि यह केवल एक प्रासंगिक वर्णन था—कन्हीराम के रतनसिंह का चाचा होने मात्र के कारण।

महेशदास (मधकर) महानायक का पिता है और नायक मंडल में उसे दूसरा स्थान दिया जा सकता है। उसके गौरव वर्णन में कवि ने ग्रंथ का लगभग पंचमांश लगा दिया है। इतने अंश में तो प्रमुख नायक वही है ही पर उसके बाद के लगभग चतुर्थांश में भी उसका वर्णन रतन के साथ-साथ रहता है। कवि का ध्यान वहां मुख्यतः तो रतन की ओर आकर्षित हो चुकता है पर फिर भी वह महेशदास की उपेक्षा नहीं करता और उसका यथेष्ट ध्यान रखता है।

महेशदास के जीवन की प्रमुख घटना है–देवगिरि दुर्ग की विजय। देवगिरि विजेता महाबतखां की सेवा में महेशदास प्रमुख सामंत है। महाबतखां की विजय का संपूर्ण गौरव कवि महेशदास को ही देना चाहता है पर फिर भी वह महाबतखां के पद का गौरव नहीं भूलता। महेशदास महाबतखां रूपी राम का साथी लक्ष्मण है। राम की पद प्रतिष्ठा को क्षीण किये बिना लक्ष्मण को नायक बना सकने वाला कवि जैसा सफल हो सकता उससे कहीं अधिक ही सफल कुंभकर्ण हुआ है।

देवगिरि विजय को एक गौरव पूर्ण घटना सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक था कि उस दुर्ग की प्रचंड दुर्गमता का वर्णन होता। उसमें कवि ने कोई कसर नहीं रखी। दुर्गमता का ही नहीं उसकी प्राचीन गौरवमय घटनाओं का भी उल्लेख किया है। वहां की विकट सेनाओं का भी वर्णन किया है:—

अट्ठै ध्रूह फवज्जियाँ तड़ खड़ तइयार।
पक्खर सार सँजोह सै इक इक असी हजार।।

देवगिरि की गौरव गाथा में तो वहां की अबला चांद बीबी और नपुंसक सूहा के भी प्रचंड और प्रबल पुंसत्व का वर्णन किया गया है। देवगिरि के साहाय्य के लिए आये हुए तीन शाहों की विकट वाहिनी का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार के विकट शत्रुदल पर विजय का उल्लेख करके महेशदास के शौर्य का प्रचंड उत्कर्ष सिद्ध किया गया है। दक्षिण के शाहों की ही नहीं विदेशी—**फिरंग हबस्स धरा प्रतिकाल** की अजेय वाहिनी पर भी महेश की विजय घोषित की गयी है। कवि महेश के सामंतों को भी यथेष्ट गौरव प्रदान करना

नहीं भूला है। पर सबसे बड़ी बात यह है कि महाबतखां की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखा गया है। आरंभ में ही कह दिया है :—

तबै सुविहान हिकम्मति तस्स। सुहिंमति तो विन कौन सकस्स ।।
विना रवि कौन करै ब्रह्मंड। प्रलै जल सोखि प्रदीपति खंड ।।
दक्खिन महब्बतिखान विन करै फतूहस कौन।
को कूदे महरान कूँ बिन हनमंत हजौन ।।

सारांश यह कि महावत खां की प्रतिष्ठा का ध्यान रख कर कवि ने मर्यादाओं का पूरा पालन किया है। हां, अध्याय की समाप्ति करते समय फल का भोक्ता मधकर को सिद्ध करना था अतः 'मधकर विजयोध्याय' की समाप्ति पर कहा—

सरफराज मधकर अगर दिगर मोहब्बति खान।
फुर्रमुदम फुरमान सें अदब करव सुविहान ।।

देवगिरि विजय से बाद के प्रसंगों में कवि का मुख्य आकर्षण बिंदु रतनसिंह बन जाता है पर फिर भी उसका पिता होने के कारण फल का भोक्ता महेशदास भी बना रहता है। कहरकोह वध के बाद वेगमें महेश से उत्सव करने की प्रार्थना करती है। रतन की गज-विजय पर प्रसन्न बादशाह महेश को ही जालौर दुर्ग प्रदान करता है :—

विदा किये सत्तरि तरफ दीने फील तुरंग।
रतन कुँवर मधकर नृपति चलि जालंधर द्रुंग ।।
कुंदनगिर मधकर रतन उध्रित चंद प्रहास।

जालौर आ चुकने पर बादशाह महेशदास का फिर स्मरण करता है और इस बार उत्तराखण्ड के म्लेच्छों का दमन करने के लिए उसे प्रधान सेनापति बनाता है पर इस पद का उपभोग करने से पूर्व ही महेश की मृत्यु हो जाती है—अपने घर पर ही। यह सामंती आदर्शों के अनुसार कोई गौरव की बात नहीं। वह कैसा वीर जो युद्ध भूमि में सूर्यमंडल का भेदन नहीं करता ! परंतु फिर भी इस बात को बड़ी सफाई से बचा कर कवि ने महेश को और भी गौरव प्रदान किया है—

लरन छ खंड सुविहान सम मधकर उच्छत्र सार।
देव सेन सेनाधि कूँ अभिखेजित करतार ।।

महेश का पुत्र रतनसिंह तो महानायक ही है। उसके चित्रण में तो कवि अभाव रख ही कैसे सकता है। रतन का गौरव वर्णन तो आरम्भ में ही कवि ने किया है और अपने काव्य के प्रयोजन को बतलाते हुए उसने जो कुछ कहा है वह रतन के महानायकत्व के प्रसंग में हम बता ही चुके हैं। वैसे कथा में रतन का प्रवेश सर्वप्रथम कहरकोह वध के प्रसंग में होता है। कहरकोह विजय को गौरवमय घटना सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक

था कि उस गजराज की अजेयता और प्रचंडता का वर्णन होता। कवि ने उसके वर्णन में कोई कमी नहीं रखी। उस पर विजय पाने से तो रतन की वीरता की गाथा शाही हरम तक पहुँच गयी जहां उसका भारी स्वागत हुआ और बादशाह ने तो उसके पिता को जालौर दुर्ग आदि दे कर एक स्वतन्त्र राजा ही बना दिया। जालौर में सूकर आखेट और मेवास दुर्ग दमन के प्रसंगों में कवि ने रतन के शौर्य-वीर्य का पुनः चित्रण किया है पर यह प्रसंग न भी आया होता तब भी रतन की वीरता की धाक जम चुकी थी; इसमें कोई संदेह नहीं। बलख-कंधार विजय से उसकी वीरता को चार चांद लग जाते हैं और शाहजादा दारा तक उसकी प्रशंसा करते हैं।

परंतु इस घटना से पहले ही, महेश की मृत्यु के वर्णन के साथ ही, कवि रतन के गौरव की रक्षा का प्रयत्न आरम्भ कर देता है। बात यह है कि कुंभकर्ण का कवि कर्म अति कठिन है; उसका गम्य दुर्गम है। उसका महानायक युद्ध में विजयी नहीं हुआ; पराजित हो कर धराशायी हुआ। पराजित नायक के यश की रक्षा किंचित् कठिन काम है पर कवि ने अपने कर्तव्य को ठीक से निभाया है। उसने सर्वप्रथम कहरकोह विजय के उत्सव के बाद सरस्वती द्वारा रतन का भविष्य कथन करवा दिया कि वह क्षिप्रा के निकट रणक्षेत्र में मरेगा। उसके बाद महेशदास की मृत्यु के प्रसंग में उसने कहा—**अनफेरि पिट्ठि सडसट्ठि रन मधकर घर सज्या मरन**। जिस वीर ने सड़सठ युद्धों में कभी पीठ नहीं दिखायी और सदा विजयी हुआ, उसे रणभूमि के स्थान पर शय्या पर मरना पड़ा। क्या यह विडंबना नहीं है? इसी से कवि ने सूत्र ग्रहण किया और रतन की गौरव रक्षा का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। रतन ने ऐसी मृत्यु से बचने के लिए शिव की घोर तपस्या की और उसने वरदान प्राप्त किया कि उज्जैन के रणक्षेत्र में दो शाहजादों के विरुद्ध प्रचंड युद्ध करता हुआ धराशायी हो कर शिव स्वरूप प्राप्त करेगा। यों उज्जैन-युद्ध में मृत्यु और सायुज्य प्राप्ति तो रतनसिंह ने स्वयं घोर तपस्या करके वर के रूप में उपलब्ध की। फिर यश में ह्रास कैसा? पर यहीं कवि को संतोष नहीं हुआ। उसने डंडीमाली छंद में एक बार फिर भविष्य कथन करवाया और बताया कि युद्ध में रतन का अभिमुख हत होना निश्चित है। जसवंत सिंह के युद्ध पराङ्मुख होने के प्रसंग में भी एक बार फिर कवि ने आकाशवाणी करवायी—

हठ न करहि महाराज अब मम दिय अवरँग पाट।

यों रतन की कीर्ति रक्षा का प्रत्येक सम्भव उपाय कुंभकर्ण ने किया है। उसकी वीरता का वर्णन करने के लिए उसके अन्तिम युद्ध के वर्णन में तो कवि का ऐसा मन रमा है कि मानो वह अपनी आंखों के सामने एक-एक घटना देखता हुआ संजय की तरह उल्लेख करता जा रहा हो।

रतन जिन शाहजादों से युद्ध करता हुआ मारा गया उनका और उनकी सेना का प्रचंड वर्णन करके ही वह रतन के गौरव की रक्षा कर सकता था। यदि रतन किसी दुर्बल

के हाथ मारा जाता तो गौरव कैसा ? अतः शाहजादों की प्रचंडता और उनकी सेनाओं की विकटता का वर्णन भी कवि ने जी खोल कर किया है।

रतन के पुत्र रायसिंह का चरित्र चित्रण भी करने में कवि ने पूरी सहृदयता का परिचय दिया है। सामन्तों के हजार समझाने पर भी वह पौगंडायु बालक युद्धभूमि से वापस जाने को किसी प्रकार प्रस्तुत नहीं होता। वीर गति प्राप्त करके ही चैन लेता है। उसकी अनेक पौराणिक वीर बालकों से तुलना करके कवि ने अपने कर्म का सुतरां सफल निर्वाह किया है।

कवि के सम्मुख सब से कठिन काम था जसवंतसिंह के गौरव की रक्षा। यह प्रसंग उसकी कवि कल्पना की कसौटी था जिस पर कवि खरा उतरा। जसवंत के सभी सामंत उसे परामर्श देते हैं कि युद्ध भूमि का भार रतनसिंह को सौंप कर उसे दिल्ली के छत्र की रक्षा करने के लिए चले जाना चाहिए। वह किसी भी तरह तैयार नहीं होता। आखिर आकाशवाणी उसे ईश्वरीय आज्ञा सुनाती है और उसी का पालन करने के लिए जसवंतसिंह युद्ध भूमि से जाता है–पलायन नहीं करताः––

हठ न करहि महाराज अब मम दिय अवरँग पाट।
गिरा मेघ गंभीर वत नभवायक वैराट।।
छत्र धरहि सुविहान को रतनस्यंघ सिर अत्र।
छत्र धरन हिंदुवान को नृपति पधारहु तत्र।।

इसी ईश्वरीय आज्ञा को मान कर जसवंतसिंह युद्ध भूमि से हटता है। भगोड़े राजा की गौरव रक्षा का अद्‌भुत उपाय कवि ने सोचा है। यही उपाय 'वचनिका कार'[1] ने भी अपनाया है।

जसवंतसिंह को पराजित करने वाले शाहजादों और उनकी प्रचंड वीर वाहिनी का तो वर्णन कवि ने बहुत विस्तार से किया ही है। कवि को काव्यादर्श का यह सूत्र याद है––

वंशवीर्य सुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्ष वर्णनं च धिनोति नः।।

यह सूत्र विजयी नायक के प्रसंग में बताया गया है। जहां नायक स्वयं पराजित हो वहां तो उसकी गौरव रक्षा तभी होगी जब शत्रु पक्ष की प्रबलता का परम प्रचंड वर्णन हो। अतएव शाहजादों के वर्णन के प्रसंग में कवि ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। उतनी ही सहृदयता से उनका चित्रण किया है जितनी सहृदयता से नायक का।

---

१. 'वचनिका' इसी युद्ध से सम्बन्धित खिडिया जगा का चंपू काव्य है। जगा की रचना कुंभकर्ण से कुछ पहले की है।

शाहजादों के चरित्र का सबसे मार्मिक पक्ष तो वहां चित्रित हुआ है जहां वे युद्ध भूमि में हताहतों का परिचय प्राप्त करने जाते हैं और एक-एक वीर का चरित्र पूरी सहृदयता से सुनते हैं। वार्ताबद्ध यह वर्णन तो सभी छंदोबद्ध वर्णनों से अधिक मार्मिक है। उससे पूर्व तो शाहजादे अभिमुख हत रतन को प्रणाम तक करते हैं—

रतनेसुर वंदि सुभान तये। सुपराक्रम पिक्खि हैरान भये।।

युद्ध में विजेता शाहजादे विजयोन्मत्त न हो कर वीरों के सम्यक् सम्मान में प्रवृत्त होते हैं। यों कवि ने नायकों के समान ही प्रतिनायकों का चित्रण भी पूर्ण सहृदयता से किया है।

जहां नायकों की विजय हुई है वहां भी कवि ने विजेतव्यों के बलवीर्य का वर्णन करने में कोई कमी नहीं रखी। बुरहानपुर, देवगिरि, शाह-त्रय, तक्की, कहरकोह, सूकरराज, सोंधा दुर्ग, छह खंड, सभी की अजेयता का वर्णन सहृदयता से किया गया है।

सारांश यह कि चरित्र चित्रण के प्रसंग में कवि को अपने कर्त्तव्य का यथावत् ज्ञान है और उसने अपने दुर्गम लक्ष्य का निस्संदेह भेदन कर ही लिया है।

## (४) वर्णन वैभव

महाकाव्य के लक्षणकारों ने महाकाव्य में अनेक वर्णनों का समावेश भी आवश्यक बताया है। लक्षणकारों का यह आग्रह नहीं है कि लक्षणों में उल्लिखित सभी वर्णनों का समावेश हो ही, वे तो प्रसंग आने पर ही वर्णनों का समावेश चाहते थे। उन्होंने विविध वर्ण्यों के प्रसंग में वर्णनीय सामग्री के विषय में भी कुछ मार्ग दर्शन किया है। उसी का परिणाम यह हुआ कि अनेक कवियों में यह भ्रम फैल गया कि लक्षण ग्रन्थोक्त उन वर्णनों का संकलन करके, उनका किसी भी कथा सूत्र में समावेश करके, महाकाव्य की नहीं तो भी प्रबन्धकाव्य की तो रचना की ही जा सकती है। ऐसे कवियों की संख्या बहुत बड़ी है जिन्होंने लक्षण ग्रंथोक्त सामग्री के बल पर वर्णन कर डाले और उन वर्णनों को जोड़ने वाले अतिशिथिल कथा सूत्र जोड़ कर कवि कर्म की इति श्री समझ ली। वंश परम्परा से कवि कर्म को आजीविका का साधन मानने वाले सौती वर्ग के कवियों में तो यह दोष और भी अधिक है।

रतन-रासो कार भी उसी वातावरण में पैदा हुआ था और पला था। अतः वर्णनों का बाहुल्य उसके काव्य में भी आवश्यक था। पर उसे अनुपात का भी ज्ञान है। अतः एक दो स्थलों को छोड़ कर उसने प्रायः कहीं भी वर्णनों के मोह में पड़ कर कथा सूत्र को क्षीण नहीं होने दिया है। उसके वर्णनों में सब से प्रमुख तो युद्ध वर्णन है पर अन्य वर्णन भी कम नहीं हैं।

## दुर्ग वर्णन

रतन-रासो में दो दुर्गों का वर्णन है—देवगिरि और स्वर्णगिरि। दोनों के वर्णन में काफी साम्य है। दोनों वर्णनों में मोतीदाम छंद का प्रयोग किया गया है। दोनों ही की अजेयता, दुर्गमता, शस्त्रास्त्र पूर्णता का वर्णन किया गया है। दोनों के अगाध निखात, भुरिज्ज, प्रतोलि आदि का वर्णन है। दोनों ही में देवताओं का निवास रहा हुआ बताया गया है। दोनों ही दुर्गों से सम्बन्धित ऐतिहासिक वृत्तों का भी उल्लेख किया गया है। देवगिरि के प्रसंग में यादव भान का; और स्वर्णगिरि के प्रसंग में कान्हड दे और वीरम दे का ऐतिहासिक आख्यान बताया गया है। दोनों वर्णनों की शब्दावली में भी काफी मेल है।

देवगिरि–अभीत अजीत असाधि अगाधि। सावाति सुरंग अलंगन साधि॥
चढाव लगाव न डाव चौकोर। नृभै सुर अस्सुर नाग रहोर॥
बिलंद उरद्धह गाब्बिवजंन। जलाव्रत गोलक इक्क जोजन्न॥
अथाह सग्राहित खंदक अच्छ। मधे मकराकुल कच्छिप मच्छ॥

स्वर्णगिरि–………… ….. …. ………। अनंत प्रकार अजीत अभंग॥
नरस्सुर नाग अजीत अनंग। उरद्धह जोजन इक्क अलंग॥
प्रपूरित अंब सरित्त प्रवाह। बिलंद भुरिज्ज दिवाल अगाह॥
सावाति सुरंग दुरंग असाधि। अभेद अछेद अगंम अगाधि॥

वैसे स्वर्णगिरि के दुर्ग का वर्णन उतना विस्तृत नहीं है जितना देवगिरि का। कारण स्पष्ट है। देवगिरि की दुर्गमता का वर्णन करके **'तज्जयान्नायकोत्कर्षः'** करना था। स्वर्णगिरि के प्रसंग में ऐसी कोई आवश्यकता न थी। वह तो पुरस्कार स्वरूप रतन के पिता को मिला था। अतः दुर्ग होने मात्र के कारण जितना आवश्यक था उतना वर्णन कर दिया गया।

## नगर वर्णन

रतन रासो में दो नगरों का वर्णन है। एक है जालौर और दूसरा है रतलाम। इन दोनों ही के वर्णन लक्षण ग्रंथों की सामग्री के बल पर बने हुए हैं। कवि ने बारह वर्ष में कई नगरों में (जिनमें रतलाम भी है) घूम कर भी जैसे दोनों नगरों को देखा ही न हो और लक्षण ग्रंथों को देख कर ही दोनों नगरों का वर्णन कर दिया हो। नगर वर्णनों को ले कर राजस्थानी-गुजराती में प्रभूत रचनाएं हुई हैं, जिन्हें गजल कहते हैं। उनमें प्रायः नगर में हो सकने वाली सभी वस्तुओं के नाम गिना दिये गये हैं चाहे वर्ण्य नगर विशेष में वे हों या नहीं। रतलाम और जालौर के वर्णन भी ऐसे ही हैं। उनके शीर्षक स्वरूप किसी भी नगर का नाम लिखा जा सकता है, वर्णन सटीक हो जाएगा मानो नगरों का भी 'साधारणीकरण' हो गया हो।

जालौर और रतलाम के वर्णनों में बड़ा साम्य है। छंद दोनों में भुजंगी है। वर्ण और शब्दावली में क्रम का हेर-फेर अधिक है तथ्यों का कम है। बात यह है कि युद्ध प्रेमी कवि का मन ऐसे वर्णनों में रमता ही नहीं। ऐसे प्रसंगों में उसकी कल्पना के घोड़े दौड़ने को तैयार ही नहीं होते। बस, लक्षणकार की आज्ञा मान कर उसी की बतायी हुई सामग्री का समावेश कर के उपचार का पालन कर दिया है। नगर वर्णन को लम्बा बढ़ा कर उबा देने वाला नहीं बनाया है जैसा कि लक्षण ग्रंथों के बल पर कवि बनने वाले किया करते हैं। थोड़ा सा नमूना देखने से स्थिति स्पष्ट होगी---

जालौर — कहूँ पिक्खयं तेज तत्तो तुरंगा। कहूँ दिक्खये मत्त मत्ते मतंगा।
कहूँ उक्खि अस्वं रथं पंति तानं। कहूँ भूप चौगान खेलं रसानं॥

\+ + + +

कहूँ विंग वाणिज वार्त्ता विनोदं। कहूँ मत्त मैमंत द्रव्यं प्रमोदं॥

\+ + + +

कहूँ गेह साहं धजा कोटि द्रब्बं। कहूँ तारकं तंकनं कंक सब्बं॥

\+ + + +

कहूँ दारमी दाख मेवा अनारं। कहूँ नागवल्ली चुना खैर सालं॥
कहूँ जग्गि आरम्भ पारम्भ जंगं। कहूँ विप्र वेदं धुनी रंग मंगं॥
कहूँ पाठकं खिप्र विप्रं किसोरं। मनू प्रावटं दद्दुरं मेघ घोरं॥

\+ + + +

कहूँ मल्ल पायक्क विद्या प्रबंधं। कहूँ खेटकं खग्ग आबद्ध बंधं॥

रतलाम-कहूँ मत्त मैमंत मत्ते मतंगा। कहूँ तेज जाजुल्लि तत्ते तुरंगा॥

\+ + + +

कहूँ आगमं मंत्र आवाहमानं। कहूँ धारणा धीय ग्यानं विग्यानं॥
कहूँ आतमं ब्रह्म एकत्र मानं। कहूँ मोह माया दुधा भाव तानं॥

\+ + + +

कहूँ मल्ल पायक्क धानंखधारी। कहूँ तग्गि अभ्यास विद्यावधारी॥

\+ + + +

कहूँ प्रेम पारद्धि आखेट व्रत्तं। कहूँ सैल चौगान भ्रित्तं चरित्तं॥
कहूँ वैस्य वाणंज्य कोट्यं धुजेसं। कहूँ लाभ लख्यं गमख्यं व्रजेसं॥

\+ + + +

कहूँ नागवल्ली दलं दिव्य पंनं। कहूँ मालनी छाव छावं सुमन्नं॥

यह स्पष्ट है कि कुंभकर्ण ने उपचार के पालन के लिए दो बार नगर वर्णन कर दिया। पर उसका मन इस वर्णन में नहीं लगा है। इसीलिए उसकी कल्पना की उड़ान कहीं दिखाई नहीं देती। निस्संदेह ये सब वर्ण्य बातें किसी लक्षण ग्रंथ से ली हुई है।

बीसवीं शताब्दी के संस्कृत के महाकवि म०म० देवीप्रसाद शुक्ल रचित 'मंगल महर्षि चरितम्' में भी ऐसा ही वर्णन द्रष्टव्य है :—

**जयपुर—** क्वचन मत्त मतंगज गर्जितै र्वधिरिता खलु पौरजन श्रुति ।।
क्वचन चचल वाजि सुवल्गितै: समितया मितया रुचिरं रुचा ।।
क्वचन सत्तुरग द्वय योजनांचित चलद्रथनिस्वन सम्भृतम् ।।
क्वचन चारुतरापणसपदामुचितया चितया ललितं त्विषा ।।
क्वचन सामसुगान परायणैर्द्विज गणै निपुणैः सुगुणी कृतम् ।।
क्वचन सद्यजुरध्ययनोन्मुखैः सुपटुभिर्वटुभिः परितोवृतम् ।।

रतलाम और जयपुर के वर्णनों में तो और भी अधिक साम्य है। स्पष्ट है कि कुंभकर्ण और शुक्लजी के सामने आदर्श लक्षण ग्रंथ एक ही है। शुक्लजी के द्वारा कुंभकर्ण के ग्रंथ को देखे हुए होने की कोई संभावना नहीं है। ऐसे ही वर्णन संस्कृत के अन्यान्य काव्यों में भी मिल जाएंगे।

सारांश यह है कि नगर वर्णन में कुंभकर्ण ने उपचार का पालन कर दिया है, अपनी कल्पना के घोड़ों को कोई कष्ट नहीं दिया। ऐसी चीजों में उसका मन रमता ही नहीं।

## अष्ट याम वर्णन

लक्षण ग्रंथकारों ने राजाओं आदि के वर्णन में उनके अहर्निश कृत्यों के वर्णन को भी बहुत महत्त्व दिया है। कुंभकर्ण ने भी उस रूढ़ि का पालन किया है। ऐसे प्रसंगों में उसने अपने पांडित्य का भी परिचय देने का यत्न किया है। ऐसे प्रसंग बहुत अधिक तो नहीं हैं पर फिर भी लक्षण ग्रंथों के निर्देश का पालन करने के लिए यथेष्ट हैं।

रतन के प्रभात कृत्यों का वर्णन इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। रतन प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठता है, गो-विप्रों के दर्शन और देवों के चरण वंदन करता है। शरीर को शुद्ध करता है। क्षत्रियोचित श्रुति का पाठ करता है। दंत धावन, मुखकमल की शुद्धि, हाथों और पैरों की शुद्धि आदि से निवृत्त होता है; आचमन करता है; यज्ञोपवीत को कान पर धारण करके करणीय कर्म करता है; हाथ में माला ले कर शिव-गिरिजा का परम ध्यान करता है; षडंग महिम्नस्तोत्र का पाठ करता है। इन कृत्यों के बाद दानादि में प्रवृत्त होता है। छायादान, गोवत्स दान, हेम-भूमि-अंबर-दान, भोजन-पदार्थ दान आदि दान करता है। उसके बाद शस्त्रास्त्राभ्यास और मल्लविद्यादि के अभ्यास में प्रवृत्त होता है। उसके पश्चात् चौकी पर बैठ कर तैल मर्दन, स्नान आदि कृत्य आरंभ करता है। स्नान के समय ब्राह्मण मंत्र पाठ करते हैं। दिव्य वस्त्र धारण करके देव-पूजा और शस्त्र-पूजा करता है। तब शस्त्रास्त्रों से सज्जित हो कर राजसभा में उपस्थित होता है। उसके बाद आखेट के लिए जाता है। आखेट का तो काफी लंबा वर्णन है।

स्नानादि कृत्यों का वर्णन महेशदास के प्रसंग में भी किया गया है और वह भी विचित्र स्थल पर अर्थात् युद्ध भूमि में महाबत खां द्वारा मधुकर की सेनापति पद पर नियुक्ति के बाद। वहाँ—

नंखि विलायति गिलमरप तष्ट उसीर बनाय।
अंघ्रि कमल जुग कर कमल सुजल प्रछालि सुभाय।।
गुण एजदी गुलावं किमति अतर कुमकुमा सुद्धं।
सुद्धं वसन सितावं कर अंगुच्छि सुच्छि मुख कमलं।।

इत्यादि रूप में स्नानादि कृत्यों का वर्णन और फिर ध्यान-पूजा आदि का यथाविधि वर्णन है। इसी वर्णन के साथ ही कवि द्वारा उसके पूर्वजों का वर्णन कराया गया है। पूर्वज कथा श्रवण भी यों प्रातः कृत्यों में है।

रतन के युद्ध भूमि से एक बार बीच में रतलाम आ कर रामसिंह का राज्याभिषेक करने आदि के प्रसंग में भी प्रातः कृत्यों का उल्लेख हुआ है।

तंत्र सुमंत्र सुजाप मय धरिव ध्यान त्रिपुरारि।
मन क्रम वच आनंद मय सहस कंज पर वारि।।
करि प्रणाम रिखि बंदि पय जप अवसान नरिंद्र।
उश्नख अंबर सस्त्रवर चार दरस मुनि व्रिंद।।

इसके बाद का अभिषेक वर्णन भी परंपरा पालन के लिए ही किया हुआ लगता है।

## नख-शिख वर्णन

रीतिकाल के कवियों में अष्टयाम और नख-शिख वर्णन बहुत ही प्रिय विषय रहे हैं। हजारों कवियों की रचनाएं इन्हीं दो विषयों तक सीमित मिलेंगी। शास्त्र के काव्य पर बहुत अधिक हावी हो जाने का यही परिणाम होता है।

कुंभकर्ण ने रतन-रासो में भी नख-शिख वर्णन का प्रसंग निकाल ही लिया है। कहरकोह विजय के बाद बादशाह की बेगमें रतन को स्वागतार्थ बुलाती हैं। वहां हरम में उपस्थित नारियों का नखं-शिख वर्णन किया गया है। वृद्ध नाराच छंद और माधुर्य गुण समन्वित पदावली में वर्णन द्रष्टव्य है:—

झरंति वारि ता प्रकारि उप्पमा अचंभये।
गुनंकि स्याम मुक्तग्राम मक्ख तूल तंभये।।
+ + +
दुवार पट्टिका त्रटंक पंतिता विराजही।
मनौ कि चंद वृंद जोति तारका समाजही।।

विसाल भाल पट्ट प्रेम ना तमाल पत्र ये ।
मनौ मयंक प्रेम अंक रोहिनी वचित्रये ॥
विसाल बाल भूँह सूँह बंकका कमानय ।
प्रफुल्लि नेत्र पंकजेत्र खंजने मृगानयं ॥
विचित्र मीन मान हीन मंजनं हृदानयं ।
उघार नेत लज्ज हेत तज्जनेत प्रानयं ॥
मुखारव्यंद ता अनंद चंद का सद्दृये ।
सपर्धमान ता समान का बखान हद्दये ॥
जराव वज्र लाल नील कर्णफूल फूलनं ।
कचभ्र अभ्र मद्धि भाव चापलाव तूलनं ॥
सुधा प्रपूर दीप जोति ता उदोति नासिका ।
समान तान उप्पमान मान कीर त्रासिका ॥
नसग्र थान नत्थ कत्थ मानमत्थ फंदनं ।
सुरासुरं गुरं दु मद्धि सद्धि भोम नंदनं ॥

+ + +

उरोज संभु श्रीफलं भकुंभ कुंभि कुंदनं ।
जरीन भीन फूँदनीन कंचुकी क्रिसाननं ॥

+ + +

सुखीन भीन लंक भृंग संक रंक बाधनं ।
मृगाखि साखि ता मृगाखि रारि वारि साधनं ॥
मनी प्रवंध बाजुवंध जोति मंध राजही ।
भुलंति डार चंदनी फनी कुमार लाजही ॥
नितंब तुंग द्वै मतंग जग भै विरंचिये ।
मृगारि लंक अंक संक तंक आड संचिये ॥
कुणं रुण भुणंत कार चार छुद्र घंटिका ।
सिसू मुन्यंद्र वृंद वेद खेद नेद कंटिका ॥
असंभ दंभ रंभ खंभ ताक रभ निंदन ।
खरादि काम वाम भाम संदुलाम संजनं ॥
जरी इजार जेबवार पेसवाज राजहीं ।
चरंन चार जावकं कि पावकं प्रभाजहीं ॥
कनंक तंक जेहरी झनंक झंक नूपरं ।
नवव्वति त्रिलोक जै विजै कि काम भूपरं ॥

+ + +

प्रवीन भीन ओढनीन प्रोढनीन बालिका ।
जगंमगाति जोति जोति दीप दीप मालिका ॥

उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलंकारों और सुमधुर शब्द संचय से पूर्ण यह वर्णन कवि की नख-शिख वर्णन क्षमता का द्योतक है। वैसे वीर-काव्य में यह कहां तक आवश्यक था, यह दूसरी बात है। पर उसके लिए इससे अच्छा प्रसंग निकाल सकना कठिन था।

## प्रभात वर्णन

कवि ने नख-शिख वर्णन के समान ही प्रभात वर्णन के द्वारा भी शृंगार रस का आस्वादन कराने का यत्न किया है। रस की कोटि तक पहुंच सकना तो कठिन था पर फिर भी इस वर्णन की शब्द माधुरी, छंद छटा और कल्पना कुशलता द्रष्टव्य है।

स्त्रवरी सुप्रकाश समापतयं। सिव ब्रह्म मुहूरत प्रापतयं॥
छवि छीन हिमाकर खीन कला। नृप जुद्ध पराजि चमूज चला॥
तप जाजुलि तेज प्रअच्छरि कै। मुनि दंभ उपालँभ अच्छरि कै॥
नभ मंडल चन्द्र ससंक बनै। जमुना जल फेर सरं बरनै॥
उपधा नभ अंक प्रजंक गिरं। स्त्रवरी सुपतं उडु पुष्प खिर॥
सुख निद्रित तांद्रित सोभ मयं। ज सवित्र त्रटंकमयं करयं॥
उपमा मति कांति सवासवयं। चखखं रजकं जुत आसवयं॥
कतुवंकरि कांचुकि दिब्बि कला। पट लांपटु संधि प्रवंधि छला॥
+ + + +
प्रति योख उदारति वारिकयं। समस्या अभिसारिक सारिकयं॥
+ + + +
उघरे जु कपाट सुरालन के। ग्रिह मंदिर द्रुंग दिवालन के॥
भय स्यंघ पनंग निसाचरयं। छल छिद्र सुछीन छपाकरयं॥
धुनि संख मृदंग निनद्दनये। सुर पंचम भेरु विभास भये॥
किलके चरनायुध दिग्घ सुरं। प्रगटे दिसि प्राचिय रैन मुरं॥
रवि आगम दीपक जोति दुरी। छवि दंभनि सिद्ध प्रकोप परी॥
मिख कंपति झंपति वात भयं। उपमा यह सारँग विग्गिमयं॥

इस वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा और सांगरूपकों की सहायता से माधुर्य उत्पन्न करने का यथेष्ट यत्न हुआ है। विशेष कर पर्वत रूपी पर्यंक पर आकाश रूपी बिछौना बिछा कर रात्रि रूपी नायिका के सोने और उसके तारे रूपी वेणी पुष्पों के बिखर जाने की कल्पना बड़ी अद्भुत है।

## पदार्थ वर्णन

कवियों में वस्तुओं के वर्णन की भी एक प्रथा सी हो गयी थी। प्रकृति चित्रण का विचार सिमट कर इसी रूप में रह गया था। जहां वन-लता-वृक्षादि का वर्णन अभीष्ट हो वहाँ लता-वृक्षादि की विस्तृत नामावलि, जहां फल-मेवों का प्रसंग हो वहां उनकी सूची, जहां पशु-पक्षियों का वर्णन अपेक्षित हो वहां उनकी नाम-सूची, बस यही दे देना कवि कर्म की

इतिश्री वन गया था; मानो काव्य ग्रंथ नहीं प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र के निघंटु हों। इस क्षेत्र में कुंभकर्ण भी कोई अपवाद नहीं है। खैर इतनी ही है कि वह अपने निघंटु ज्ञान के प्रदर्शन के मोह में पड़ कर नाम-सूचियों को विस्तृततम बनाने के लिए लालायित नहीं हुआ। अस्तु, उसके कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

सुरसरित हरित द्रुम अंग बाग। श्रीफल लवंग वन लता नाग॥
चंपक असोक दाख्या अनार। अखरोट रंभ करनीस रार॥
खारिख बिजौर जंभीर जीर। जरदाल उक्ख मरदा सुनीर॥
आमल कसाय कटु तिक्त खार। मेवा मुरादि फुलवादि भार॥
निग्रोध निंबु अस्वथ अचंभ। भय निरालंब खह ख्योभ खंभ॥
फल फूल प्रचुर भर नमति डार। पर काज राज सिख्या प्रकार॥

+ + +

इस नाम-सूची के बाद का प्रकृति वर्णन काफी सुन्दर है। पर फिरः—

कल्हार कोक नीलोत्पलेव। सतपत्र सहसपत्रह सुतेव॥
कलहंस राजहंसह बलाक। करकरा कुंभ सर चक्रवाक॥
मझि उरँग सीप जलचर जलूक। ददुरह कमठ सफरह मलूक॥
अंनिन अनत्र जलजीव जत्र। फुनि सुक्त संख सूपह सलित्र॥

इसी प्रकार सूकर वध के बाद पशु-पक्षी नामावलि का उल्लेख द्रष्टव्य हैः—

तुरमती कुह्नी जुररानि बाज। मीरनि सिकार कउतक्क काज॥
करकरा कुलँग मुरगावियेन। तीतरह चरज करवान केन॥
फंदेत ऐण सत एक सत्थ। फुनि स्याहगोस चीते सुतत्थ॥
खगहा भिडाल सावज सतेव। वन महिख नींलगावह जितेव॥
बाराह रीछ वनराव जत्र। ··· ···· ···· ··· ···· ···· ··· ····॥

देवगिरि के भंडारों का वर्णन भी पद्धरी २४३ (अ० ४) में द्रष्टव्य है जहां वैडूर्य, नीलम, माणिक, प्रवाल, पुखराज, वज्र आदि का वर्णन है।

पदार्थ वर्णन में कुंभकर्ण की अच्छाई यही है कि उसने अपनी नाम-सूचियां बहुत लंबी नहीं कीं। काव्य कलेवर बढ़ाने के इच्छुक कवियों ने सूचियों के विस्तार की कोई सीमा नहीं रखी है। पर कुंभकर्ण के वर्णन सानुपात ही हैं।

## सैन्य वर्णन

कुंभकर्ण का मन विशेष रूप से वीर रस और उसके सहयोगी रौद्र और भयानक के प्रसंगों में रमा है अतः उसके द्वारा किये हुए सेनाओं, हाथियों और युद्धों के वर्णन अनुपम हैं। उनमें कल्पना कौशल, वाग्वैदग्ध्य, भाषा भंगी, उक्ति वक्रता, अलंकार आभा,

छद छटा, विभाव वैचित्र्य सभी कुछ दर्शनीय और अद्भुत है। सेनाओं के वर्णन में कवि ने हाथियों के वर्णन में अधिक रस लिया है।

देवगिरि के घिर जाने पर देवगिरि से तीन पड़ौसी बादशाहों को सहायतार्थ पत्र भेजे गये थे। इस पर वे ससैन्य तैयार हुए। उसी प्रसंग का चित्रण देखिए:—

तापनि झालणि ग्रीखमाण ज्यूँ भाण भलाले।
लग्गी दोउ सुविहान दे घर जग्गी चाले॥
का रण भुंमिक ठट्ठि ये दारण दाढाले।
हमसाँ तेजी पक्खरनि उछरंग उताले॥
छणकनि जिरहाँ सार दी कड़ियाँ कड़ियाले।
बंधनि सिलहाँ सार पोस चिलकंता वाले॥
गरदनि फील मसत्त जोस चौंवर दस्ताले।
कद्द विलंद मनाहरे किल्ले भुरजाले॥
कड्ढनि दंद हर्वक्क हत्थ गिर कंद उखाले।
छक्के सार सराब वीर वंके मतिवाले॥
जिन्हाँ करामति जाहराँ जंगाँ जरदाले।
सिर उप्परि विणि साइयाँ होर न रखनाले॥
अजल जिन्हाँ दहसत्ति सेख मक्खा वनिसाले।
क्या कुदरत्ती आदमीण मगजी मसताले॥
आतस फील फहम सेर दीदार डराले।
सिर उप्परि रूठे फिरनि निधडक्क हियाले॥

मुराद और औरंगजेब की सेना की विकटता का भी वर्णन करते हुए कवि ने गजवर्णन पर अधिक जोर दिया है:—

ठिले मेर साफिर पिट्ठे जवानं। तिने उप्पमा कौन किल्ले पखानं॥
जिने ठाळ लकाळ औसान चुक्के। करो मंत्र आघ्रान तें डान सुक्के॥
मृगंजाति कंधोधरा सिंह रानं। पुजै दिव्व वीरं न तीरं कमानं॥

\+ \+ \+

कि लावे कसे कठ घंटा ठनके। प्रसादं सुरं झल्लरी सी झनंके॥
दलं बोह धात्री फलं स्याम रंगे। गिरं कज्जलं बद्दलं चित्र अंगे॥
तनं तेल सिंदूर जंगाल चित्रे। मनू इंद्रचापं घटा मेघ धित्रे॥
कसे रेसमी रंगनारी गदीला। धरे आरसी पक्खरं सार झीला॥
दुवं चामरा कंन सोभा उतंगा। धसी धार सामूह पाहार गंगा॥
मदं प्रेमलं श्रेण गुंजार सारं। अली आवली पंति सोभा शृँगारं॥

रदं वंगरी बज्र चूरी चमंके। घटा मेघमाला कि ज्वाला झमंके ।।
कटारी करी दंत मैमंत संधे। दुधारं दृढं पोगरं खग्ग बंधे ।।
सधाये तुरी सोर सारं तरच्छे। परं पक्खरं सैल पायक्क कच्छे ।।
करामाति सा जंत्र मंत्र उचक्के। सवालं मनू सिद्ध पाहार हंके ।।
पयोधं पयं प्रापि प्रावट्ट काला। चली फील पंती दुती मेघमाला ।।
तुरंगं वन पक्खरं रंग रंगे। लये मंथनं सागरं खीर संगे ।।
कसे केजमं राग रंगं कवच्चं। पताखा धुजा चामरं छत्र सच्चं ।।
अनेकं तहाँ खान मीरा नवाब। तहाँ अ।तसं जोर सोरं सिताबं ।।

शाहजादों की सेना का एक और वर्णन युद्ध आरम्भ होने से पूर्व है। इसमें भी गजवर्णन पर ही कवि का ध्यान अधिक केन्द्रित हुआ है।

चढे दु साह सज्जनै। लगे निसान बज्जनै ।।
घनंकि घंट घुग्घरे। जँजीर वीर उग्घरे ।।
प्रपूर दंति पंतियं। घटा कि मेघ मंतियं ।।
करंति दान झल्लरै। भ्रमंति भ्रूह कल्लरै ।।
प्रवाह मद्दवान के। कि कद्द वा धरान के ।।
गिरंद वृंद गह्वरे। झमंकि तंकि निर्झरे ।।
दु और भृंग झुंड के। कि जाल गोलकुंड के ।।
कपोल चोल शृंग से। प्रभात के पतंग से ।।
सिंदूर पूर भावकं। प्रदीप उग्र पावकं ।।
जँगाल तैल लभ्रके। वचित्र चित्र अभ्रके ।।
दु ओर ऋंन चामरं। धसीक गंग आमरं ।।
+ + +
कुलंक अष्ट अद्रि से। सजीत भीत तद्रिसे ।।
पुनेपि पंख धारही। कि सृष्टि कूँ सँघारही ।।

आदि वर्णन काफी विस्तृत है। वीरों के वर्णन में भी कवि का मन रमा है:—

सबद्द वेध कारही। अकाल काल मारही ।।
अनेक रत्थ स्यंदनै। ससत्र तत्र वृंदनै ।।
पयद्दलं प्रबल्ल से। धराधरं अचल्ल से ।।
अनेक मल्ल पायकै। प्रबन्ध बंध डायकै ।।

अश्वों, बैलों, तोपों, ऊंटों आदि का भी विकट वर्णन है:—

हजार पंच उक्खयं। ति एक एक रुक्खयं ।।
तुरंग अस्फ सुत्तरे। सकट्ट फील दुसतरे ।।

सु रामचंगियान के। कवान जंत्र बान के।।
जँबूर गोल जाल मैं। अभूह जूह आलमैं।।
सुभूमि कूँ विदारहीं। क आसमान फारहीं।

## युद्ध वर्णन

शत्रु सेना का ऐसा विकट वर्णन करके ही कवि अपने पराजित नायक की कीर्त्ति-रक्षा कर सकता था। उसने अपने दुष्कर कर्म को सम्यक्तया समझ कर सुतरां सुष्ठुतया निभाया।

कुंभकर्ण का मन सब से अधिक युद्ध वर्णन में ही रमा है। जहां-जहाँ युद्ध का प्रसंग आया है कवि ने अपने कल्पना कौशल का परिचय दिया है। मीर तक्की के विरुद्ध कन्हीराम द्वारा किये युद्ध का वर्णन सर्वप्रथम दर्शनीय है:—

तिहि छछोह चहुवान को करिवर करी अछग्ग।
भात सहित जगनाथ मनु भंजन कुंभ दुभग्ग।।
कुंभ करिय कर कंचुकिय छोनि गये धसि दन।
धरहराय सयल्यंद्र धर ढेर भयौ मयमंत।।
\+ \+ \+
सिपर चिलक्कति सिलह तन भेद भयौ भंभार।
तक्कि मतंग उतंग परि सम गिरंद तर तार।।

इसके पश्चात् देवगिरि के घेरे के प्रसंग में गोपाल के गोला लगने का वर्णन भी द्रष्टव्य है :—

जंत्रह छुट्टी काल कल तुट्टी बीज आकास।
धर लुट्टिय तुट्टिय कमल हाँम न खुट्टी तास।।
तेज बभक्किय भान झळ वद्दलि किरणि अघात।
करि वाही सामंत कें धर धरि पूगे सात।।
आसमान दुंदुभि निसान थान थानहि धुनि उट्ठिग।
फुनि विमान जयजयतिमान मेघ सुमननि घन वुट्ठिग।।
चलिय जोति साजोति जुत्थ जुग्गनि किलकारिय।
त्रांबुकेस त्रय भवन कंठ कंमळ श्रृंगारिय।।
साँचौर द्रंग चहुवान कुल सिखर सिखर अंबर अरिय।
खह भुंमि भुंमि नर सुर सयन चक्रित चित्त विस्मय परिय।।

महावतखां के अधीन महेशदास की सेना के युद्ध का वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षादि अलंकारों से भरपूर और कल्पना वैचित्र्य का परिचायक है :—

सनाहं खिरै खग्ग धारं प्रपंनी। झमंके किंधू जुग्गनै भद्द रैनी।।

उड़ै झल्लरी टोप मुट्टूक खग्गे । उडं तंप झंपं खहं खिप्र मग्गे ।।
पराक्रंम उद्धंम जुद्धे प्रबंधे । मनौ बग्घ बाराहु पारद्धि रुंधे ।।
ननं व्रत्तमानं भवत्तं न भूते । अश्रुत्तं अभूतं सँग्रामं अभूते ।।

\+ \+ \+

हुई हल्ल हल्लै चढ्यौ खान गाजी । उठी वग्ग ता अग्ग तै तेक वाजी ।।

\+ \+ \+

हिरंनाख्य तामख्य लग्यौ धिगारे । भमक्यौ मनौ केहरी खंभ फ्फरे ।।
भये भार भूलोक दैतं विडारं । चलायौ मनौ चक्र साचक्रधारं ।।
गजं ग्राह उग्राह सद्दं भयानं । महाजुद्ध जाजुल्लि साविद्दिमानं ।।
भभक्की भयानं अयंनेत झाला । प्रलै काल जग्गी क क्रित्या कराला ।।
दलंसाह नंद मुखं दिव्यमानं । रहस्से प्रहस्से दुवादस्स भानं ।।
सबै सारपोसानि सानद्ध बद्धं । प्रफुल्ले उभल्ले दुभल्ले प्रसद्धं ।।
मुखं रत्त व्रन्नं चखं धोम झालं । क्रितंतेव भइमेव तत्रेव कालं ।।

इससे भी अधिक विकट युद्ध का वर्णन पद्धरी छंद में है :—

उर चेटि थेटि आखेटि दिघ । लिन्ने झपेटि गज जुत्थ सिंघ ।।
उडि छोह लोह आघात वात । सत खंड खंड गिर वज्रपात ।।
उरमो किलोल उत्थित महान । मूर्वीय कोटि पंचास तान ।।
तल अतल महर भुव ब्रह्म लोक । दिव चंद्र सूर उडु फेन भोग ।।
दुर्जर दुसाधि दुहकर अनेक । विग्राह ग्राह सफरह सतेक ।।
लख लक्ख देह जोजन दराज । तिमगिलह तिमहिगिल तिमें लाज ।।

\+ \+ \+

त्रय विकट मिच्छ संन्या विरोलि । लिय रत्न क्रित्ति सस्त्रनि झकोलि ।।
कुप्यौ कि प्रलय संघार काल । चख चक्रिति रुद्र भभकी कि झाल ।।

\+ \+ \+

वर तत्थ पत्थ वन इन्द्र मद्धि । जग्गी क ज्वाल क्रित्या प्रसिद्धि ।।
चहुँ ओर सुभट वाहंत खग्ग । झपटंत रोस आयास लग्ग ।।
परि पवक अंब डंडूर वाय । जस करिय कमल सर पंकवाय ।।

इसके बाद धड़ों के कट कर गिरने, हाथियों के भिड़ने, घोड़ों के पाखर कटने, वीर शरीरों के खंड-खंड होने, पृथ्वी के रुंड-मुंडों से आच्छन्न होने, रक्त-धारा के प्रवाहित होने, चौसठ योगिनियों के खप्पर भरने, वीरों और वैतालों के किलकने, कटे रुंडों के भी युद्ध रत रहने, गजकुंभों के भग्न होने आदि के वर्णन ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किस पंक्ति को यहाँ उद्धृत करें और किसको छोड़ें । सभी पंक्तियाँ एक से एक बढ़ कर हैं । पर फिर भी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

धर परत धरनि गय परत जुट्टि । हय परत सहित पक्खर स तुट्टि ।।
परि रुंड मुंड सत खंड बाहु । आच्छादि भुंमि भृत छत्र छाँहु ।।
भभकंति श्रोन मद ओघ तत्र । चलि उपटि पूरि चवसट्ठि पत्र ।।
किलकंत वीर वयताल पंति । खहचरह खेल कउतक हसंति ।।
धर लरत लोह सिर करत हक्क । कर उद्ध खग्ग गज कुंभ तक्क ।।
पय दसन दब्बि गयमंत सूर । जमदड्ढ गड्ढ बड्ढहि करूर ।।

\+ + +

परि दुपिय दिग्घ हय खंड खंड । आवर्त्त अनिल वनराय थंड ।।
धावत्त सूर रत रंग झोरि । मंजीठ मंट कड्ढे क बोरि ।।
रन खेत अट्ठ जोजन प्रमान । परि दुपिय दिग्घ हय पक्खरान ।।
पयदाति रत्थ पत्तन धनंज । हुव हुवह होम आलंम गंज ।।

कहरकोह के साथ हुई रसनसिंह की भिडंत का वर्णन भी युद्ध का प्रसंग माना जा सकता है । जब हाथी दुर्ग, बाजार, पट्टन आदि को रौंदता-तोड़ता आमखास तक आ पहुँचा तो उसे सीढ़ियाँ चढ़ता देख कर बहत्तर खान और सत्तर मीर भयभीत हो कर चित्र-लिखित से हो गये और उनके मुंह पीले पड़ गये । उस समय महेश पुत्र रतन ही उसे वशीभूत करने के लिए साहस जुटा पाया—

भय खास आम उप्पम उपाय । चल दलकि पत्र डंडूर वाय ।।
इहि विधि भयान सुविहान भ्रित्त । दिसि विदिसि त्रसत संग्या न चित्त ।।

तब रतन उस विकट गजराज से जूझ पड़ा—

गजराज कुँवर कुँवरह गजेन्द्र । प्रति जोध जोध उच्छव अतेन्द्र ।।

गजराज का प्रहार और रतन का दाव द्रष्टव्य था—

कर करिय मद्धि वेष्टित कुमार । द्रह जमुन कन्ह काली प्रकार ।।
धर दसन दब्बि दुव पय समेटि । त्राटंक संक रिख काल भेटि ।।
चव जुंटि उक्खि लंगूल जाल । उल्लरित उभय रद ताल ताल ।।
तिहि समय खतम मद नृभय मान । तकि फीलवान गजकुंभ थान ।।
जमदड्ढ कड्ढि रोपिय महान । उप्पारि लियव भुज आसमान ।।

इसी युद्ध का अन्त में जो परिणाम हुआ वह भी देखिए:—

मद रद गज्यंद्र आश्चर्य कौन । हुव दीन दरद मन मगज तौन ।।
झरहर भसुंड बहि रक्त धार । जावक गिर्यंद्र पावक भँमार ।।

सूकर वध के प्रसंग में भी रतन की त्वरा, निर्भीकता और प्रत्युत्पन्न मति आदि का वर्णन द्रष्टव्य है:—

सनमुक्ख रुक्ख तक्यौ कुमार । छुट्यौ छछोह मनु तोप तार ।।
गोलाकि गजब हुंनर इलाज । पहलै दिवाल पाछे अवाज ।।
पर पवन बाज पौंच्यौ सुआय । धरि दसन तुंड लिनौ उठाय ।।
अध मग्ग व्योम लग्यौ छडाल । बद्दल बिहाल जस तरित झाल ।।

रतन ने उत्तराखंड विजय में जो युद्ध किया उसका वर्णन भी कवि ने पूरे मन से किया है ।

गजे आतसं तोप बानं हवाई । प्रले कालि उट्ठे मनू मेघ धाई ।।
किलक्के गहक्के छके आसुरानं । नचे चौसठो वीर बावंन तानं ।।
तुटे बंधनं मत्त छंछाल छुट्टे । पलं काजि लंकाल भूखाल जुट्टे ।।
अकालं सरं बुंद धारा अचानं । घटा प्रावटा आगमं मेघमालं ।।
समं पक्खरं भक्खर फोल फारे । वरं बाज सा तत्र पत्रं चिकारे ।।
धुवंकार धुंकार हुंकार भारं । गुनं सिगन्यं तोप ओपं फंभारं ।।
भनंके परे भृंग चंगं सितारे । मनू सेन संगं पमंगं प्रकारे ।।
धसे पार चौधार संगं धमंके । कालिंद्री द्रहं जात्रकं तारकंके ।।

+ + + +

तरंगा परे अंग न्यारे वरंगं । सम कंचुकी खंड मंडं भुजंगं ।।
रदं खंड खंडं भुसुंड भयानं । मनू भंजनं भात नीलं गिरानं ।।
परे मंत मैमत खंडे धरन्नी । कपी राम काजं कि पाजं बरन्नी ।।
धरे पार पार वरं संगि नेजे । मनू जेतखम्भं अचंभं अजेजे ।।

+ + + +

दहू बाहु सामंत हक्के सुतानं । वनं जज्जरं पौन जू चित्रभानं ।।
नवं लक्ख मिच्छं महा व्यूह मानं । क्रितं खंड खंडं धसे मद्धि थानं ।।

परिणाम यह हुआ कि —

भगे आसुरं व्यूह दिस्सं विदिस्सं । भई आसमानी फतै जैत जस्स ।।
वरं जोजनं पंच पूरं प्रवाहं । रनंखेत तेते सलित्ता अगाहं ।।
भई जै जया सद्द आसान वानी । रतं पूर पत्रं त्रिपत्तं भवानी ।।

उज्जैन के युद्ध के वर्णन में कवि ऐसा रमा है कि यह स्पष्ट हो जाता है कि यही उसका उद्देश्य था और शेष सभी वर्णन केवल उसकी भूमिका के रूप में थे । इस युद्ध में पहले कुमार रायसिंह का युद्ध वर्णन द्रष्टव्य है: —

लग्गो सुसंगि तन कुँवर तच्छ । हत्थल उभारि खग स्यघ वच्छ ।।
निरलंग अंग वहि गय विमान । किय राह केत हर चक्र गान ।।
परि लोह बोह सिर कुँवर तत्त । पब्बय प्रजंनि घन प्रलय घत्त ।।

तत मध्य कुँवर रायस्यंघ मान। जग्यौ कि सोर सुर चित्रभान ।।
लग्गे समंद प्राकम प्रतेह। बलि द्वार दयत उपइंद्र देह ।।
त्रयदस विमान कउतक किलोल। पहुपंजलीव बरिखाइ लोल ।।
हुव खंड खंड लिंनो उठाय। जोर्यौ विरंच रज रज वनाय ।।

अमरा और भगवान नामक चौहान वीरों का युद्ध वर्णन भी उतना ही विकट है:—

निरधोम अग्गि जस जग्गि कुंड। वहि सरित श्रोन गज ग्राह तुंड ।।
आघाय घाय दुव दल गहक्कि। कल्लार द्वार मतवार छक्कि ।।
दुव चाहुवान इक नृपति अंग। व्रन करय करय संगय खतग ।।
सिर अमर रतन भगवान ज्वान। इक अइत अइत तुट्टे क्रिपान ।।
चामग्ह छत्र ले जैत जंग। किय नृपति निजरि जसराज संग ।।

+ + + +

टुट्टे क्रिपान संगिय खतंग। फुट्टे सनाह खुट्टे निसंग ।।
पट्टासि गुरज चुकमार चाहु। जमदड्ढ जरद फटि परिघ बाहु ।।

+ + + +

दिसि विदिसि धुंध सुज्झहि न भान। पस्सहि न अप्प द्रिग अप्प पान ।।
व्याकुल विवान खह ख्योभ मग्ग। भुज अनिल विनिल सापतति खग्ग ।।
भय सक्ति त्रिप्ति पलचर असंखि। न तु त्रिपति नृपति फुनि समर धंखि ।।

युद्ध के रक्त प्रवाह से शक्ति तृप्त हो गयी। मांस भक्षी पशु पक्षी तृप्त हो गये। पर राजा युद्ध करते-करते तृप्त नहीं हुआ। जसवंत-रतन की युयुत्सा का इससे बढ़ कर क्या उल्लेख हो सकता था!

परन्तु नहीं, कवि इतने युद्ध वर्णन से संतुष्ट कहां हो सकता था। यह तो मानो आरम्भ मात्र था। इसके वाद तो उसने युद्ध वर्णन के सर्वथा अनुरूप मोतीदाम छंद और ओज गुणोचित द्वित्व वर्णों वाली शब्दावली में युद्ध का भरपूर वर्णन किया और बताया कि तोपों, तीरों और रणतूर्यों के प्रचंड निनाद के फलस्वरूप धरा विकंपित हुई। सुमेरु विचलित हुआ। कोल और कमठ की पीठ भग्न होने लगी। खप्परों और पक्खरों के समूह खड़कने लगे। देवियां किलकारने लगीं। सांगें चमकने लगीं। रक्त स्रोत भभकने लगे। ज्वाला भड़कने लगी। इस वर्णन की एक-एक पंक्ति का दाम नहीं, एक-एक शब्द का, अपितु का एक-एक अक्षर का दाम एक-एक मोती नहीं, सौ-सौ मोती हो सकता है। इस वर्णन को शब्दों की माला कहें, या मोतियों की माला कहें—मोतीदाम कहें—सहृदय पाठक ही बताएं:—

छुटे वर तोप कवान रु वान। वजे रन तूर गजे असमान ॥
थरक्किय भूमि थरक्किय मेर। करक्किय कम्मठ कोल अफेर ॥
खरक्किय खप्पर पक्खर जूह। गहक्किय गोम कहक्किय व्यूह ॥
न हक्किय फेर तहाँ नृप वग्ग। निरच्छिय राजनि चच्छ सुमग्ग ॥
किलक्किय देवि भलक्किय सांग। चलक्किय वद्दल दामनि रंगि ॥
रलक्किय संगनि संगि छछोह। धमंकिय मद्धि कवच्चनि बोह ॥
भभक्किय सोत भटक्किय अंगि। कटक्किय दामनि वद्दल वग्गि ॥
लहक्किय साहि तलक्किय वाज। झलक्किय सिंध छलक्किय पाज ॥
चहक्किय सिंधु सुर सहनाय। ठहक्किय रंभ अयासनि आय ॥
कहक्किय हिंस हयंवर सद्द। डहक्किय डक्क स डैरुव नद्द ॥
चसक्किय पारि धसक्किय कुंत। ठनंकिय झल्लरि टोप फुटत ॥
रनंकिय झंझर नूपर हूर। छनंकिय खग्गनि अच्छरि चूर ॥
खनंकिय खुप्परि खग्ग छछोह। झनंकिय वीन मनंकिय मोह ॥

\+ \+ \+ \+

तरप्फहि अंग विखंडित बाज। करी मनु लंक हरी दधि पाज ॥
भरैं रत जुग्गनि खप्पर पूरि। चली सलिता मनु श्रोन सिँदूरि ॥

\+ \+ \+ \+

लगे प्रति जोधनि जोध उतंग। हड्डूडहमल्लकि सिंधु मतंग ॥
रच्यौ मनु भग्गल खेल भयान। तरंगनि अंग वरंगनि तान ॥

\+ \+ \+ \+

परैं गज कुंभ भसुंड सुदंत। त्रुटै कर जार विहार विभंत ॥
खिरैं मधि मुत्तिय कुंभ चुवात। मनू जगनाथ सुभंजन भात ॥

\+ \+ \+ \+

प्रपात अघात निघात निघात। रुक्यौ कपिराव न रावन भ्रात ॥
दुवै चहुँवान छछोहे सार। लये दल मिच्छ झपेटि जुझार ॥

\+ \+ \+ \+

चढ्यौ नृप पाय रकेबनि चपि। भये दन्न आसुर कंपि विकंपि ॥
धरी सिर औरँग बग्ग सुतक्क। कहक्कति जुग्गनि वीर किलक्क ॥
घटा गज वाज अचंभम मान। धप्यौ मृगराज महावल ज्वान ॥
बिदारत कुंभ भसुंडनि अग्ग। चमंकनि बद्दल हत्थल खग्ग ॥

युद्ध को देखते-देखते देवताओं के नेत्र थक गये। देव बालाओं के विमान तक स्तंभित रह गये। दुर्गा रक्तपान करके पूर्ण तृप्त हो गयी। रुद्र की रुंडमाला बन कर पूरी हो गयी। रतन ने सांगों से हाथियों के शुंड काट दिये, तलवारों से हौदे छिन्न-भिन्न कर दिये। रतन के शस्त्र भी टुकड़े-टुकड़े हो गये पर वह विजय स्तम्भ के समान अनम्य खड़ा रहा—

टूक टूक आयुध भयव वाज राज सत खंड ।
जयति खंभ ठाडौ रतन परिघ बाहु परचड ।।

रतन ने फिर प्रचंड युद्ध आरम्भ कर दिया । सेनाएं धड़ाधड़ गिरने लगीं । ध्वजांए खड़खड़ाने लगीं । चिंघाड़ते हुए हाथी चारों खाने चित्त पड़ने लगे । घोड़े ही नहीं उनके पाखर और रथ भी कट-कट कर उछल-उछल कर गिरने लगे । पदातियों के शरीर आक के डोडों के भीतर की रूई की तरह उड़ने लगे । तोपें, जंबूरें और नालियां आतिश उगलने लगीं ।

धर्ररंति चमू खररंति धजं । चव पाव तमाम चिराक गजं ।।
रथ जुत्थ तरंग सपक्खरयं । सम धक्क उचक्क जरक्क भयं ।।
पयदाति सुपायक मल्लन के । हन अर्क फँभूर अमल्लन के ।।
तन तोप जँबूर सरालन के । जस ओरे जु मेघ अकालन के ।।
जँत्र बान कबान अरावन के । सुप्रहार प्रहार सितावन के ।।
चवधार हजार सनेजन के । परि पार भँभार करेजन के ।।
+ + + +
खुरतार प्रहारति चापनि सें । गजकुंभ विदारति टापनि सें ।।
उचकै भभकै मद मंतिन सें । गहि दब्बि महावत दंतिन सें ।।
झिझकै न झमक्कति खग्गन सें । झपटै छत्रपत्ति अछग्गन सें ।।

यों शत्रु सेना का संहार करते हुए रतन को देख कर गंगा और गौरी चकित रह गयीं । शंकर प्रसन्न हो गये ।

जम दड्ढ भंजि भुज वत्थ बल प्रवल मिच्छ दल हक्कयौ ।
आचंभ संभ सुरसरि गवरि वर प्रमोद मन छक्कयौ ।।

रतन ने बिना शस्त्रों के युद्ध क्या आरम्भ किया शाहजादों की सेना में हलचल मच गयी । राजा ने मत्त मतंगों को मसल डाला । उनके दांत उखाड़ डाले । उनके रक्त के साथ कुंभ स्थल के मोती बहने लगे । शक्ति खप्पर भर-भर कर शोण पान करने लगी । मत्त गजराज भयभीत हो कर भाग खड़े हुए । उन्होंने अपनी ही सेना को कुचल डाला । तब मीरों ने बाथोंबाथ, मुष्टा-मुष्टी, युद्ध आरम्भ किया । फिर क्या था रतन ने हजारों मीरों को टांगें पकड़-पकड़ कर और घुमा-घुमा कर फेंका और चकना चूर कर दिया । उनको पकड़-पकड़ कर, मसल-मसल कर, उछाल-उछाल कर और फेंक-फेंक कर मारना आरंभ कर दिया । उनकी ग्रीवाएं पकड़-पकड़ कर तोड़ डालीं । भुजाएं उखाड़ दीं । पैर चीर दिये । कटि और भ्रू विन्यास काट दिये । उरःस्थल विदीर्ण कर डाले । पदों के प्रहार, करों के आघात तथा मुक्कों और लातों के प्रघात से दुष्टों को प्राण हीन कर दिया । शत्रुओं को शिर पकड़-पकड़ कर ऐसे भूमि पर पटका मानो धोबी वस्त्रों को शिला पर पीट रहा हो । भयातुर सिपाही आंसू बहाते हुए भाग पड़े:—

दुद्रवति द्रवति अश्रक प्रवाह । हत सेख तेख दिसि दिसि सिपाह ।।
रथ गज तुरंग चतुरंग चाव । ग्रहि ग्रहि मसंद मधकर सुजाव ।।
+ + + +
कोलुवन मद्धि जस ऊख खंड । ग्रस परिघ बाहु मधि साहु खंड ।।

फल यह हुआ कि—

थरहरिय सेन कंप्यौ सुभान । डंडूर वात चल दलकि पान ।।
+ + + +
अनेक लोह लग्गे सु अंग । हुव खंड खंड भुव गिरिग जंग ।।
साजोति जोति मद्धहि सुभान । परि त्रिपति अग्ग करि चाहुवान ।।
भगवान अमर सादूल नद । लगि धार धार अच्छरि सुव्यंद ।।

बस फिर तो कवि जसराज, रतन का भाई फतेहसिंह और पुत्र रायसिंह भी धराशायी हो गये । क्षिप्रा नदी मानो रतन के दंभ से उलटी बहने लगी हो ऐसी प्रखर रक्त की धारा बह चली ।

इसके बाद का रण भूमि का वर्णन तो कवि कल्पनाओं का निकषोपल जैसा प्रतीत होता है । कल्पना कौशल, वाग्वैदग्ध्य, पद लालित्य, अलंकार चमत्कार सभी कुछ द्रष्टव्य है ।

भननंकि विवान वरे वरके । झननंकित झंझरि अच्छरि के ।।
खग हत्थ छछोह जरद्दव की । चकमैं न कवच्चक सव्वन की ।।
गज कुंभ सनाहन खग्ग झरै । मनु भद्दव रैनि खिद्योत वरै ।।
लगि टट्टर टोप क्रिपान थकी । मनु झल्लरि प्रात प्रसादन की ।।
अवझट्ट भृगुट्ट उलालन के । रजु भंजन चक्र कुलालन के ।।
किरमाल सुखापनि तैं उपटी । घन मैं झल होरिका की लपटी ।।
गज सुंड भसुंड विखंड पते । टट वारधि ग्राह मनू सुपंते ।।
नग ठाह सिरस्सिर ठाह नगं । हयग्रीव नरं गजग्रीव लगं ।।
नर हत्थनि मत्थ करी करये । गज कंठनि सीस नरं धरये ।।
पय पान घने उतमंग परे । गज बाज नरं धर ढेर करे ।।
कहुँ पंच धरं पर इक्क सिरे । सिर इक्क कहूँ धर पंच गिरे ।।

क्या अद्भुत कल्पनाएं हैं ! गजराजों के शुंड कट-कट कर ऐसे गिर रहे थे मानो समुद्र के तट पर मकर सोये हों । हाथियों पर मुंड गिर रहे थे तो मुंडों पर गजराज गिर रहे थे । हाथियों और घोड़ों की गर्दनें कट-कट कर मानव मुंडों का स्थान ग्रहण कर रही थीं । मनुष्यों के करकमल गजराजों के मस्तकों पर जुड़ रहे थे तो गजराजों के शीश नर राजों के धड़ों पर मुंड बन रहे थे । कहीं पांच धड़ों पर एक मस्तक लग गया था तो कहीं एक ही रुंड पर पांच मुंड आ लगे थे । यों रुंडों और मुंडों से भूमि आच्छन्न हो गयी थी ।

अवनी रवनीर तरंग झुली । मनु सामन संझ प्रमंझ फुली ।।

इहि भाँति भयानक भुंमि वनी। पल झंपति सिद्ध सुरा रवनी।।
गज वाज बहादर जुत्थ गिरे। उलटे फल से कि पतंग झरे।।
इभ श्रेणि झिलंम सनूरन के। उलटे किंधु सैल सिंदूरन के।।
+ + + +
रन भुंमि प्रदीपनि उद्दत यूँ। रवि सगम संभ सरोतर ज्यूँ।।
निरधूम प्रपूर अँगारमयी। जल खंडित्र जद्दत्र पत्थ जई।।
गज कुंभनि छिद्र खतंगन के। उपटे कल जन्त्र पतंगन के।।
फररक्क भभक्कति घाव नरं। सुर पूर प्रवाह तुरंग तरं।।
सम बाहु विखंड बगत्तर के। जस कंचुकि टूक फनंधर के।।

अंत में युद्ध समाप्त हुआ। उस समय रतन का शरीर शस्त्रास्त्रों से विदीर्ण और खंड-विखंड हो कर कैसा लग रहा था यह भी अवधेय है:—

सहस्सह सट्ठ सु हिंदुव सेन। अलक्खह मीर परे रन तेन।।
रह्यौ रन रैन कमद्धज राज। मरुद्धर इन्द्रप्रसत्थह लाज।।
पचास सु नेजय संगि पचास। रह्ये तन मैं सुर दिक्ख हुलास।।
अछिद्र परंसय तीन खतंग। वने वह जंग पुरंग निखंग।।
भई सत एक विहार:बखान। टुटे सिर एक हजार क्रिपान।।
तुपक्कनि तीरनि छिद्र अनंध। कवच्चहु सारनि जारनि रंध।।
गजं गज गाहि रजं रज तंन। भयौ सिव भेस महेस सुतंन।।
दिख्यौ चख औरँग साहि मुरादि। गिर्यौ सुव संतन पंच इँद्रादि।।

अस्तु, शाही सेना के बड़े-बड़े सेनापति भाग गये तब भी तेरह शाखाओं के राठौड़ अड़े ही रहे। अन्त में उनका नायक रतनसिंह शिव की ज्योति से तद्रूप हो गया।

इहि भाँति भयानक भेख करे। त्रय जाम सँग्राम प्रनाम लरे।।
मिलि जोति रतंन भये अमरं। महाकाल उजंन महा सिपरं।।

और उस महापुरुष के सम्मुख विरोधी शाहजादे भी नतमस्तक हो ही गये।

रतनेसुर वंदि सुभान तये। सुपराक्रम पिक्खि हैरान भये।।

यों स्पष्ट है कि रतन रासो में युद्ध वर्णन ही कुंभकर्ण का सर्वाधिक आकर्षण विंदु रहा है।

## (५) रस निष्पत्ति

रसो वै सः

काव्य रस विषयक चर्चा-विवेचनों के आरम्भ में उपर्युक्त श्रुति की उद्धृति प्रायः देखने को मिलती है। जो समग्र ज्ञान-विज्ञान का उद्भव वैदिक श्रुतियों से ही मानते हैं वे यदि ऐसा करें तो आश्चर्य की बात नहीं है। काव्य रसज्ञों ने ही नहीं; आयुर्वेदविदों तक

ने इस श्रुति को अपने विवेचनों में उद्धृत किया है और रस अर्थात् पारद को ही सृष्टिकर्त्ता तक सिद्ध करने का यत्न किया है। पर वास्तव में इस श्रुति का न तो काव्य रसों से कोई सम्बन्ध है और न आयुर्वेद के रस-रसायनों से। दोनों ही प्रकरणों में इस का उल्लेख उतना ही अप्रासंगिक है जितना स्तनों के प्रकरण में 'अजागलस्तन' का।

काव्यों और रूपकों से सम्बन्धित रसों का प्राचीनतम उल्लेख पांचवें अनार्य वेद नाट्यशास्त्र में है। भरत के नाट्यशास्त्र के संप्रतिप्राप्त संस्कृत रूपान्तर में रस का उल्लेख इस सूत्र में है—**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः**। भरत ने एक सीधी-सादी बात कही है कि नाटकों में भाव विशेष का प्रसंग होने पर उससे सम्बन्धित विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की सम्यक् समायोजना कर दी जाएगी तो प्रेक्षक यथेष्ट आस्वादन कर पाएगा। यह सूत्र भरत के दीर्घकालिक रंगमंचीय अनुभव पर आधारित था।

नाट्यवेद की उत्पत्ति के प्रसंग में पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि जब ब्रह्मा ने द्विजेतरों के लिए नाट्यवेद नामक पंचम वेद का प्रणयन किया था तो देवराज इन्द्र ने इसके प्रयोग के विषय में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी थी और कहा था कि अनार्यों के इस वेद का प्रवर्त्तन देवों के लिए कठिन है, केवल भरत ही इस कार्य के संपादन में समर्थ हैं। उसने श्यामवर्णी अनार्य महिलाओं के स्थान पर गौरवर्णी अप्सराएं दे दी थीं और भरतपुत्रों ने उनके साथ मिल कर नाट्यवेद का संकुशल प्रवर्त्तन किया था। यह नाट्यवेद के आरम्भ काल की घटना थी।

पर भरत का नाट्यवेद संस्कृत में भाषान्तरित हो कर आर्यों की उदीच्य भूमि में पहुंचा तब तक यह घटना भुलायी जा चुकी थी। भरत मुनि जो मूलतः मुनि कदाचित् इसलिए कहलाए होंगे कि वे स्वयं रंगमंच पर आ कर बोलते नहीं थे अपितु नेपथ्य में ही चुपचाप स्वांग भरवाते रहते थे। 'स्वांग भरना' क्रिया के 'भरना' अंश का संबंध 'भरत' से हो तो आश्चर्य नहीं। पर परिवर्तित परिस्थितियों में वे ही भरत मुनि आर्य ऋषि-मुनियों की परम्परा में स्थान पा गये और उनका अनार्य नाट्यवेद भी आर्यों के अन्यान्य शास्त्रों के समकक्ष आदरणीय स्थान का पात्र हो गया। फलतः चार वेदों का अध्यापन कराने वाले आर्य आचार्यों को यह पांचवां अनार्य वेद भी पढ़ाना पड़ने लगा और मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त, व्याकरण आदि के ज्ञान के बल पर आर्य आचार्य नाट्य शास्त्र के अध्यापन में भी प्रवृत्त हो गये।

चतुर्वेदी आचार्यों ने पंचम वेद का अध्यापन संभाल तो लिया परन्तु उनको पदे-पदे कठिनाई होने लगी। भांति-भांति की शंकाएं और समस्याएं सम्मुख आयीं और उन सबका समाधान करने का यत्न दार्शनिक ज्ञान के बल पर किया जाने लगा। रस निष्पत्ति वाला सूत्र सभी व्याख्याताओं के लिए समस्या बन गया। प्रमुख समस्या यह थी कि जगदम्बा सीता जैसे आलंबन विभाव के प्रति क्या उसके पुत्रवत् प्रेक्षक के मन में रति भाव का उदय होगा? यदि होगा तो क्या वह पाप का भागी नहीं होगा? यदि उदय नहीं होगा तो उसका

आस्वादन कैसे होगा ? समस्या धर्ममूलक थी और तर्क ने उसे तूल दे दिया था । धर्म भीरु प्रेक्षक धर्म-संकट में पड़ गया था। तर्क-तर्कु, भ्रम-भ्रमि, विवेचन-वेम, और संशय-सूत्र की सहायता से व्याख्याता ने एक धर्मजाल का वयन कर लिया और वह स्वत एव उसमें आबद्ध हो गया । इस धर्म जाल से मुक्ति पाने के लिए आचार्य भट्ट लोल्लट आदि मीमांसकों ने आरोपवाद का मार्ग ढूंढा । बताया कि प्रेक्षक सीता या तदनुकर्त्ता पात्र पर अपनी प्रेयसी का आरोप कर लेगा और यों आस्वादन करने पर पाप का भागी न होगा ।

तर्क प्रवीण नैयायिक आरोपवाद से संतुष्ट न थे । फलतः श्रीशंकुक आदि आचार्यों ने चित्र-तुरग-न्याय का सहारा लिया और अनुमिति वाद की स्थापना की । अवास्तविक से वास्तविक के अनुमान की वात कही । प्रेक्षक के आस्वादन को केवल अनुमित आस्वादन बताया । पर समाधान संतोषजनक प्रमाणित नहीं हुआ । मीमांसक धर्मैकत्री थे तो नैयायिक तर्कैकवी थे । समस्या उभय मूला थी । फल यह हुआ कि अपने ही वयन किये हुए धर्मजाल से व्याख्याता-मृग मुक्त नहीं हो पाया ।

तब सांख्य, वेदान्त, प्रत्यभिज्ञा आदि दर्शनों के आचार्य इस धर्मजाल का छेदन-भेदन करने के लिए कटिबद्ध हुए । उन्होंने अपने शब्द जाल का सहारा लिया । सांख्यविदों ने बताया कि मूल तत्त्व तो जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष दो ही हैं । प्रकृति अपनी त्रिगुणात्मिका शक्ति से चतुर्विंशति रूपा हो जाती है । उधर निर्लिप्त चेतन पुरुष बुद्धि के साक्ष्य से सुख-दुःखादि का भोक्ता बन जाता है । परन्तु वही जीवात्म पुरुष जब सम्यक् ज्ञान के संपादन के फलस्वरूप पुनः सांख्य पुरुष बन जाता है तो पृथक् आत्मसत्ता खो देता है और पुनः आनंदमय हो जाता है । प्रकृति अपनी मूल अवस्था में एकात्मिका है, नाना रूपा नहीं है । जैसे ज्ञान के सम्यक् संपादन से प्रकृति और पुरुष अपने मूल रूप में पहुंचते हैं और पुरुष आनंदैक रूप रह जाता है उसी प्रकार नाट्य प्रेक्षण से भी एक ओर तो मूल नायक-नायिका या तदनुकारी पात्र प्रकृति की अवस्था में पहुंच जाते हैं, दूसरी ओर प्रेक्षक सांख्य पुरुष बन कर बुद्धि मूलक सुख-दुःख से मुक्त हो कर आनंदैक भोगी हो जाता है । इसी प्रसंग में अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व नामक शक्तियों का भी उल्लेख किया गया और साधारणीकरण का भी, जो भावी आचार्यों के लिए बहुत ही अमोघ शस्त्र सिद्ध हुआ ।

पर तब भी व्याख्याता स्वयं संतुष्ट नहीं थे । अन्त में वेदान्त और प्रत्यभिज्ञा आदि दर्शनों के विद्वान् आचार्य समाधान के लिए प्रस्तुत हुए । उन्होंने जीवात्मा की ब्रह्मरूप में परिणति या स्व-रूप-प्रत्यभिज्ञान को सच्चिदानंद रूप का आधार बताया । ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात होने पर, परावर के दृष्टिगोचर होने पर, जिस प्रकार हृदयग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सभी संशयों का छेदन हो जाता है तथा कर्मों का लय हो जाता है; उसी प्रकार ब्रह्मानंद सहोदर रसानंद के आस्वादन से भी होता है । जिस प्रकार जीवात्मा की परमात्म रूप परिणति या तादात्म्य भावना उसकी पृथक् सत्ता का लोप कर देती है उसी प्रकार नाटक के नायक-नायिकाएँ, तदनुकारी अभिनेता-अभिनेत्रियां और प्रेक्षक-प्रेक्षिकाएं भी पृथक् जीवात्म भाव को त्याग कर साधारण ब्रह्म भाव को या रसिक भाव को प्राप्त हो जाते हैं

और साधारणीकरण के फलस्वरूप रसानंद के भागी हो जाते हैं। सीता देवी जगदम्बा सीता न रह कर साधारणीकृत हो जाती है और नायिका मात्र रह जाती है; साधारण विभाव बन जाती है। उधर प्रेक्षक अपने पृथक् जीवात्म रूप को छोड़ कर पुरुष-नायक मात्र रह जाता है। जब माता पुत्र की व्यक्तिमूलक सत्ता ही लुप्त हो जायेगी तो व्यक्ति रूप जीवात्मा को प्राप्त होने वाले पाप-किल्विषों का प्रश्न उपस्थित नहीं होगा; प्रेक्षक के धर्म-च्युत होने का भय नहीं रहेगा।

यों सांख्य, वेदान्त, प्रत्यभिज्ञा आदि विविध दर्शनों के ज्ञान के बल पर भट्टनायक और अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने परस्पर एक मत न होते हुए भी 'साधारणीकरण' नामक वाग्जाल से मीमांसकों-नैयायिकों के धर्मजाल को आवृत कर दिया और घोषित कर दिया कि धर्मजाल छिन्न-विच्छिन्न हो गया है। राम-सीता आदि पूज्य पुरुषों के रत्यादि भावों के आस्वादन का अधिकार साधारणीकृत प्रेक्षक को हो गया और उसे किसी प्रकार की धर्म-क्षति की चिंता न रही। इसके बाद तो कोई एक सहस्र वर्ष तक 'साधारणीकरण' का एक छत्र राज्य रहा और उसके विरुद्ध शंका उपस्थित करने वालों के दर्शन नहीं हुए।

यों साधारणीकरण का समाधान आया तो सही पर फिर भी नैयायिकों और मीमांसकों के तर्क-वितर्कों के फलस्वरूप एक अप्रिय घटना घटित हो ही चुकी थी। आरंभ में अभिनयों की उत्पत्ति समझाते हुए यह बताया जा चुका है कि मूलतः ब्रह्म, ब्रह्म विद्या, ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्या आदि शब्दों के क्या अर्थ थे और ब्रह्म (आकाश तत्त्व) से उत्पन्न सृष्टि का विवेचन करने वाली विद्या (ब्रह्म विद्या) और ब्रह्म (आकाश) में विचरण करने वाले ग्रह-तारा-पिंडों (ब्रह्मचारियों) की गतिस्थिति वाले विवेचक ज्योतिषशास्त्र (ब्रह्मचर्या) का अध्यापन कराने के लिए अभिनयों की सरस शैली का प्रवर्त्तन किस प्रकार हुआ था। वहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि ज्योतिष और सृष्टि विद्या जैसे जटिल और दुर्बोध विषयों का प्रचार करने के साधन स्वरूप ही अभिनयों का आरंभ हुआ था। और उनके माध्यम से ब्रह्मचारी (ज्योतिष के छात्र) बहुत सरलता से शास्त्र ज्ञान प्राप्त करते थे। परन्तु मीमांसकों और नैयायिकों की टीकाएं प्रस्तुत होने के समय तक ब्रह्म, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्या आदि के ये अर्थ विस्मृत हो चुके थे। फलतः आरोपमूलक, अनुमितिमूलक या साधारणीकरणमूलक आस्वादन की व्याख्याओं ने आचार्यों को चिंतित कर दिया। टीकाकारों के समाधानों ने गृहस्थ प्रेक्षकों की तो धर्मक्षति की चिंता दूर कर दी थी पर ब्रह्मचारियों की धर्मक्षति का समाधान उन्होंने नहीं ढूंढ़ा था। प्रेक्षक को शृंगार रस का आस्वादन तो होगा ही चाहे वह अपनी प्रेयसी के आरोप द्वारा हो चाहे साधारणीकरण द्वारा। रतिभाव का आस्वादन ब्रह्मचारी के लिए किसी प्रकार विहित नहीं माना जा सकता था। टीकाकारों ने समाधान केवल यह दिया था कि रतिभाव के आस्वादन से प्रेक्षक की वह धर्मक्षति नहीं होगी जो उसे मातृवत् पूज्या सीतादि के विभाव रूप में उपस्थित होने पर हो सकती थी पर आस्वादन की सत्ता का निषेध टीकाकारों ने नहीं किया था। अतः रत्यादि भावों के आस्वादन की जिसमें संभावना हो उस नाट्य को देखने की अनुमति ब्रह्मचारी को नहीं दी जा सकती थी। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मचारियों की निषेध-सूची में रूपक-प्रेक्षण भी जुड़ गया। जिस अभिनय की

उत्पत्ति ही ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्या का ज्ञान कराने के लिए हुई थी वही अभिनय उसी ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध हो गया। पर इस विडंबना के लिए क्या टीकाकारों को दोष दिया जाए ? वे तो मूलतः चतुर्वेदी थे, पांचवां वेद पढ़ाने के लिए बाध्य हो गये थे। जब समस्त ज्ञान-विज्ञान का उद्‌गम उदीच्य ही माना जा चुका था तो ऐसे परिणाम अस्वाभाविक न थे।

इस प्रसंगागत विषयान्तर के पश्चात् एक बार पुनः साधारणीकरण पर विचार किया जाए जिसे आचार्यों ने सर्वस्व मान लिया था। लगभग एक सहस्राब्द तक उस सिद्धान्त की निर्द्वंद्व सत्ता रही। किसी ने उस पर शंका प्रकट न की। संभवतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उस पर नये दृष्टिकोण से विचार किया। उन्होंने एक बहुत स्वाभाविक प्रश्न उठाया कि रावण द्वारा सीता के प्रति अभिव्यक्त क्रोध के रौद्र प्रसंग में क्या पाठक-प्रेक्षक का रावण के साथ साधारणीकरण होगा ? टीकाकारों और आचार्यों ने सीता-प्रेक्षक के परस्पर रति-रसन की ही मीमांसा की थी और उसमें उत्पन्न समस्या का समाधान साधारणीकरण से हो गया था पर साधारणीकरण के इस सूत्र को अन्य रसों के प्रसंग में लागू करके किसी ने न देखा था। शुक्ल जी का प्रश्न बहुत ही संगत और स्वाभाविक था। रावण के साथ प्रेक्षक-पाठक का साधारणीकरण हो कर सीता के प्रति उसके हृदय में भी क्रोध का भाव उत्पन्न होना संभव नहीं। उसके विपरीत उसके मुख से तो सहसा यही निकलेगा।

अहो सेयं सीता दशवदननीता हलरदैः।
परीता रक्षोभिः श्रयंत विवशा कामपि दशाम् ।।

निःसंदेह श्रृंगारेतर प्रसंगों में 'साधारणीकरण' का सूत्र ठीक नहीं बैठता। वह ठीक तभी बैठ सकता है जब स्वयं साधारणीकरण की ही व्याख्या नये सिरे से की जाए। अभिनव अभिनवगुप्त आचार्य नगेन्द्र का 'साधारणीकरण' विषयक अभिनव दृष्टिकोण पर्याप्त परिपुष्ट है कि साधारणीकरण पाठक-प्रेक्षक और कवि-नाटककार के बीच होता है। अर्थात् जिस पात्र के प्रति कवि या नाटककार के मन में जिस प्रकार की भावना होती है उसके प्रति वैसी ही भावना का उदय वह पाठक-प्रेक्षक में करवाना चाहता है। यदि इसमें वह सफल है तो उसकी कला फलवती है अन्यथा निष्फल और वाग् विलोडन मात्र है। वास्तव में इसी सफलता के लिए कुछ सूत्र भरत ने बताये थे। उसने यह निर्देश कर दिया था कि किस प्रसंग में किस प्रकार के विभावों, अनुभावों और संचारियों से भाव विशेष की रस रूप परिणति संभव है। यदि उसके मन्तव्य को टीकाकार न समझे हों तो उसका दोष नहीं है।

रतन रासो में निष्पन्न रसों की चर्चा से पूर्व यह विवेचन आवश्यक था क्योंकि एक तो भरत सूत्र के टीकाकारों ने बहुत कुछ शब्द जाल का वितान किया है और दूसरे काव्यालोचन में रस का सर्वोपरि स्थान माना जाता रहा है। अतः रस निष्पत्ति विषयक यह विवेचन अप्रासंगिक नहीं है।

अस्तु, अब रतन रासो की रस संपदा पर विचार करेंगे। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रतन रासो कार मुख्यत: वीर रस का कवि है। उसका मन वीर रस के प्रसंगों में ही सर्वाधिक रमा है और वीर रस के उपादानों का समायोजन करने में ही उसे अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। भावों की रस रूप परिणति के लिए विभावों की सम्यक् योजना सर्वाधिक अपेक्षित होती है। विभाव भी दो प्रकार के होते हैं :—आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव। जिन व्यक्तियों के प्रति आश्रय के मन में उत्साह उत्पन्न होता है वे आलंबन होते हैं और जो वातावरण उस भाव के उत्कर्ष में साधक होता है वह उद्दीपन कहलाता है। भाव विशेष का उदय होने पर आश्रय की जो चेष्टाएं होती हैं वे अनुभाव कहलाती हैं। यदि विभावों और अनुभावों की सम्यक् योजनाएं हो जाएं तो रस निष्पत्ति की आशा की जा सकती है। यदि प्रकरणोचित संचारी भावों का भी समावेश हो जाए तब तो चार चाँद लग जायेंगे।

वीर रस के प्रसंग में नायक अर्थात् आश्रय के प्रतिपक्षी आलंबन की विकटता का जितना ही अधिक वर्णन होगा उतना ही भावोदय संभव होगा और रस निष्पत्ति सहज होगी। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कुंभकर्ण ने प्रतिनायकों के अपूर्व बल वैभव, अजेय सैन्य समूह, दुर्गम दुर्ग-पट्टन आदि का वर्णन करके आलंबन चित्रण में कोई अभाव नहीं रहने दिया है। देवगिरि की दुर्गमता, तीन शाहों के प्रचंड सैन्य बल, कहरकोह के विकट और अजेय रूप, सूकर और मेवासों के विकट अंग विन्यास, छः खंडों के यवनों के अदम्य शक्ति संचय, शाहजादों की विकट गजवाजि वाहिनी, अजेय शक्ति संपन्नता, अनंत युद्ध सामग्री और अनेक बार भयावह भविष्य वाणियों का वर्णन करके कवि ने सभी प्रसंगों में उपयुक्त विभाव योजना की है। उसी प्रकार तोपों की गड़गड़ाहट, तीरों की सरसराहट, कटारों की चमचमाहट, खड्गों की खडाखड, तोमरों की तड़ातड़, नगाड़ों की गड़ागड़ हयों की हिनहिनाहट, गजों का गर्जन, युद्ध भूमि में शंकर के गणों का आगमन, अप्सराओं का स्वयंवरार्थ समागम, देवों का युद्ध दर्शनार्थ विमान वहन, नारद और तुंबरु प्रभृति गायक गंधर्वों का वाद्य निनाद आदि एक भी ऐसे प्रसंग का वर्णन करना कवि नहीं भूला जो युद्ध के विकट वातावरण की सृष्टि में साधक हो सकता था। कवि की सबसे अधिक सूक्ष्म दृष्टि वहाँ प्रकट होती है जहाँ वह युद्ध भूमि में कट कट-कर गिरे हुए गजों, वाजियों और नरों के रुंडों और मुंडों के परस्पर जुड़ जाने की कल्पना करता है। कहीं एक रुंड पर पांच मुंड लगे हैं तो कहीं पांच रुंडों पर एक ही मुंड जा जुड़ा है। कहीं गज कुंभ स्थलों के स्थान पर नरमुंड जा लगे हैं तो कहीं वाजिराजों के शीश नर राजों के धड़ों से जा जुड़े हैं। कहीं हयग्रीव नरराज प्रकट हुए हैं तो कहीं गजानन वाजिराज। कहीं पंचानन गजराज दृष्टिगोचर हुए हैं तो कहीं चतुष्पाद नरराज। निस्संदेह ये सब प्रसंग युद्धवीर की निष्पत्ति में अपूर्व सहायक सिद्ध हुए हैं। वातावरण चित्रण का नमूना देखिए :—

बाजार हट्ट बालदि बयल्ल। गंदाल साह दर हाल हल्ल।।
नीसान नद्द भुव कंप चाल। पर सद्द नद्द गर्जित पताल।।

लोपिय अजाद मनु उदधि सत्त। कलपंत अंत मह प्रलय घत्त ।।
खह धूरि पूरि धुंधरि दिसान। दिसि विदिसि दंग सुज्झहि न भान।।
तल अतल वितल भू आसमान । भय अनल विनल पस्सहि नपान ।।
कंकनिय चिल्लि अच्छिय कयेक। वयताल जख्य किंनर अनेक ।।
चवसट्ठि सत्थि पंचादु वीर । प्रेरक पिनाक तांडीर तीर ।।
दक्खिन दुराधि खट खंड मिच्छ। सर स्यंध पाज कौतुक्क इच्छ ।।
नहफेरि भेरि सहनाय नद्द। रिण तूर चंग जंगीर वद्द ।।

एक और प्रसंग देखिए :—

वेवाह वणंदे सिंधुव संदे गंध्रप छंदे गायंदे।
डँवरू डहकंदे तंडव तंदे त्रिपुर अनंदे निरतंदे।।
वावन वहसंदे वीर वरंदे जुत्थ जुंडदे जुगन्यंदे।
कवि कला चढंदे जिमि विय चंदे विरद पढंदे विवधंदे।।

वीर गोपाल की वीर गति के चित्रण के दो दोहे तो और भी द्रष्टव्य हैं :—

जंत्रह छुट्टी काल कल तुट्टी बीज अकास।
धर लुट्टिय तुट्टिय कमल हाँम न खुट्टी तास ।।
तेज वभक्किय भान झळ वह्लि किरंण अघात।
करि वाही सामंत के धर धरि पूगे सात ।।

दक्षिण के तीन सुलतानों की विकट वाहिनियों के वीरों का एक स्वरूप चित्रण देखिए :—

छणकनि जिरहाँ सार दी कड़ियाँ कड़ियाले।
वंधनि जिरहाँ सार पोस चिलकंताँ वाले ।।
गरदनि फोल मसत्त जोस चौवर दस्ताले।
कद्द विलंद मनाहरे किल्ले भुरजाले ।।
कड्ढनि दंद हवक्कि हत्थ गिरकंद उखाले।
छक्के सार सराव वीर वंके मतिवाले ।।

युद्ध का वास्तविक वर्णन उससे भी विकट है :—

रदं खंड न्यारे विहारे भसुंडं। परे खंभ रंभं कि भै नक्र तुंडं ।।
करी अंग जंगं वरं श्रोन लाला। मनू द्रोण संजीवनी दोपमाला ।।
\+ \+ \+
परे उत्तमंगं धरं जंघ नारे । मनू भग्गलं नट्ट विद्या प्रकारे ।।
\+ \+ \+

भभक्कंति संगी खतंगी न वारी । मनू पावकं जावकं छिद्र जारी ।।

+ + +

परे खंड खंडं रदं कुंभ न्यारे । किराती गिरातीन कंदं उखारे ।।

+ + +

दुभग्गं दुपंगं गजं खग्ग झारे । मनौ पूरवाइं मनारं कनारे ।।

+ + +

मिले द्वादसं मेघ घोखं उखारं । प्रलै काल वुट्ठे मनौ श्रोन धारं ।।

कहरकोह की प्रचंडता का वर्णन उसे एक प्रतिनायक के तुल्य ही मान कर किया गया है :—

लंगरह कहर तोरनि तराक । चूरिक्कि कच्च भंजत भराक ।।
खौ ठहर सहर महरम उदास । सव सावधान सुर घंट तास ।।

सूकर के वर्णन में भी कवि ने उसे उतना ही महत्त्व दिया है जितना किसी प्रतिनायक को दिया जाना चाहिए । उसके विकट स्वरूप का वर्णन उसे उत्साह का आलंबन बनाने के लिए यथेष्ट है :—

उत्तंग अंग उप्पम विधान । नव जलद जलज गिर घटावान ।।
निक्रोध पेड़ वर पृथुल कंध । पय महिख मंत खगहा प्रवंध ।।
भय भीह मुंड तुंडह वलाय । गिर शृंग दसन पंकति लगाय ।।
उल्लरित तुंड भुववर विहार । उझटंति ध्रखन सावातिगार ।।
धरि धरिव दंत छिच्छिन्न उपारि । कउतक किलोल वन वर विहारि ।।
पंजा प्रपूर सैं गोल गोल । खुर वज्र घात उझटंत टोल ।।

ऐसे ही प्रचंड वराह राज् का तुंड पकड कर रतन उसे घोड़े पर चढ़ा-चढ़ा ले भागा । उसके वर्णन से निस्संदेह वीर रस की सम्यक् निष्पत्ति हो पायी ।

मेवासों की विकटता भी कम नहीं है:—

आजान वाहु परिगहि प्रमान । वर प्रथुल कंध केहरि समान ।।
दुव हत्थ हत्थ छत्तिय दराज । कर करिय मंड भुव डंड साज ।।

+ + + +

आकाल काल चुक्कहि न तीर । सुर सव्द वेध आदिष्टि धीर ।।
निधडक्क हक्क निज भवन मंत । सुलितान थान मद्धहि धसंत ।।
तस नजरि ताप झल्लै न सेर । सनमुक्ख छंडि मग चलहि फेर ।।

छः खंड के प्रचंड दलों का वर्णन उत्साह वृद्धि में निस्संदेह सफल है:—

खुरासान खट खंड चंड ऐदल प्रचंड दल।
उदधि बान हय हल्ल बेल भय भंग हल्ल चल ।।
इक्क समय कलपंत प्रलय कारन घन उट्ठिग।
तुपक तीर जंबूर गोर ओरे मनु बुट्ठिग ।।
सानो किरान सुविहान छल ग्रासमान थंभित पतन।
हिंदु पहलवान खुरसान जँग तदिन टेक रक्खिग रतन ।।

उज्जैन-समय के विकट युद्धों, सैन्य संचालनों, गज गर्जनाओं, बाजि विजयों, तुरी स्वराओं, पदाति प्रयाणों, सैंधव गायनों, तूर्य निनादों, मृदंग आतोदनों, योगिनियों के खप्परों, शंकर के तांडवों और डमरू वादनों आदि के विकट वर्णन युद्धोत्साह की प्रचंडतम सृष्टि में सहायक हैं।

तहाँ ग्रिद्ध चिल्ली खहं पक्ख पंती। तहाँ अच्छरी दूर सिंधुं थटंती ।।
तहाँ चौसठी जोगनी खेत्रपाला। तहाँ डक्क डैरूँ पिनाकं जटाला ।।
तहाँ कोटि तेतीस रिक्खं ततिक्खं। तहाँ गंध्रपं किन्नरं सिद्ध जिक्खं ।।
तहाँ नद्द नीसान सद्दं नफेरी। तहाँ झंझरो झल्लरी नद्द भेरी ।।
तहाँ पक्खरै सिंघ सद्रूप चंडी। करं खप्परै सूल खग्गं प्रचंडी ।।

उत्साह से समन्वित वीरों के अनुभावों—चेष्टाकलापों—का वर्णन तो और भी प्रचंड है:—

रच्यौ मनु भग्गल खेल भयान। तरंगनि अंग बरंगनि तान ।।
लगे चहुँ ओर मसंद नयंद। सकंदह तार वृतासुर इंद ।।
कले कपि कुंभहक्रंन समान। भयौ असि तत्थ सुरत्थ समान ।।
गिर्यौ नृप खंड विखंड सुरंग। लयौ इक मीर पछारि तुरंग ।।
चढ्यौ महाराज बहादर रैन। जयज्जय शब्द कहे सुर गैन ।।
करै भगवान सु अंमर लोह। सुमिच्छ तुरंग वरंग छछोह ।।
परै गज कुंभ भसुंड़ सुदंत। त्रुटै कर जार विहार विभंत ।।

युद्ध वीर के निष्पादन में कवि जितना सफल हुआ है उतना और किसी रस के निष्पादन में कदाचित् नहीं हुआ।

वीर रस के एक भेद दानवीर के उपादान जुटाने का यत्न कवि ने कविराजों को दिये दानों के प्रसंग में किया है। पहले तो मल्ल कवि के राजा द्वारा सम्मानित होने का वर्णन है:—

कुरब सुकीरति पुत्र कहि दुव साँसन दुव लाख।
दुव मतंग भूखन वसन मुक्तमाल मुस्ताख ।।
गहिव पंन बंगाल पर उदयसिंघ महाबाहु।

करनि करिन्द्र कविन्द्र दिय नृप दीने पतिसाहु ।।
सो तुरंग दहसै दरक भृत सरवग्गि मँगाय ।
हुकम निवाज सिहित किये दिये नेग लिखवाय ।।

इससे आगे नेगों का भी वर्णन है ।

भूतकाल के विविध राजाओं द्वारा दिये गये दानों का वर्णन दाता को जोश दिलाने के लिए द्रष्टव्य है । रावल जाम ने ईसर बारहट को कोटि समुद्र का शासन-पत्र दिया; तमायच राज ने साँवल कवि को बावन लाख का आउट्ठ प्रदेश दिया; भोजपुत्र मुद्गल ने छः मास तक प्रतिदिन प्रभात बेला में सवा कोटि दान दिया; सिरोही के राव सुरतान ने कवि दुरसा को अबोहर का दुर्ग दे दिया; फूल पुत्र लखपत ने मालव कवि को सौ पुर दान दिये; पृथ्वीराज ने जयचंद के राज कवि केदार को करोड़ मोहरें दीं; उधर जयचन्द ने पृथ्वीराज के राजकवि चंद को सौ मन नग और मोती तथा सौ मन सोना, सौ हाथी और दो सौ जलतर घोड़े दिये; विक्रम ने बेताल को अगणित धन राशि दी; शंकर कवि को रायसिंह ने नागोर की सवा कोटि भूमि दी; आसकरण कवि को करमसिंह ने कोटि भूमि दी । ये सभी उल्लेख दान वीरों का उत्साह बढ़ाने के लिए हैं । फिर भी यदि दान पात्र कवि न हो कर कोई निर्धन रहा होता तो कदाचित् दानवीर की अधिक अच्छी अवतारणा हुई होती ।

वीर के साथी रसों में रौद्र और भयानक रस प्रमुख हैं । अद्भुत की समायोजना भी की जा सकती है और वह उपयोगी ही होती है ।

दक्षिण के तीन सुलतानों के कुपित होने का वर्णन रौद्र रस की किंचित् अवतारणा कर पाया है: —

सुनि कग्गद त्रय बादिस्याह ज्यूँ अग्गि पराले ।
लग्गी पवन बिलंद बीचि भरलक्की झाले ।।
होर अँत्राराँ गंध काण रू सोर फुराले ।
भाहि भट्ट की घाहि गंज भरि वत्थ उलाले ।।
तापनि झालरिण ग्रीखमाण ज्यूँ भाण भलाले ।
लगो दोउ सुविहान दे घर जग्गी चाले ।।

यहां उपमानों की सहायता से रौद्र रूप का प्रचंड वर्णन किया गया है । बिना प्रसंग भी कवि ने अकबर के एक रौद्र रूप की अच्छी अवतारणा की है:—

जाल हाल चख लाल हुव महिख स्यंभ हिरनख्य ।
तम सित रत तौलिव तरसि गहि समसेर प्रतख्य ।।

कहरकोह के रौद्र रूप का वर्णन भी द्रष्टव्य है:—

करि खंड खंड दरखतिनि डारि। ले चीर चीर नंखहि उखारि॥
+ + + +
पय पहर छील पोगर लगाय। पुनि चीर चीर वटभर बनाय॥
पय दाबि दाबि सरकाय तत्र। दिल अंदरेव अंतक वचित्र॥
+ + + +
फुनि फेरि फेरि वट भरि वनाय। द्रिढ करखि झटकि मुह करि वधाय॥
उल्लरित दसन धर मद्धि भाव। मनु भू विहार लगूल दाव॥
बिट्ठहि जु पिट्ठि परपवन पंखि। इक पहर कहर धूनत अनंखि॥

भयानक का उत्तम उदाहरण समग्र दक्षिण में मधकर और महावत खां का भय व्याप्त हो जाने के प्रसंग में है:—

चलि ईरान तुरान कूँ दहसति तरफ तरप्फ।
दक्खिन स्यंघल हवस डर हिंमति हिंदु हरप्फ॥
अन्दरि किल्ले जाहराँ भई हकीकत सव्व।
तह चल्ली दहसति बढी मान गुमान गरव्व॥

कहरकोह से भयभीत बहत्तर खानों और सत्तर मीरों का चित्र भी द्रष्टव्य है:—

बोहतरि सुखान सत्तरि सुमीर। विन प्रान तान चित्रह सरीर॥
गिर परत सस्त्र उर तस्त लाय। सुर भंग कंप मुख पंडुराय॥
खत्तावसान अवसान सिद्ध। विन हंस दंस थड्ढे अनिद्ध॥
भय खास आम उप्पम उपाय। चल दलकि पत्र डंडूर वाय॥
इहि विधि भयान सुविहान भ्रित्त। दिसि विदिसि त्रसत संग्यान चित्त॥

इस छोटे से वर्णन में अनुभावों की झड़ी लग गयी है। विभाव में कहरकोह का वर्णन पहले किया ही गया है।

युद्ध वर्णन के प्रसंग में कवि लोग अद्‌भुत की अवतारणा भी अवश्य करते हैं। यह कवि-समय है कि युद्धभूमि में युद्ध दर्शन के लिये शिव और भद्र अपने गणों सहित आ जाते हैं और चुन-चुन कर रुंड मालाएं एकत्र करते हैं। चौसठ योगिनियां अपने खप्पर ले कर शोण पान के लिये आ जाती हैं। गंधर्व गायन करने आ जाते हैं। अप्सराएं अपने भावी वरों का वरण करने के लिये युद्धभूमि को ही स्वयंवर भूमि बना देती हैं। देवता लोग युद्धभूमि की एक-एक घटना के साक्षी बनने के लिये उपस्थित हो ज़ाते हैं और पुष्प वृष्टि करते हैं। ये सब वर्णन आश्चर्य की सृष्टि करते हैं। रतन रासो का कवि भी इस कला में दक्ष है :—

आसमान दुंदुभि निसान थान थानहि धुनि उट्ठिग।
फुनि विमान जयजयतिमान मेघ सुमननि घन वुट्ठिग॥

चलिय जोति साजोति जुत्थ जुग्गनि किलकारिया ।
आंवुकेस त्रय भवन कंठ कंमल · सिंगारिय ।।
साँचौर द्रु ग चहुवान कुल सिखर सिखर अ ंवर अरिय ।
खह भुंमि भुंमि नर सुर सयन चक्रित चित्त विस्मय परिय ।।

अन्यत्र भी ऐसे ही वर्णन हैं :—

गनेसं गनं संभु वीरं सकंदं । सुरं आसुरं किंनरं जख्यनंदं ।
गुनं गंध्रपं अच्छरं हूर आये । त्रिनालंव्य तंती महंती वजाये ।।

रतन के तपस्या करने पर शिव के प्रकट होने का वर्णन भी अद्भुत की सृष्टि करता है । वह पूरा ही प्रसंग द्रष्टव्य है ।

उक्षि यंत्र का प्रसंग भी अद्भुत की सृष्टि का उत्तम उदाहरण है :—

सिंदूर तेल चंवरं । सुगंध धूप डंवरं ।।
अनेक पुप्फ मालिका । प्रपूजि जंत्र कालिका ।।
सतूर भेर नद्दयं । मृदंग धुंग सद्दयं ।।
निसान थान थानयं । धुनिं घनागमानयं ।।
प्रनामि दुंदुभान के । सघोख मंगलान के ।।
सुमन्न स्वेत पीतयं । सकुंदनं रजीतयं ।।
गज्यंद्र इंद्र गामिनी । सुदिव्वि गान भामिनी ।।
अनेक दिव्य धारहीं । सुवार वार झारहीं ।।

कवि जसराज द्वारा विजाज छंद में की हुई अंवा की स्तुति का प्रसंग भी ऐसा ही है ।

शृंगार रस सदा रस राज माना जाता रहा है पर रतन रासो में कुंभकर्ण का मन उसके प्रसंग में सबसे कम रमा है । शृंगार का साहित्य शास्त्रियों द्वारा महत्त्व प्रतिपादन देख कर ही संभवतः कुंभकर्ण ने रतन रासो में उसके समावेश के दो स्थल ढूंढे हैं, अन्यथा कदाचित् वह उसे स्थान नहीं देता । वैसे दरबारी कवियों में राज रानियों के शृंगार वर्णन का तो कदाचित् निषेध था । कुंभकर्ण के प्रायः समसामयिक और समसभेय रघुनाथ ने लिखा था—'जे हैं पटरानी सो तो माता करि जानी ।' जिस रघुनाथ का वर्ण्य विषय ही शृंगारी था और जिसने नख शिख वर्णन में ही अधिकांश कवित्व प्रदर्शित किया है, उसने भी राज रानियों का नहीं, उनकी सहचरियों का ही नखशिख वर्णन किया है । रतन रासो की कथावस्तु में वैसे ही सती होने के अतिरिक्त राजरानियों का कोई प्रसंग नहीं आता अतः कवि उन्हें शृंगारी प्रसंगों में कहां घसीटता । उसने शाही हरम की दासियों के नखशिख का वर्णन कर अपने कविकर्म का पालन कर लिया। उस वर्णन में अवश्य एक-एक अंग का उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की सहायता से ऐसा वर्णन किया है कि शृंगारोचित विभाव

चित्रण की पराकाष्ठा हो गयी है। वृद्ध नाराच छंद भी उस प्रसंग में ऐसा लगता है मानो ऐसे ही वर्णनों के लिये उसका वर्ण-आयोजन किया हो। कहाँ शिव तांडव का छंद, और कहां नखशिख का वर्णन। पर कवि ने जैसे उसका उपयोग ही बदल दिया—

विसाल भाल पट्ट प्रेम ना तमाल पत्रये।
मनौ मयंक प्रेम अंक रोहिनो वचित्रये।।
विसाल वाल भूँह सूँह बंक का कमानयं।
प्रफुल्लि नेत्र पंकजेत्र खंजने मृगानयं।।
विचित्र मीन मान हीन मंजनं हृदानयं।
उघार नेत लज्ज हेत तज्जनेत प्रानयं।।
मुखारव्यंद ता अनंद चंदका सरद्दये।
सपर्धमान ता समान का वखान हद्दये।।

यों शृंगार के विभाव चित्रण में सचमुच कवि ने कल्पनाओं की झड़ी लगायी है।

प्रभात वर्णन में फिर कवि ने एक बार शृंगार की अवतारणा का यत्न किया है पर वहां सफलता उतनी अधिक नहीं कही जा सकती—

कतुवंकरि कांचुकि दिव्वि कला। पट लांपटु संधि प्रबंधि छला।।
कुमुदिन्नि पराग सुकर्दमयं। रति मंजित पंखनि सर्द मयं।।
प्रतियोख उदारति वारिकयं। समस्या अभिसारिक सारिकयं।।

शृंगार का जहां कवि ने यत्न किया है वहां उसने असमर्थता प्रकट नहीं की पर रतन रासो में उसका मन निस्संदेह शृंगार में कम ही रमा है।

शांत रस का प्रसंग आने पर कवि ने उसकी अवतारणा का भी किंचित् यत्न किया है। एक तो प्रसंग है महेशदास की मृत्यु का। जिस वीर मधकर ने सड़सठ युद्धों में विजय प्राप्त की, वह अंत समय शय्या पर मरा। इस घटना ने रतन के मन में विरक्ति पैदा कर दी और वह सब कार्य छोड़ शिव की तपस्या में प्रवृत्त हो गया। हां, शिव की आराधना करके, महादेव को प्रसन्न करके उसने वीरोचित वरदान ही मांगा; विरक्तोचित स्वभाव का परिचय नहीं दिया।

काव्य के अंत में एक बार फिर कवि राम नाम स्मरण और भक्ति के गौरव का विवेचन करता है–

द्रिढ भाव भक्ति तप तीर्थ धाम। मथि सकल ग्रंथ तत राम नाम।।

और उसके बाद

राम नाम तत सार राम महँकाल अभ्यासन।
राम नाम तत सार सदा वंदित कमलासन।।

राम नाम तत सार जपित सहस्राखि विलासिय ।
विश्वेश्वर तारका मंत्र कासिय कविलासिय ।।
परजटन जटिल सतांत धुनि मुनि ग्रनत चिंतति चरन ।
कहि कुंभकर्न वर्नन विमल राम नाम ग्रसरन सरन ।।

यों काव्य के ग्रंत तक जाते-जाते वीर रस प्रेमी कवि शांत प्रवण हो जाता है मानो कोई क्षत्रिय पुत्र यौवनावस्था में प्रचंड वलवीर्य का परचिय देते हुए जीवन की ग्रंतिम वेला में **वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्** के ग्रादर्श वाक्य का पालन करने में प्रवृत्त हो गया हो ।

हास्य रस के लिए तो कोई उपयुक्त प्रसंग इस कथानक में था ही नहीं, ग्रौर कवि का स्वभाव भी हास्य के ग्रनुरूप नहीं दीखता ग्रतः उसके लिये रतन रासो में कोई स्थान न होना स्वाभाविक है । हां, बीभत्स ग्रौर करुण दो ऐसे रस हैं जिनके लिये इस कथानक में ग्रवसर मिल सकता था । पर कवि स्वभावतः इन रसों में भी रमने वाला नहीं प्रतीत होता अतः उसने उस दिशा में कोई यत्न ही नहीं किया । शोण धारा का प्रवाह, चिल्ल-गृद्ध्रों के समूह तथा रुंडों-मुंडों की जुगुप्सा व्यंजक राशियों का प्रयोग कवियों ने प्रायः बीभत्स की ग्रवतारणा के लिये किया है पर कुंभकर्ण ने इन उपादानों का भी प्रयोग वीर रस की ही पुष्टि के लिये किया है ।

करुण रस के लिये तो महेशदास की मृत्यु ग्रौर रतनसिंह के ग्रंतिम भूमि-शयन के प्रसंग में वहुत ही उपयुक्त ग्रवसर थे पर कुंभकर्ण संभवतः वीरों के जीवन में करुण प्रसंग की कल्पना ही उचित नहीं समझता । सतियों के ग्रग्नि प्रवेश तक की घटना का वह ऐसे उल्लेख करता है मानो उन्होंने कोई बहुत ही साधारण उपचार का पालन किया हो, ग्रपितु मानो किसी दैनंदिन कृत्य का संपादन किया हो । कुंभकर्ण ने तो रतन की मृत्यु के समाचार तक का ऐसे वर्णन किया है मानो कोई हर्ष का समाचार हो—

पाघ वधाय नृपत्ति के महल उछाह सँग्राम ।

निस्संदेह जिन वीर रमणियों का ग्रादर्श था —

भल्ला हुग्रा जो मारिया बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जंति वयंसियहिँ जे घरि भग्गा ग्रेन्तु ।।

उनके जीवन में ग्रौर उनके पतियों के प्रसंग में करुण की कल्पना करना कवि उचित नहीं मान सकता । हाँ, इसी प्रसंग में खिड़िया जगा रानियों के नख-शिख का वर्णन करते-करते भी फूट पड़ा था ग्रौर ग्रंत में उसकी ग्रांखों से ग्रांसू बह ही निकले थे—

हाहाकार पुकार हुई राम राम भणि राम ।
घणूँ कहर वीती घड़ी जहर लहर विधि जाम ।।

पर कुंभकर्ण ने धैर्य नहीं खोया। उसका हृदय करुण की कल्पना को तैयार ही नहीं हुआ। संभवतः जगा इसलिए अपने मनोभावों को फूट पड़ने से न रोक सका था कि उसी की आँखों के सामने धू-धू करती ज्वालाओं ने उन कोमलांगी देवियों को भस्म राशि में परिणत किया था। कुंभकर्ण की आंखों ने वह विकराल दृश्य न देखा था। अस्तु, बात कुछ भी रही हो पर कुंभकर्ण ने अपने नायकों के प्रसंग में करुण को पास भी न आने दिया।

रसों के प्रसंग में एक-बात और विचारणीय है। शास्त्रकारों ने रसों की निष्पत्ति को मानवों तक ही सीमित रखा है। तिर्यंचों के रत्यादि भावों की रस परिणति उन्हें स्वीकार नहीं है। वे उसे रसाभास संज्ञा देते हैं। पर वास्तविकता यह है कि यह कवि की प्रतिभा पर आश्रित है कि वह रस निष्पत्ति करवा पाता है या रसाभास तक ही पहुँचा पाता है। वास्तव में कवि के कवित्व की कसौटी यही होनी चाहिए कि वह जहां चाहे रस की धारा प्रवाहित कर सके। जो तिर्यंचों के मनोभावों को भी मानवों के मनोभावों से तीव्रतर करके अभिव्यक्त कर सके वही समर्थ कवि है। नैषधकार के हंस की वाणी

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेषजनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि न॥

सुन कर किस सहृदय के नेत्र आलिप्त नहीं हो जाते। किसका ध्यान इस बात पर जाता है कि यह एक तिर्यंच की वाणी है, कि वरटा क्या तपस्विनी होगी, कि हंस अपनी माता और पत्नी का आलंबन क्या बनेगा? बाणभट्ट का शुक किस सहृदय के मन में करुणा का संचार नहीं करता? आश्चर्य है कि

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥

को आदि काव्य मानने वाले शास्त्रकार क्रौंच-मिथुन के काम को रसाभास मात्र के योग्य मानते हैं।

यह प्रसंग इसलिये आया कि कुंभकर्ण ने भी कहरकोह और सूकर की कल्पना प्रतिनायक के रूप में की है पर इससे भावुक पाठक को वीर रस की निष्पत्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं प्रतीत होती।

## (६) अलंकार चमत्कार

संस्कृत के अलंकार शास्त्र के ग्रंथों में 'अलंकार' शब्द की व्याख्या "अलंकारोतीति अलंकारः" कह कर की जाती है और **अलं** का अर्थ **सुन्दर** बताया जाता है। पर संस्कृत में **अलं** का यह अर्थ अन्यत्र नहीं मिलता। वास्तविक बात यह है कि इस अर्थ में **अलं** संस्कृत का शब्द नहीं द्रविड मूल का शब्द है। तमिल में आज भी अलकु का अर्थ **सुन्दरता,**

**अलकिय** का अर्थ **सुन्दर** और **अलक्कार** का अर्थ **अलंकार** है। क-ङ का तो परस्पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त होना उत्तर-दक्षिण की सभी भारतीय भाषाओं की सामान्य प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ **कमर** के अर्थ में प्राकृत, अपभ्रंश और पंजाबी में **लक्क** शब्द का प्रयोग मिलता है; व्रज-अवधी में **लंक** का। वस्तुत: **अलंकार** शब्द ही नहीं **अलंकार-शास्त्र** भी द्रविड मूल का है। वैसे सम्पूर्ण काव्य शास्त्र का ही प्राचीन नाम अलंकार शास्त्र रहा है।

संस्कृत में अलंकार शास्त्र का कोई बहुत प्राचीन ग्रंथ प्राप्त नहीं है। प्राचीनतम प्राप्त ग्रन्थों में भामह का काव्यालंकार और दण्डी का काव्यादर्श ही हैं जिनकी परस्पर पूर्वापरता को ले कर विद्वानों ने अपने-अपने तर्क चमत्कार दिखाये हैं। वैसे भामह की अग्रता सिद्ध करने वाले संख्या में अधिक हैं।

काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है—यह एक बहु-चर्चित विषय रहा है। इसके पक्ष और विपक्ष दोनों ही का प्रतिपादन करने वालो ने प्राय: सीमाओं का उल्लंघन किया है। राजानक रुय्यक ने अलंकारों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा था—'**अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्** ।' पता नहीं रुय्यक ने यहां भामह, रुद्रट,वामन आदि प्राचीन काव्यालंकार लेखकों की ओर संकेत किया है या उनसे भी प्राचीन और संप्रति अज्ञात आचार्यों का निर्देश किया है। यह भी सम्भव है कि उसने स्वयं उदीच्य होते हुए यह प्राच्यों का मत बताया हो।

परन्तु जब रस और ध्वनि का काव्य शास्त्र के क्षेत्र में बोलबाला हुआ तो कुछ प्राचीन अलंकारसर्वस्ववादी खिन्न हुए और उन्होंने यहां तक कहा कि जो अलंकाररहित काव्य के काव्यत्व को स्वीकार करता है वह अग्नि को भी अनुष्ण क्यों नहीं मान लेता ?

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ?

उधर, रसवादियों ने अलंकारों का स्थान नगण्य बताते हुए यहां तक कहा कि यदि काव्य में रस-सम्पत्ति है तो अलंकारों से रहित होते हुए भी वह उत्कृष्ट काव्य है ही और यदि रस-सम्पदा का अभाव है तो फिर चाहे जितने अलंकारों से लादिए काव्य काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। यों उभय प्रकार से अलंकार वृथा हैं :—

अस्ति चेद्रससम्पत्तिरलंकारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिरलंकारा वृथैव ही ।।

इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों से दूर रह कर मध्यवर्त्ती मार्ग पर चलने वाले आचार्य भी हुए हैं और उन्होंने अलंकार को काव्य का सर्वस्व तो नहीं माना पर उनकी उपस्थिति से काव्य की शोभा वृद्धि को स्वीकार किया। '**अनलंकृतिः पुनः क्वापि**' कहते हुए भी उन्होंने अलंकारों के शोभाधायक स्वरूप को अवश्य स्वीकार किया। यह सही है कि—'**किमिवहि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्**'—मधुर आकृति पर सभी अलंकार फब ही जाते हैं

पर यह भी सही है कि वे आकर्षण को कुछ बढ़ा भी देते हैं और कुरूपा के कुरूप को भी कुछ अंशों में ढक ही लेते हैं। अतः अलंकारों को काव्य का सर्वस्व मानना भी अति है और सर्वथा निरर्थक मानना भी। रस का गौरव मानने वाले एक कवि ने भी अलंकार चमत्कार के सहारे ही अपने मन्तव्य का प्रकाशन किया था—

साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम् ।
सरसो विपरीतोऽपि सरसत्वं न मुंचति ॥

सार यह कि काव्य में यह मान कर चलना कि—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूखन विन न विराजई कविता वनिता मित्त ॥

उचित नहीं, पर यह अवश्य है कि यदि काव्य में स्वतएव और अनायास ही अलंकारों का भी समावेश हो जाता है तो उनसे निस्संदेह काव्य की शोभा बढ़ती है।

रतनरासोकार कुंभकर्ण इसी मध्यमार्ग का पथिक है। उसने अलंकारों का आयासपूर्वक समावेश नहीं किया पर जहां अनायास अलंकार आ गये हैं वहां उसने उनसे काव्य शोभा अवश्य बढ़ायी है। भाषा पर उसका कुछ ऐसा अपूर्व अधिकार है और उसका शब्द भंडार कुछ ऐसा समृद्ध है कि अर्थ और शब्द दोनों ही के अलंकार उसमें स्वभावतः आते रहे हैं। उसने कहीं अलंकारों को लादने का यत्न नहीं किया है पर उसकी कल्पना शक्ति कुछ ऐसी कुशल है कि अलंकारों की आयोजना यथावश्यक हो ही जाती है।

रतनरासोगत अलंकारों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैः—

**शब्दालंकार—**

(१) **अनुप्रास—अनुप्रासों** की छटा प्रायः द्रष्टव्य है। यद्यपि अनुप्रास का कोई आग्रह कवि को नहीं है फिर भी अनुप्रास का प्रभूत प्रयोग मिलता है यथा—

देवग्गिर द्रुग्ग सुरक्खि सुदीव । सुखेन हनंमत नील सुग्रीव ॥
+ + +
गब्बांगद गज्ज गयंदि गवाखि । भरत्थ सत्रग्घन लक्खन साखि ॥
अभीत अजीत असाधि अगाधि । साबाति सुरंग अलंगन साधि ॥

(२) **यमक**—यमक के भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। पदांश यमक के उदाहरण अधिक हैं पर पद यमक के भी मिलते ही हैं। यथा—

सजल जलद जलधर प्रचुर बरखि हरखि गुरधार ।
कुम्भकरन थंभन क्रितक ह्रिद ह्रिद जद प्रस्थार ॥

(३) **लाटानुप्रास**—दुल्लह दिन दुल्लह दिली कहत हमाऊँ नंद ।
अचल पित्थ दस्तम सहब मल्ल विनै कवि चंद ॥

**(४) पुनरुक्तवदाभास—**

जाको निज मन सुर सरित तट वंछित सति भाय ।
जिनके मन कारिज सफल हरि द्विज बृह्म सहाय ।।

**(५) पुनरुक्ति प्रकाश (वीप्सा)–**

पंच तुरिय बदले नृपति फारन फौज छछोह ।
छंडि छंडि चढि चढि किये खंड खंड तन लोह ।।

**(६) श्लेष—** श्री हरि द्विज चरन प्रताप रज गनपति सक्ति प्रनाम ।
जुध वर्नन आरम्भ तत रतन हेत अभिराम ।।

**(७) भाषा समक (मणिप्रवाल)—**

स्वस्ति श्रीय अवंतिकेति उक्ता स्वस्थान भूमंडलं ।।
तं वंदे दरिगहि किरान सनयं साहानिसा बुजूकं ।।
साहं जान जिहान साहि कविले इतवार खातरिनिसा ।
श्री राजै जसवंतस्यंघ नृपते सावेब साहिब कुली ।।

**अर्थालंकार**—अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमेयोपमा, अनन्वय, यथासंख्य, दीपक आदि अनेक अलंकार पर्याप्त संख्या में द्रष्टव्य हैं। कुछ नमूने देखिए :—

**उपमा—** दुरजोधन खुद करन कूँ कही सुनी वहि प्रान ।
मौहवति मौहवति खान सै मंत्रमता सुविहान ।।

**रूपक—** पब्बय अनन्त पट्टन दुसह देवगिरं द्रुग्गह मनिय ।
कइलास दुतिय कइलास पति रचि विचित्र रचना घनिय ।।

**उत्प्रेक्षा—** थप्परिय पिट्ठि वब्बरि वहसि उहसि सीस अंबर अरिय ।
इक्कय फलंग बारह मनौ हनुव राम अग्या करिय ।।

**दृष्टान्त—** दक्खिन महब्बतिखान बिन करै फतूहस कौन ।
को कूदै महरान कूँ विन हनुमंत हजौन ।।

**अतिशयोक्ति—** सितम खतम महबति सितब पल्ले दूर दराज ।
गोला पहल दिवाल सँग पाछै तोप अवाज ।।

**विनोक्ति—** तबै सुविहान हिकम्मति तस्स । सुहिंमति तो बिन कौन सकस्स ।।
बिना रवि कौन करै ब्रहमंड । प्रलै जल सोखि प्रदीपति खंड ।।

**सन्देह—** कुप्यौ कि प्रलय संघार काल । चख चक्रिति रुद्र भभकी कि झाल ।।

**परिकर—** आलम ये सेर सादूल के बच्चे ।

ये उदाहरण केवल निदर्शन मात्र के लिए दिये गये हैं। अलंकारों के उदाहरण पदे-पदे मिलेंगे। पर कुंभकर्ण ने अलंकारों का सायास प्रयोग नहीं किया है। जहां स्वभावतः अलंकार आ गये हैं वहीं उनका समुचित उपयोग करके काव्य शोभा की वृद्धि की है।

## (७) वृत्त विचार

भारतीय साहित्य शास्त्र में छंदों का स्थान काव्य शास्त्र या अलंकार शास्त्र के अंतर्गत नहीं, पृथक् है। बात यह है कि भारतीय दृष्टि से पद्य बद्ध होना काव्य के लिए आवश्यक नहीं, उलटे गद्य काव्य कवित्व की सच्ची कसौटी है—**गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।** अतः अलंकार शास्त्र से पृथक् ही छंद शास्त्र की सत्ता है।

भारतीय छंद शास्त्र की उत्पत्ति का श्रेय पिंगल नामक नाग को दिया जाता है और उसी के कारण उसका दूसरा अभिधान ही पिंगल या पिंगल शास्त्र हो गया है। उस शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में एक आख्यान प्रसिद्ध है। कहते हैं कि एक बार पिंगल नामक एक नाग ने जनता को बहुत पीड़ित किया था तो उसे दंड देने के लिए गरुड़ ने उसे पकड़ लिया। जब पिंगल मारा जाने को था तो उसने अपनी अंतिम इच्छा प्रकट करते हुए कहा कि मेरे पास एक विद्या है जिसे मैं मरने से पूर्व किसी पात्र को दे जाना चाहता हूँ। गरुड़ स्वयं ही पढ़ने बैठ गया। पिंगल समुद्र के किनारे बैठ कर पढ़ाने लगा। वह एक के बाद एक छंद के लक्षण बताता गया और क्रमशः समुद्र की दिशा में सरकता गया। गरुड़ को इस स्थिति का ध्यान ही नहीं था। वह तो छंद शास्त्र पढ़ने में दत्तचित्त था। नाग ने अंत में भुजंग प्रयात छंद के लक्षण बताये और वह उसी का उदाहरण गुनगुनाता हुआ समुद्र में जा छिपा। नाग वापस नहीं आया किंतु भूमंडल पर छंदशास्त्र का प्रवर्तन हो गया।

इस आख्यान में कुछ प्रतीकात्मकता प्रतीत होती है। अतः नागों के विषय में कुछ विचारणीय है। पहले बताया जा चुका है कि सिंधु सभ्यता के प्राच्यादि देशों में द्रविड़ों की सभ्यता प्रमुख थी। परंतु इतिहास यह भी बताता है कि सिंधु-सरस्वती घाटी से नाति दूरस्थ और द्रविड़-आर्य सभ्यता की तुलना में नाति न्यून नागों की सभ्यता भी रही है। अहिच्छत्रा या नागपुर (वर्तमान नागौर—राजस्थान) नाग सभ्यता का एक प्रमुख दुर्ग था। उसके निकट ही शाकंभरी का लवणांबुधि (सांभर झील) है। पुराणों और महाभारत से ज्ञात होता है कि प्राच्यों के एक नेता परीक्षित को मारने के लिए एक नाग नेता तक्षक ने विष प्रयोग किया था। उसकी हिंसात्मक योजना का पता काश्यप नामक एक आर्य ब्राह्मण को चल गया था और उसने परीक्षित को सूचना दे कर पुरस्कार प्राप्त करने का उपक्रम बनाया था। तक्षक ने स्वयं ही उसे उत्कोच स्वरूप बहुत-सी द्रव्य राशि दे दी थी और अपनी योजना में सफलता प्राप्त की थी। पर परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने प्रतिशोध स्वरूप नागों के गांव के गांव जलवा दिये थे।

सारांश यह कि प्राच्यों के निकट ही नागों का भी एक प्रमुख शक्ति-केन्द्र था, यद्यपि वैसे वे सुदूर प्राग्ज्योतिष तक फैले हुए थे। यह संभव है कि उन नागों के किसी नेता

पिंगल ने कभी उदीच्य तक धावा मारा हो और आर्यों के किसी अधिपति ने अहिच्छत्रा तक उसे खदेड़ा हो। फिर वहीं नागों के नृत्य-संगीत में उसका मन रमा हो और उसने उनका वृत्त विधान सीखा हो। यह सच है कि आज भी उस प्रदेश की नाग कन्याओं का कबूतरी नाच दर्शनीय होता है और कालवेलियों (संपेरों) का वीणा वादन मनोहारी होता है।

ऊपर प्रतीकोद्घाटन के रूप में जो संभावित कल्पना की गयी है उसकी पुष्टि भी संस्कृत के वर्णवृत्तो पर विचार करने से होती है। यह तो स्पष्ट है कि संस्कृत के वर्णवृत्त न तो वैदिक आर्यों के छंद हैं और न प्राकृत भाषी द्रविड़ों के। द्रविड़ों के प्राकृत छंद मुख्यतः मात्रिक हैं और उनमें तुकान्त की भी व्यवस्था है। प्राकृत, अपभ्रंश और मध्यकालीन हिंदी साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है कि इस संस्कृतेतर वाङ्मय में मात्रिक छंदों का प्रमुख स्थान है जो वैदिक वर्णवृत्तों से भिन्न परंपरा है। दूहा, सोरठा, चौपई, चौपाई, पद्धरी, आर्या, गाहा (गाथा) आदि छंद इसी परंपरा के हैं। इसे हम प्राकृत परंपरा कह सकते हैं। इस परंपरा के आर्या और गाहा छंद तो प्राकृत सप्तशतियों के कारण संस्कृतज्ञों में भी बहुत लोकप्रिय हो गये थे और उनमें तुकांत का आग्रह भी छूट गया था। पर फिर भी ये छंद मात्रा मूलक हैं।

लौकिक संस्कृत के वर्णवृत्तों को वैदिक संस्कृत के वर्णवृत्तों से भी उद्भूत मान सकना कठिन है, यद्यपि दोनों ही में वर्णमूलकता समान रूप से है। वैदिक छंदों का परीक्षण करें तो विदित होगा कि वे वर्णमूलक तो अवश्य हैं पर उनमें गण-विधान और गुरु-लघु-विधान नहीं है जो पिंगल के प्रमुख तत्त्व हैं। दूसरे, पिंगल के चतुश्चरणी वृत्तों के नियम का भी वैदिक छंदों में पालन नहीं है। वैदिक छंदों में कुछ त्रिपात्, कुछ चतुष्पात् और कुछ पंचपात् है। यथा गायत्री, उष्णिक्, पुर उष्णिक् तथा ककुप् त्रिपात् छंद हैं जब कि पंक्ति छंद पंचपात् है। शेष वैदिक छंद चतुष्पात् हैं। वैदिक छंदों की कुल संख्या केवल ग्यारह है।

यों संस्कृत के वर्ण वृत्तों का विकास न तो हम प्राकृत जनों के तुकान्त मात्रिक छंदों से मान सकते हैं और न वैदिक वर्णवृत्तों से। उनका उद्गम किसी तीसरे स्रोत से ही मानना पड़ेगा। अतः उन्हें वैदिक आर्यों और सैंधव द्रविड़ों की समसामयिक और नाति-दूरस्थ सुसंस्कृत नाग जाति से प्राप्त माना जाये तो तर्क संगत ही प्रतीत होगा। साथ ही परंपरागत आख्यान का भी तथ्य स्पष्ट होगा। पिंगल ने नाग भाषा का एक व्याकरण भी बनाया था, यह अनुश्रुति राजस्थान के कवि समुदाय में प्रचलित रही है। कविवर करणीदान ने सूरज प्रकाश में लिखा है[1]—**दूसरी नाग भाषा सो पिंगल नाग सों आई** (अर्थात् कवि ने नाग भाषा पिंगल नाग व्याकरण से सीखी)।

---

१. सूरज प्रकाश में संस्कृत के पश्चात् दूसरा पूज्य पद नाग भाषा को दिया गया है:—

संस्कृतह सुरभाष आद पहलाँ उच्चारूँ।
सुज भाषा दूसरी शेष दूजै विसतारूँ॥

यों रतनरासो की छंद योजना पर विचार करने से पूर्व पिंगल शास्त्र की व्युत्पत्ति के विषय में एक परिकल्पना प्रस्तुत की गयी है। विद्वज्जन इस पर विचार करेंगे तो वास्तविक स्थिति का शोध अवश्य हो पायेगा। अस्तु, अब प्रस्तुत ग्रन्थ रतन रासो की छंद-छटा पर विचार करना है।

ऊपर बताया जा चुका है कि हमारी वृत्त विद्या तीन संस्कृतियों के संगम से उत्पन्न विद्या है अतः उसमें समन्वय के बहुत अधिक तत्त्व विद्यमान हैं। राजस्थान के सौती परंपरा के कवियों ने इस त्रिवेणी प्रवृत्ति को और भी आगे बढ़ाया है। उन्होंने वर्णिक छंदों में भी मात्रिक छंदों के प्रयोग किये हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत के वृर्णवृत्तों में तुकान्त का विधान नहीं है पर सौती साहित्य में तुकान्त वर्ण वृत्त मिल जायेंगे। इसके अतिरिक्त गुरु-लघु में भी कुछ हेरा-फेरी करके वर्ण वृत्तों में मात्रिक तत्त्व मिलाया गया है; अर्थात् एक गुरु के स्थान पर दो लघु या दो लघु के स्थान पर एक गुरु वर्ण रखा गया है। कुंभकर्ण प्रयुक्त छंदों में इस समन्वय के प्रभूत उदाहरण मिल जायेंगे।

रतन रासो की छंद छटा का निरीक्षण करें तो स्पष्ट होगा कि उसमें वर्णिक और मात्रिक दोनों ही कोटि के छंद हैं और वर्णिक छंदों में भी उसने मात्रिकता का प्रवेश कराया है; अर्थात् जहां एक दीर्घ वर्ण हो वहां दो ह्रस्व वर्ण और जहां दो ह्रस्व वर्ण हो वहां एक दीर्घ वर्ण रख कर भी वर्णिक छंदों का विधान किया है।

अब रतन रासो में प्रयुक्त प्रत्येक छंद के लक्षणों पर थोड़ा विचार कर लें :—

**अडिल्ल, मुडिल**—यह सम मात्रिक छंद अडिल्ला (या अरिल्ला) नाम से अधिक प्रसिद्ध है। लक्षणकारों के अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १६-१६ मात्राएं होती हैं। पहले-दूसरे तथा तीसरे-चौथे चरणों के अंत में यमक होता है। जगण का प्रयोग नहीं होता। चरण के अंत में दो लघु वर्ण होते हैं। रतन रासो की अधिकांश प्रतियों में इस छंद का नाम अधिकतर **अडिल** रखा गया है। पर कहीं-कहीं **मुडिल** भी है। (च) प्रति में **मुडियल** नाम अधिक प्रयुक्त हुआ है; पर दो स्थानों पर उसे **चौपई** भी कहा गया है। (च) प्रति में एक स्थान पर **गाथा** को भी **चौपई** लिखा गया है। वैसे **चौपई** १५ मात्रा के चरणों वाला छंद होता है। १६ मात्राओं तथा चरणान्त में जगण-तगण के निषेध वाला छंद **चौपाई** होता है। चौपाई और अडिल्ल में प्रमुख भेद यह है कि चौपाई में जगण और तगण का चरणांत में निषेध है पर अडिल्ल में तगण का निषेध नहीं है और जगण का सर्वत्र निषेध है।

**अर्धनाराच, नाराच, वृद्ध नाराच**—इन छंदों को वर्ण मूलकता के कारण लक्षणकारों ने वर्णिक छन्द माना है और गण विधान भी किया है। संस्कृत में **अर्धनाराच** का नाम **प्रमाणिका** और **वृद्धनाराच** का **पंचचामर** है। **प्रमाणिका** का लक्षण **जरौ लगौ** (जगण, रगण, लघु, गुरु) बताया गया है और **पंचचामर** का लक्षण **प्रमाणिका पदद्वयं वदन्ति**

**पंचचामरम्** कह कर उसे दो प्रमाणिकाओं के बराबर बताया गया है। वस्तुतः इन छन्दों के प्रसंग में गण निर्देश उतना सार्थक नहीं है। इनमें तो लघु, गुरु (।ऽ) क्रम होता है। और इस क्रम वाले अनेक छंद हैं। यथा ।ऽ×२=**नगाणिका**, ।ऽ×४=प्रमाणिका (अर्धनाराच); ।ऽ×६ विभावरी; ।ऽ×७=प्रभाव और ।ऽ×८=पंचचामर (नाराच अथवा वृद्धनाराच)।

रतनरासो में इस वर्ग के दो छंद आये हैं। एक **अर्धनाराच** (सं० प्रमाणिका) और दूसरा **वृद्धनाराच** (सं० पंचचामर)। **वृद्धनाराच** को (च) प्रति में केवल **नाराच** अथवा **नराज** भी लिखा गया है। चारणी साहित्य में अन्यत्र भी इसे केवल **नाराच** नाम से अभिहित किया गया है (यथा सूरजप्रकाश में); पर कहीं-कहीं ।ऽ×६ वाले **विभावरी** का नाम भी **नाराच** मिलता है, जो **अर्धनाराच, नाराच** और **वृद्ध नाराच** नामों की उत्तरोत्तरता के अधिक अनुरूप है। चारणी साहित्य में अर्धनाराच के विषम-सम चरणों में तुक का भी विधान है।

यह शिवतांडव स्तोत्र का सुप्रसिद्ध छंद है।

जैसे यह छंद वर्ग ।ऽ के क्रम का है वैसे ही **चंचला** आदि ऽ। के क्रम के छंद भी हैं। हमारे विचार से इनमें गण निर्देश करना उनकी परिभाषा को जटिल बनाना ही है।

**उधोर**—यह छंद नाम रतन रासो में केवल एक स्थान पर (६/११ में) प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रत्येक चरण में चौदह मात्राओं का विधान है और अंत में **जगण** का।

**कवित्त**–यह सामान्यतः छः चरणों का विषम मात्रिक छंद होता है इसलिए इसे **छप्पय** कहा जाता है। (च) प्रति में **छप्पय** अभिधान का अधिक प्रयोग हुआ भी है। पर रतन रासो का कवित्त कहीं-कहीं आठ चरणों वाला भी है। व्रज भाषा में **कवित्त** एक वर्णिक छंद है जिसके **मनहरण, घनाक्षरी** आदि भेद हैं। पर राजस्थान के कवियों ने **कवित्त** शब्द का प्रयोग **छप्पय** के लिए प्रभूत मात्रा में किया है।

रतन रासो के छः **चरणों वाले कवित्त** में सामान्य **छप्पय** के समान पहले चार चरण **रोला** (प्रत्येक चरण में ११–१३ के विराम से २४ मात्राएं) के और अंतिम दो चरण **उल्लाला** (विषम चरणों में १५–१५ मात्राएं और सम चरणों में १३–१३ मात्राएं) के हैं। आठ चरणों वाले कवित्तों में पहले चार चरण रोला के और शेष चार चरण उल्लाला के हैं।

**कुंडलिया**—यह भी सामान्यतः छः चरणों का मात्रिक छंद होता है और प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएं होती हैं। पर चौबीस मात्राएं एक ही क्रम से न हो कर **दोहा** और **रोला** छंदों के क्रम की होती हैं। रतन रासो का **कुंडलिया** इस लक्षण वाला नहीं है। यह आठ चरणो का छंद है। इसमें प्रथम दो चरणों का क्रम **दोहे** का, फिर चार चरणों का क्रम **रोले** का, तथा अंतिम दो का क्रम **उल्लाले** का है। इस छंद का नाम कुंडलिया इसलिए है कि दूसरे चरण के उत्तरार्ध की तीसरे चरण के आरंभ में आवृत्ति होती है और

पहले चरण के पूर्वार्ध की अंतिम चरण के उत्तरार्ध में। इस प्रकार एक विचित्र कुंडल 8 बनता है।

**गाथा**—यह प्राकृतों का सुप्रसिद्ध **गाहा** छंद है जिसमें लिखित प्राकृत का ग्रंथ **गाहा सत्तसई** बहुत प्रसिद्ध रचना है। सामान्यतः **गाहा** के विषम चरणों में १२-१२ मात्राएं होती हैं, द्वितीय में १८ और चतुर्थ में १५। इस प्रकार की **गाथा** का नाम **आर्या** है। पर इसके एक भेद में विषम चरणों में १२-१२ और सम चरणों में १५-१५ मात्राएं होती हैं। रतन रासो की गाथाएं प्रायः इसी कोटि की हैं पर इनमें सम चरणों में कहीं-कहीं १६ मात्राएं भी हैं।

गाहा के **गाहा चौसर** (प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं और सभी चरणों के अंत में एक ही शब्द की आवृत्ति) और **गाहा दुमेल** (प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं और पहले-दूसरे तथा तीसरे-चौथे चरणों में तुक) आदि भेद भी होते हैं।

**चांद्रायण**—यह सम मात्रिक छंद है जिसके प्रत्येक चरण में २१ मात्राएं तथा ११ और १० मात्राओं के बाद यति होती है। पहले विराम पर **जगण** और दूसरे पर **रगण** होता है। वचनिका (जगा कृत) में इसके चौथे चरण के आरंभ में **परिहाँ** शब्द का अतिरिक्त प्रयोग हुआ है। पर रतन रासो में ऐसा नहीं है।

**डंडीमाली**—इसके प्रत्येक चरण में १४ मात्राएं होती हैं और चरणान्त में रगण होता है। **सूरज प्रकाश** में इसी लक्षण वाले छंद का नाम **झंपताल** दिया गया है। डंडीमाली **हरिगीतिका** का आधा होता है।

**त्रिभंगी**—इसके प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएं होती हैं और १०-८-८-६ मात्रा पर यति होती है। अंत में गुरु वर्ण होता है। जगण का प्रयोग अच्छा नहीं माना जाता।

**दोहा**—इसके विषम चरणों में १३-१३ और सम चरणों में ११-११ मात्राएं होती हैं। इसे **दोहरा, दूहा, दोहला** आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। इसके चरणों के उलट-फेर से **बडा दूहा, सोरठिया दूहा, तुंबेरी दूहा, खोड़ा दूहा** आदि भेद होते हैं। पर वे भेद रतन रासो में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। "**दोहा**" शब्द की व्युत्पत्ति को ले कर लोगों ने बड़े-बड़े घोड़े दौड़ाये हैं। किसी ने **अवदोह-दोहक-दोहा** क्रम से, किसी ने **दोहाक-दोहा** क्रम से और किसी ने **द्विपथक-दुवहआ-दोहा** क्रम से व्युत्पत्ति समझाने का यत्न किया है। हम तो इसका प्राचीनतर अभिधान **दोहला** मानते हैं जो राजस्थान में विरचित साहित्य में प्रभूत प्रयुक्त हुआ है। **दोहला** संभवत **धवल-धमल** से सबंधित है। **धवल-मंगल** शब्दों का जोडा प्रायः देखने में आया है जिससे प्रतीत होता है कि **धवल** मांगलिक कृत्यों में प्रयुक्त गीतों का एक छंद था। उसी से **धवल-धवला-दोहला-दोहा** आदि का विकास संभव है। पर इस विषय में निश्चय पूर्वक कुछ भी कह सकना कठिन है।

**निसाणी** (नीसाणी)—यह डिंगल का छंद है जिसके शुद्ध, गर्वंत, गद्धर, पैडी, सिरखुली, सोहणी रूपमाला, मारू, सिंहचली, झींगर, दुमिला और वार नामक ग्यारह भेद

हैं। रतन रासो गत **निसाणी** के चरणों में मात्राएं २२ से २४ के बीच हैं। कहीं कहीं १४ मात्रा पर भी यति है। वैसे शास्त्रकारों ने सामान्यतः एक चरण में २३ मात्राओं और १३, १० पर यति का नियम बताया है।

**पद्धरी**—रतन रासो का बहुत बड़ा अंश इसी छंद में है। इसे प्रकृतों में **पज्झडिया (सं० पज्झटिका)** कहा जाता था। प्राकृत-पैंगलम् के अनुसार इसके प्रत्येक चरण के अंत में जगण की रचना कर के चार चतुर्मात्रिकों का विधान किया जा सकता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं होती हैं और अंत में जगण।

**भुजंगी, भुजंगप्रयात**—यह संस्कृत का समवर्णिक **भुजंगप्रयात** छंद है जिसके प्रत्येक चरण में चार यगण होते हैं। सौती साहित्य में इसका मात्रिक रूप भी मिलता है; अर्थात् दो लघु के स्थान पर एक गुरु और एक गुरु के स्थान पर दो लघु रख देते हैं। इस रूप को ही प्रायः **भुजंगी** नाम देते हैं। रतन रासो में दोनों ही नाम और दोनों ही रूप मिलते हैं। (च) प्रति में **भुजंगप्रयात** नाम अधिक प्रयुक्त हुआ है, अन्य प्रतियों में **भुजंगी**। संस्कृत में यह चतुश्चरणी छंद है। पर सौती साहित्य में चाहे जितने चरणों के कुलक हो सकते हैं। एक क्रम के सभी चरणों की समाप्ति पर छंद संख्या डाली जाती है। रतन रासो में भी ऐसा ही किया गया है।

**मोतीदाम**—यह भी समवर्णिक छंद है जिसके प्रत्येक चरण में चार जगण होते हैं। इसका भी मात्रिक रूप में प्रयोग मिलता है। रतन रासो में इसको भी चार चरणों का एक छंद न मान कर चाहे जितने चरणों के कुलक को एक छंद माना गया है।

**विजाज (बिराज)**:—विविध प्रतियों में ये दोनों नाम मिलते हैं। इसका एक चरण **भुजंग प्रयात** के एक चरण का आधा होता है। अर्थात् एक चरण में दो यगण (ISS) होते हैं। रतन रासो में इसका भी कुलक रूप में प्रयोग हुआ है।

**विद्युन्माला**:—रतन रासो का यह छंद संस्कृत के उस विद्युन्माला छंद से भिन्न है जिसके एक चरण में ८ गुरु वर्ण होते हैं। इसके तो प्रत्येक चरण में ग्यारह मात्राएं और अंत में जगण का विधान प्रतीत होता है। इसकी गति मल्लिका छंद से मेल खाती है जिसमें SI के क्रम से आठ वर्ण होते हैं। (च) प्रति में **विजाज** छंद का नाम भी **विद्युन्माला** ही दिया है। पता नहीं प्रतिलिपि कार ने **विद्युन्माला** का यह अभिधान किस आधार पर कर दिया।

**शार्दूल विक्रीडित**—यह संस्कृत का सुदीर्घ छंद है जिसके प्रत्येक चरण में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और गुरु के क्रम से १९ वर्ण होते हैं और १२ तथा ७ पर यति होती है। रतन रासो की प्राप्त प्रतियों में इस के भी चरण कुलकों की ही छंद संख्या दी गयी है पर वस्तुतः इन छंदों का चार-चार चरणों में विभाजन संभव है अतः संपादन में ऐसा कर दिया गया है।

**श्लोक**—यह अनुष्टुप् छंद है जिसके प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं। चारों चरणों में पांचवां और दूसरे-चौथे चरणों में सातवां वर्ण लघु होता है और चारों चरणों

में छठा वर्ण गुरु होता हैं। यह आदि कवि के मुंह से निकला आदि छंद माना जाता है। वैसे यह वैदिक छंद भी है।

**हणफाल** (हनुमंत फाल)—यह समवर्णिक छंद है जिसके प्रत्येक चरण में सगण, जगण, जगण के क्रम से नौ वर्ण होते हैं। इसके चरणों का भी रासो में कुलकवत् प्रयोग हुआ है।

चार चरणों के माने जाने वाले छंदों के प्रयोग में भी सौती साहित्य में एक विशेषता मिलेगी। वह यह कि चार चरण पूरे होने पर नयी छंद संख्या नहीं डाली जाती। जहां छंद विशेष में पूरा वर्णन समाप्त होता है और नया छंद प्रयुक्त होता है वहीं नयी छंद संख्या दी जाती है। यों रतन रासो में दोहा, गाथा, श्लोक, शार्दूल विक्रीडित, कवित्त, कुंडलिया और चांद्रायणा में तो यथा नियम चार, छः या आठ चरण समाप्त होने पर छद संख्या डाल दी गयी है पर अन्यत्र सभी छंदों में चार चरण पूरे होने पर छंद संख्या न डाल कर छंद विशेष का पूरा प्रकरण समाप्त होने पर ही छंद संख्या बदली गयी है।

इन पद्य बंध छंदों के अतिरिक्त रतन रासो में गद्यवन्धों के दो नाम आते हैं। वे हैं:— **वचनिका और वार्त्ता**। गद्य खंडों का एक तीसरा नाम **दवावैत** सौती साहित्य में अन्यत्र मिलता है पर रतन रासो में नहीं। रतन रासो का वचनिका खंड फारसी मय है और वार्ता खंड प्रायः खड़ी बोली में है। वार्त्ता वाला प्रसंग काफी लंबा और काव्यात्मक है। इन गद्य खंडों के वाक्यों में प्रायः तुक का विधान होता है।

काव्य में वचनिकाओं की बहुलता होने पर संपूर्ण चंपू काव्य का नाम भी वचनिका रखने की प्रथा रही है। वचनिका नाम की अनेक रचनाएं राजस्थान के साहित्य में द्रष्टव्य हैं जिनमें जगा रचित 'रतन' की वचनिका और सिवदास रचित 'अचलदास खीची' की वचनिका प्रमुख हैं-। इन वचनिकाओं से मिलता हुआ प्रचुर चंपू साहित्य दक्षिण भारत की भाषाओं में भी प्राप्त होता है। उस चंपू साहित्य को **वचन साहित्य** कहते हैं। कन्नड और तेलुगु का वचन साहित्य बहुत समृद्ध है। राजस्थान का वचनिका साहित्य इयत्ता की दृष्टि से उतना समृद्ध नहीं पर ईदृक्ता की दृष्टि से अनुपम है।

## (८) पांडित्य प्रदर्शन

कुंभकर्ण अनेक शास्त्रों का पंडित न रहा हो तो भी बहुश्रुत तो है ही। उसके भदौरा गांव में उस समय महाकवि हरिद्विज जैसे प्रकांड विद्वान् थे जिनके वंश में पांडित्य की परंपरा रही थी और स्वयं कवि के समय में हरिद्विज के पिता और उनके विद्वान् अनुज भी विद्यमान थे। ऐसे विद्वानों के परिवार के साथ कवि का घनिष्ठ संबंध भी प्रतीत होता हैं। अतः संस्कृत भाषा में अभिलिखित बहुत से वाङ्मय को स्वयं कवि ने पढ़ा नहीं हो तब भी गुरुमुख से सुना अवश्य होगा। इसके अतिरिक्त फारसी-अरबी भाषाओं का भी ज्ञान कवि को था। यह उसकी रचना से स्पष्ट है यद्यपि उसने स्वयं इस बात का उल्लेख नहीं किया कि उसने यह ज्ञान कहां से प्राप्त किया। पंजाबी भाषा का भी कुछ परिचय कवि को है।

आचार्य कुंदकुंद के प्राकृत ग्रंथ समयसार से भी कवि परिचित हैं; पैशाची रचना बृहत् कथा से भी। यों षड्भाषा-पांडित्य का दंभ चाहे कवि न करे पर वह बहुभाषाविद् है अवश्य। उसने सभी ज्ञात भाषाओं का समावेश अपने काव्य में करने की इच्छा भी व्यक्त की है। जहां तक उसके भाषा ज्ञान का प्रसंग है, भाषा प्रकरण में यथेष्ट कहा जा चुका है।

विविध शास्त्रों के ज्ञान का उपयोग करने की इच्छा भी कवि ने आरंभ में ही व्यक्त कर दी है। पुराण, दर्शन, काव्य, नाटक, व्याकरण, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, छंदशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, कर्मकांड, स्तोत्र, तंत्र, मंत्र, यंत्र, स्वरोदय, युद्ध विद्या, चौसठ कला, बहत्तर कला, शिल्पकला, शकुन शास्त्र आदि अनेक विषयों और शास्त्रों का समावेश करने की इच्छा के साथ कवि ने रचना का आरंभ किया है। इन सबका समावेश वह यथावत् कर पाया यह कह सकना तो कठिन है पर प्रसंग आने पर उसने अनेक विषयों से परिचय होने का प्रमाण अवश्य दिया है। प्रासंगिक पुराण कथाओं का उपमा, उत्प्रेक्षादि में अंतर्कथा के रूप में उसने समावेश किया है। स्नान वर्णन और रतन की शिव तपस्या के प्रसंग में उसने दैनंदिन कृत्यों और कर्मकांड के अन्य विषयों से अपना परिचय सिद्ध किया है। देवगिरि के भंडारों के वर्णन के प्रसंग में रत्न-परीक्षा का परिचय दिया है, कम से कम रत्नों की नामावलि तो है ही। गज विद्या का भी जानकार होने का परिचय उसने दिया ही है। शाहजहां के रुग्ण होने का उल्लेख करते समय उसने शकुन शास्त्र और फलित ज्योतिष का ज्ञान प्रकट करने के साथ-साथ आयुर्वेद में भी अपनी गति का परिचय दिया है। आयुर्वेद के अनेक ग्रंथों और विषयां का भी उसने उल्लेख किया है। गर्भवल्ली, कौमार तंत्र, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, वाग्भट संहिता, कालज्ञान, माधव निदान, रस-मंगल, रस मंजरी आदि ग्रंथों का उसने उल्लेख किया है। व्याकरण के विषयों का भी उल्लेख किया है। यों अनेक शास्त्रों में उसे पारंगति प्राप्त नहीं हो तो भी पल्लव ग्रहण का अवसर तो मिला ही है। यथावसर कुंभकर्ण ने शास्त्र ज्ञान का परिचय भी दिया है। उदाहरणार्थ, सैन्यवर्णन के प्रसंग में उसने पंक्ति, सेनामुखी, गुल्म, वाहिनी, पृत्ना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी आदि के त्रिगुणात्मक सैन्य विभाजन का उल्लेख करने में महाभारत का उपयोग किया है। यों प्रसंगवश वह किसी शास्त्र विशेष के ज्ञान का यथेष्ट परिचय भी देता है। वैसे तो यदि कवि में कल्पनाशक्ति है और रस निष्पादन की सामर्थ्य है तो वह सफल कवि कहलायेगा ही चाहे उसका प्रवेश विविध शास्त्रों में न भी हो। पर कुंभकर्ण का कवित्व प्रतिभा मंडित भी है और शास्त्र पांडित्य समन्वित भी।

शक्तिर्निपुणता लोक काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्
काव्यस्य शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

में उल्लिखित काव्य हेतु कुंभकर्ण में पूर्णतः विद्यमान है। वह श्यामदेव के इस निकष पर उत्कृष्ट सिद्ध होता है कि **शास्त्रकविः काव्यकविरुभय कविश्च। तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्।** कुंभकर्ण काव्यशास्त्र कवि ही है।

## (९) दोष-दर्शन

निर्दोष रचनाओं को ढूंढ सकना दुर्लभ होता है । कहते हैं कि नैषधकार श्रीहर्ष जब स्व रचित और सरस्वती-अनुमोदित काव्य ग्रंथ को ले कर अपने मामा मम्मट को दिखाने गया तो आचार्य मम्मट ने कहा–"बेटा, तुम कुछ पहले अपना काव्य ले आये होते तो मैं बहुत से परिश्रम से बच जाता । काव्य प्रकाश के दोष-प्रकरण के उदाहरण ढूंढने के लिए मुझे पता नहीं कितने ग्रंथ छानने पड़े थे । यदि नैषध चरित पहले देखने को मिल गया होता तो सभी दोषों के उदाहरण एकत्र ही मिल जाते ।" इस कथा के तथ्यातथ्य से तो हमें कोई सरोकार नहीं है पर इसका सार यह अवश्य है कि उत्तम-से-उत्तम काव्य में भी दोष मिल ही जाएंगे । पर जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा—**एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः** अर्थात् गुणों के संचय के मध्य कुछ दोष भी हों तो चल ही जाते हैं ।

रतन रासो में भी काव्यदोषों का अभाव नहीं है । न्यून पदत्व और अधिक पदत्व को तो संभवतः सौती साहित्यकार दोष ही नहीं मानता था । क्रिया पदों का बस एक रूप दे देना पर्याप्त समझा जाता था । पाठक उसके भूत, भविष्य, वर्त्तमान की कल्पना स्वयं कर लेते थे । इस प्रकार के दोष रतन रासो में भी प्रभूत हैं ।

डिंगल के काव्यशास्त्र कारों ने 'छबकाल' नामक एक दोष भी बताया है जो पिंगल वालों की दृष्टि में कदाचित् गुण है । डिंगल में पर-भाषा के शब्दों का समावेश 'छबकाल-दोष' माना गया है जब कि रतन रासो कार की स्थिति **पैठि सुठट्ठिय पारसिय पस्तो अरब प्रबंध** से स्पष्ट है । रतन रासो कार के सामने तो **'षटंभाषा पुरानं कुरानं'** वाला ही आदर्श है ।

हां, यह मानना पड़ेगा कि बहुभाषा प्रवेश के कारण रासो में अनेक स्थलों पर रस प्रवाह टूट सा जाता है, पाठक को कुछ श्रम करना पड़ता है और वह द्राक्षा पाक का सा आनंद नहीं ले पाता । पर रतन रासो कार और उसके काव्यरसज्ञों की रुचि बहुभाषा पांडित्य के प्रदर्शन में थी और कवि अपनी इस इच्छा को पूर्ण किये बिना नहीं रहा है । इस कारण उसका काव्य नारिकेल पाक बना है, द्राक्षापाक नहीं । पर फिर भी उसमें **'काशीखंड मयः पिण्डं नैषधं विद्वदौषधं** वाली क्लिष्टता नहीं है ।

## (१०) भाषा-भंगी

रतन रासो की भाषा के विषय में अन्यत्र प्रभूत कहा जा चुका है । यहां केवल यह निवेदन करना है कि कवि के पास शब्दों का अक्षय भंडार है । शब्द मानो कवि के आह्वान पर भागे चले आते हैं । जहां जैसा प्रसंग हो वहां वैसी शब्दावली की झड़ी लगा देने में कवि समर्थ है । कहां किस भाषा का पांडित्य दिखाना, यह स्थल की पहचान भी कवि को है ।

अरबी-फारसी के प्रयोग का तो जैसे कवि को आग्रह है पर वह उसके लिए उपयुक्त अवसर भी ढूंढता है। गोपनीय मंत्रणाओं की भाषा यदि सर्वविदित भाषा न हो तो **षट्कर्णे भिद्यते मंत्रः** के नीतिविदों के सिद्धान्त का सरलता से पालन हो सकता है। हमारे यहां तो **पारसी** शब्द का प्रयोग ही **गोपन-भाषा** के अर्थ में होता रहा है। **सुनारों की पारसी** जैसे ग्रंथ मिलते हैं अतः कुंभकर्ण ने भी मंत्रणा के प्रसंग में विशेष रूप से पारसी बहुल वाक्यावलि का प्रयोग किया है।

पत्रों की भाषा में संस्कृत रूप आज भी अधिकतम विद्यमान रहते हैं। केवल व्यापारिक भाव-ताव के समाचारों वाले पत्रों तक का आरंभ 'स्वस्ति श्री सर्वोपमान विराजमान' या 'सिद्ध श्री अमुक स्थाने विराजमान सर्वोपमान' आदि शब्दावली से होता है और 'अत्र कुशलं तत्रास्तु' भी प्रायः लिखा ही जाता है। कुंभकर्ण ने भी इसी स्थिति का ध्यान रख कर अपने दोनों पत्रों की भाषा संस्कृताभास रखी है।

यों रतन रासो मे भाषा वैचित्र्य है पर उस वैचित्र्य के लिए उपयुक्त स्थलों की पहचान भी कवि में है। यथा-स्थल भाषा प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणों से मंडित है। हां, पांचाली, वैदर्भी, गौड़ी आदि रीतियों का उल्लेख 'भाषा-काव्यों' के प्रसंग में करना उचित नहीं होगा क्योंकि भाषा काव्यों में लंबी समासान्त पदावलि की गुंजाइश नहीं होती।

## (११) अध्याय विभाजन

काव्य ग्रन्थों को सर्गादि में विभक्त करने की प्रथा संस्कृत में रही है पर जहां कोई महाकाव्य पुराण कोटि का हो अर्थात् जहां श्लोक संख्या कई सहस्र हो वहां मुख्य विभाजन कांड, पर्व, स्कंध आदि के रूप में होता है और उपविभाजन अध्यायों या सर्गों में। पौराणिक वाङ्मय में अध्याय ही अधिक प्रचलित है।

रतन रासो के अन्तिम अध्याय के आरम्भ में उसका नाम **उज्जैन समय** दिया गया है। यह **समय** शब्द पृथ्वीराज रासो आदि में भी **अध्याय** शीर्षक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः इसकी व्युत्पत्ति तथा **अध्याय** के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार करना समीचीन होगा।

**अध्याय** का सामान्यतः आजकल यही अर्थ समझा जायेगा कि वह अंश जो एक बार में पढ़ा जा सके। अधि उपसर्ग है और इ धातु में घञ् प्रत्यय लगा है। इ धातु के प्रमुख अर्थ हैं:–**जाना** और **सीखना** या **सीखने जाना**। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि **अयन**, **चरित्र** आदि शब्दों का मूल भी जाना अर्थ वाली धातुओं से सम्बद्ध है। **अयन** भी इ से ही बना रूप है और उससे पूर्व **अधि** उपसर्ग जुड़ने से **अध्ययन** शब्द बनता है। यों इ धातु **ज्ञान** और **आचरण** दोनों ही अर्थों से सम्बद्ध है। अतः **अध्याय** का मूल अर्थ किसी एक व्यक्ति का **चरित्र** भी हो सकता है और **एक बार में पठनीय सामग्री** भी हो सकता है।

**समय** शब्द में भी वही धातु है पर उपसर्ग **सम्** है और प्रत्यय **अच्** है। समय शब्द धर्म शास्त्रों का भी एक पुराना शब्द हैं और उसका अर्थ स्मृतियों के अनुसार **अनुबन्ध** या **करार** है। दो या अधिक व्यक्ति जो कुछ करने के लिए एकमत हों वह **समय** कहलाता है। यही समय विधि का भी द्योतक है क्योंकि इसके अनुसार आचरण करना होता है। **रूसो** के सामाजिक अनुबंध सिद्धांत की तरह जिस बात का पालन करना कुछ व्यक्तियों ने स्वीकार कर लिया हो वह भी **समय** कहलाता है। यों परंपरागत आचार-रीतिरिवाज भी **समय** होंगे। शिष्टों का आचरण भी **समय** कहलाएगा। 'समयाचार' आदि में **समय** का प्रयोग आचरण सम्बन्धित इन्हीं नानार्थों में हुआ है।

जैनाचार्य कुंदकुंद का प्राकृत भाषा में समय-सार नामक एक ग्रंथ है जिसमें **समय** की परिभाषा बताते हुए **इ** धातु के दोनों अर्थ बताये गये हैं और **समय** का पारिभाषिक अर्थ **आत्मा** बताया गया है जो ज्ञाता भी है और ज्ञातव्य भी।

यों **समय** शब्द का अर्थ एक ओर **ज्ञान** से सम्बद्ध रहा है दूसरी ओर **चरित्र** से। यह व्युत्पत्ति मूलक वाग्विस्तार केवल यह बताने के लिए किया गया था कि **समय** शब्द का प्राचीन अर्थ **चरित्र और आचरण** भी है।

संभवतः **समय** शब्द का प्रयोग मूलतः चरित्र काव्यों में उसी प्रकार आरम्भ हुआ था जिस प्रकार **कथावस्तु** के प्रसंग में **आधिकारिक** और **प्रासंगिक** का। **आधिकारिक** यदि **चरित्र** था तो **प्रासंगिक** समय था। यों एक चरित्र काव्य में अनेक **समय** होते थे। लगभग यही स्थिति पौराणिक अध्यायों की भी है। 'पृथ्वीराज रासो' नामक चरित्र काव्य में **पद्मावती समयो** आदि उपाख्यान हैं जो आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं।

'समय' का प्राकृत रूप **समयो** अधिक प्रयुक्त हुआ है और परवर्त्ती कवियों ने **समयो** को **समइयो** भी बना दिया है। कुंभकर्ण का ही 'जयचन्द समइयो' नामक अपूर्ण काव्य मिला है। यों 'समइयो' का प्रासंगिक चरित्रों के लिए प्रयोग हुआ है। जयचंद समइयो काव्य अष्टरतनाकर का एक अंश प्रतीत होता है।

बाद में शायद किसी चरित्र नायक से सम्बन्धित फुटकर रचनाएं भी **समइयो** कहलाने लगीं। ऐसी बहुत सी रचनाएं त्रोटक, मोतीदाम आदि छंदों में रही होंगी। परिणाम यह हुआ कि **समइयो के** छंद भी **'समइयो'** कहलाने लगे। यही **समइयो** ब्रज और खड़ी बोली में **सवैया** हो गया। रासो, काव्य, दूहा, कवित्त आदि और भी अनेक ऐसे छंद हैं जो मूलतः काव्य के द्योतक हैं **और** बाद में छंद विशेष के अभिधान बने हैं। यों **सवैया** छंद भी **समय** से संबद्ध है।

अस्तु यह सब विवेचन पूरी तरह प्रासंगिक न होते हुए भी यहां आवश्यक इसलिए समझा गया कि रासो ग्रन्थों के **समय** आदि खंडों के विषयों में कोई चर्चा अन्यत्र देखने में नहीं आयी।

रतन रासो में केवल 'उज्जैन समय' को ही समय संज्ञा क्यों दी गयी, यह एक कठिन प्रश्न है। संभवतः 'उज्जैन-समय' ही अपने आप में पूर्ण और एक पृथक् चरित्र काव्य का विषय है अतः कवि ने उसका नाम तो 'समय' रखा और पूर्वकथा के रूप में दी हुई शेष रचना को अध्यायों में विभक्त किया। वैसे इसे यदि वह अध्याय कहता तो अन्त में षष्ठोध्यायः लिखता पर पांच प्रतियों में ऐसा नहीं करके 'इति रतन रासो सम्पूर्ण' ही लिखा है। हां, (च) प्रति में षष्ठोध्याय लिखा है जो संभवतः प्रतिलिपिककृत क्षेपक है।

# (१२) उपसंहार

काव्य शास्त्र के विविध तत्त्वों–रस, अलंकार, भाषा, वर्णन कौशल, चरित्र चित्रण, कथावस्तु, छन्द छटा आदि—का सम्यक् विवेचन करने के पश्चात् हम यही कह सकते हैं कि रतनरासो कार ने जिस वातावरण में अपनी काव्य सरिता का प्रवाह किया था उसे देखते हुए उसकी काव्य धारा सुरसरिता के प्रवाह के तुल्य आदर की अधिकारिणी है। पृथ्वीराज रासो संभवतः कवि के सामने आदर्श काव्य था। उसने पृथ्वीराज रासो को प्रभूत आदर की दृष्टि से देखा है और अनेक वार उसके कवि का स्मरण किया है। चंद के काव्य के प्रति जो आदर कवि ने व्यक्त किया है उसे देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज रासो का निर्माण रतन रासो से अधिक नहीं तो भी कम से कम सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले तो हो ही चुका होगा। पुराणों के तुल्य आदर सत्कार पाने के लिए किसी काव्य का इतना पुराना होना तो आवश्यक ही है। दूसरे, कुंभकर्ण के अनुसार चंद पृथ्वीराज और जयचंद का समकालीन था। यदि उसकी रचना माना जाने वाला पृथ्वीराज रासो कवि के काल से ४०–५० वर्ष पहले की ही रचना होता तो कवि उसकी तुलना रामायण-महाभारत के साथ कदाचित् ही करता और चंद को पृथ्वीराज और जयचंद का समकालीन शायद ही मानता। इस विषय में निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य है:—

मोती नग मन सत दिये सौ मन कुंदन चंद।
सत्त करिय जलतर दुसत हय दीने जयचंद ॥
+ + +
अचल पित्थ दस्तम सहव मल्ल बिने कवि चंद।
(ध्यान रहे मल्ल कुंभकर्ण का पितामह था)
+ + +
पुनं रामनं राम भारत्थ एसं। खडानंन तारक्क देवासुरेसं ॥
सतक्रत्तु वित्रेव इत्यादि तेवं। पराक्रम ऊधम्म आश्चर्य मेवं ॥
क्रितं चंद सापित्थ संग्राम कत्थं। पुनं विक्रमं पंड वैताल तत्थं ॥
+ + +
चंद कथित प्रथिराज जस अमर सूर सामंत।
कुंभकरण कवि कुल रतन वर्णन मन हुलसंत ॥
+ + +

तहँ पढति भट्ट उक्ता सु चंद । प्रिथिराज साहि भारत्थ छंद ।।
दुतो जुक्त ज्यूँ पित्थ सोमेसनंदं । रसं चित्त आकर्षणं चंद छंदं ।।
\+ + +
अतुलित अतेव प्राक्रम नयंद । संपेखि हरिख जस पित्थ चंद ।।
\+ + +
चातुय सभा शृंगार छंद । रचि रुचिर दिव्य जस पित्थ चंद ।।

और अंत में

जस कहिव चंद बरदाय भट्ट । प्रिथिराज रयन वर्णित विकट्ट ।।
रासो प्रसिद्ध रूपक अभोय । भवितव्वि भविख जसु भवि न कोय ।।

इस प्रसंग में पृथ्वीराज रासो को ऐसा अपूर्व गौरव देने के बाद ही कवि ने बेताल के विक्रम वर्णन, कालिदास के भोज प्रवंध (?), बाण की कादंबरी, श्रीहर्ष के नैपध चरित आदि का उल्लेख किया है ।

पृथ्वीराज रासो और चंद के प्रति जिस श्रद्धा की अभिव्यक्ति कुंभकर्ण ने की है उसे देखते हुए इतना तो स्पष्ट ही है कि चंद को कुंभकर्ण पृथ्वीराज का समकालिक मानता है और उसके काव्य को रामायण, महाभारत आदि के तुल्य श्रद्धा की दृष्टि से देखता है । यह स्थिति आने के लिए यह निश्चय है कि चंद का पृथ्वीराज रासो कुंभकर्ण के समय तक पौराणिक गौरव पा चुका हो । कुंभकर्ण ने तुलसी और उसके मानस का तथा सूर और उसके सूर सागर का कहीं उल्लेख नहीं किया । हिंदी ग्रंथों में केवल रसिक प्रिया और कवि प्रिया का नामोल्लेख किया है यद्यपि वहां भी केशव का नामोल्लेख नहीं किया । यों केशव की रचनाओं का भी नामोल्लेख मात्र है (ध्यान रहे केशव अपने युग के सबसे बड़े पुरस्कार प्राप्त सभाकवि थे । उन्हें 'हुए न हैं न होहिंगे न इंद्र इंद्रजीत से' वाले कवित्त पर ३१ ग्राम मिले थे जो हिंदी कवियों के पुरस्कारों का कीर्त्तिमान माना जाता है) ।

इन बातों पर विचार करने से हम तो इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि पृथ्वीराज रासो कुंभकर्ण से कम से कम सौ वर्ष पहले तो सुप्रतिष्ठित हो ही चुका था, उससे भी पहले हो चुका हो तो आश्चर्य नहीं । यों १७०० विक्रमी के लगभग पैदा होने वाले कुंभकर्ण के उल्लेख को देख कर पृथ्वीराज रासो को १७ वीं शताब्दी की रचना मानने वाले विद्वान् इसके काल निर्णय से संबंधित अपनी राय को कदाचित् बदलना चाहेंगे । कुंभकर्ण ने अपने समसामयिक केवल एक विद्वान् के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त की है और वह है उसका विद्या गुरु महाकवि हरिद्विज । पर उसका भी उसने कहीं महाकवि के रूप में स्मरण नहीं किया और न उसके काव्यों का ही उल्लेख किया है । जिन्होंने महाकवि हरिद्वज के 'दुर्गप्रशस्ति' महाकाव्य और अन्य रचनाओं को देखा है वे इस बात के साक्षी हैं कि वह कैसा अद्भुत महाकवि था । उस महाकवि के प्रति भी कवि कुंभकर्ण ने समसामयिक होने के कारण कवि रूप में कोई श्रद्धा व्यक्त नहीं की जब कि गुरु होने के नाते उसके प्रति देवोपम श्रद्धा व्यक्त की है; उसी के चरण रज के प्रताप से अपने काव्य की सफलता मानी है । स्पष्ट है

कि अपने समसामयिक कवि को कवि रूप में वाल्मीकि, व्यास के बराबर तो क्या माघ, श्रीहर्ष और बाणभट्ट के तुल्य भी स्थान देने को वह तैयार न था। ऐसे आदर्शों वाले कुंभकर्ण ने जिस चंद के रासो के लिए **'भवितव्वि भविख जसु भवि न कोय'** तक कहा है वह चंद किसी भी प्रकार कुंभकर्ण का समसामयिक नहीं हो सकता।

पृथ्वीराज रासो की तिथि का यह अप्रासंगिक उल्लेख दो कारणों से करना पड़ा।' एक तो इसलिए कि पृथ्वीराज रासो रतन रासो कार के लिए आदर्श रहा दूसरे इसलिए कि स्वर्गीय ओझा जी के बाद अनेक लोगों को पृथ्वीराज रासो की तिथि को बीसवीं शताब्दी की ओर घसीटने का शौक ही चर्राने लगा है।

रतन रासो के विषय में एक और बात द्रष्टव्य है। वह यह कि पृथ्वीराज रासो को आदर्श माननेवाला होते हुए भी कुंभकर्ण ने अपने काव्य में ऐतिहासिकता की यथेष्ट रक्षा की है। यह प्रसंग ऐतिहासिकता के संबंधित अंश में द्रष्टव्य है। रतन रासो निस्संदेह काव्यरसज्ञों और इतिहासविदों दोनों ही के लिए उपयोगी होगा। यदि ऐसा हो पाया तो संपादकों का परिश्रम सार्थक होगा।



# ६. ग्रंथ संपादन

## (१) पाठालोचन

कुछ शताब्दी पूर्व तक मुद्रणालय नहीं होते थे जो कवि या रचनाकार के जीवन काल में ही उनके ग्रन्थों की हजारों प्रतियां छाप दें और जन-सुलभ करा दें। उस समय अधिकांश चीजें कंठस्थ ही रखने की प्रथा थी। हां, प्रतिलिपियां करना भी अन्य व्यवसायों के समान एक व्यवसाय था और प्रतिलिपिकार यथासम्भव सुन्दर अक्षरों में प्रतिलिपियां करते थे और उसी के बल पर अपनी आजीविका चलाते थे। पर दुर्भाग्य से प्रतिलिपिकार प्रायः पढ़े-लिखे बहुत कम होते थे। वे प्रायः 'यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया' कह कर दोषों के लिये क्षमा मांग लेते थे। उधर उनका परिहास करने वाले लोग 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' मुहावरे का प्रयोग करके उन्हें चिढ़ाते रहते थे। पर यह आक्षेप प्रायः सत्य ही होता था। पुराने ताड़पत्रीय ग्रन्थों के बीच में एक धागा डाल कर उसमें गांठ लगा दी जाती थी और उसी गांठ के कारण उन पत्रों के समूह को ग्रन्थ या पुस्तक (गांठ) संज्ञा दी जाती थी। अस्तु, जब कागजों पर उन पत्रों की प्रतिलिपियां होनी शुरू हुई तब नये कागजों के बीच भी धागे वाले छिद्र के अनुरूप स्वस्तिक बनाया जाने लगा। प्रतिलिपि कर्त्ता प्रायः अनुकरण भी प्रतिपंक्ति करते थे अतः जहां पंक्ति में मूल लेखक ने हड़ताल फेरी थी वहां प्रतिलिपिकर्त्ता भी अकारण हड़ताल फेर देता था ताकि पंक्तिशः लिपिकरण सम्भव हो। अतः 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' की उक्ति में कोई अतिशयता न थी।

परन्तु मक्षिका स्थाने मक्षिका के नियम का पालन करने वालों के बीच संशोधक प्रतिलिपिकर्त्ता भी होते थे। कहीं-कहीं वाचक ही यथा रुचि अपने हाथ से नये संशोधन कर लेते थे अतः 'यादृशं दृष्टं' की दुहाई देने वाले प्रतिलिपिकारों द्वारा की हुई प्रतिलिपियों में भी यथेष्ट नये रूप मिल जाते हैं। फलतः आज जिन प्राचीन ग्रन्थों की एकाधिक हस्त-लिखित प्रतियां प्राप्त हैं वहां उनकी सहायता से मूल पाठ का निर्धारण प्रतिभा सम्पन्न, बहुशास्त्रज्ञ और कल्पना-कुशल सम्पादकों के ही बस का काम है। एक ही प्रति मिलने पर तो और भी कठिन काम है क्योंकि फिर तो उसके सही रूप के विषय में पूर्णतः अनुमान और कल्पना पर ही आश्रित रहना पड़ता है।

गत कुछ दशाब्दों में पाठालोचन नामक एक नये विज्ञान की चर्चा बहुत होने लगी है। पाठालोचन के वैज्ञानिकों ने पाठालोचन के कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये हैं जिनकी सहायता से यथेष्ट सामग्री होने पर कवि के विवक्षित मूल पाठ तक पहुंचने की प्रायः सम्भावना रहती है। यदि ग्रन्थ विशेष की अनेक प्रतियां सुलभ हों तो प्रायः उनके वंश

निर्धारण की भी आवश्यकता होती है क्योंकि यह भी प्रायः सम्भव होता है कि एक ही समय की दो-तीन मूल प्रतियां हों और शेष उन्हीं की अनु-प्रतिलिपियां हों। ऐसी स्थिति में तो उन मूल दो-तीन प्रतियों पर ही ध्यान केन्द्रित करना अधिक उपयोगी होता है। उन्हीं की सहायता से मूल पाठ के निर्धारण की प्रायः अधिक सम्भावना रहती है। प्रतियों के काल क्रम का भी ध्यान रखना प्रायः उपयोगी होता है, यद्यपि वही सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण तत्त्व नहीं होता। कभी-कभी यह भी होता है कि कवि की सम-सामयिक दो प्रतियां प्राप्त हो जायें, पर उनमें उतना शुद्ध पाठ सुरक्षित नहीं हो जितना उनकी समकालिक किसी तीसरी प्रति की दसवीं पीढ़ी की प्रति में सुरक्षित हो। ऐसी स्थिति में सम-सामयिक दो प्रतियों की अपेक्षा तीसरी विलुप्त प्रति की दसवीं पीढ़ी में होने वाली वंशजा को भी अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। यों अनेक सिद्धान्तों का ध्यान रखकर ही पाठ निर्धारण सम्भव होता है। किसी एक सिद्धान्त को अंतिम प्रमाण मान कर नहीं।

पर फिर भी आज के पाठालोचक प्रायः यह मानते हैं कि स्वयं कवि के हाथ की लिखी हुई प्रति मिल जाये तो उसे यथासम्भव प्रामाणिक मान कर ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया जा सकता है। यह सिद्धान्त विदेशी साहित्यों की प्रतिलिपियों के प्रसंग में चाहे पूर्णतः ठीक बैठता हो पर भारतीय साहित्यकारों के प्रसंग में, विशेषकर सौती कवियों के विषय में, ठीक नहीं माना जा सकता। बात यह है कि हमारे यहां काव्य या इतर साहित्य दृश्य और पठनीय के विभागों में विभक्त नहीं है, दृश्य और श्रव्य विभागों में विभक्त है। कवि लोग मूलतः अपनी कविता बना कर राजसभा में सुनाते थे और तत्काल पुरस्कार पाते थे। राजसभाओं में ही लिपिकार नियुक्त होते थे जो कवि द्वारा उच्चरित आशु काव्य को तत्काल लिपिबद्ध करते जाते थे। यदि कवि स्वयं भी स्मृति-सहायक के रूप में अपनी रचना को कागज पर उतार लेता था तो उसका ध्यान अक्षरों के शुद्धाशुद्ध रूप की ओर प्रायः नहीं जाता जा और वह केवल अपने स्मृति-सहायक के रूप में कुछ टांक भर लेता था। हां, जब वह राज सभा में खड़ा हो कर कविता पाठ करता था तो गुरु-लघु, यति-गति आदि का पूरा ध्यान रखता था और यथा सम्भव अपनी रचना को दोषमुक्त रूप में ही पढ़ता था। स्मृति-सहायतार्थ टांके हुए पाठ की शुद्धाशुद्धता के विषय में उसे कोई चिन्ता नहीं होती थी। रचना मूलतः श्रव्य होने के कारण उसके श्रव्य रूप की ही प्रधानता थी, लिखित (टांके हुए) रूप का बहुत गौण स्थान था।

अतः हमें प्राचीन महाकवियों की रचनाओं का पाठ निर्धारण करते समय प्राप्त हस्तलिखित रूप को सर्वस्व नहीं समझना चाहिए; चाहे वह स्वयं कवि के ही हाथ का लिखा क्यों न मिल जाये। हमें तो कवि के विवक्षित पाठ का ही निर्धारण करने का यत्न करना चाहिए। ऐसा करते समय स्वयं कवि के हाथ की लिखी प्रति तक की उपेक्षा की जा सकती है, बशर्ते कि उसकी उपेक्षा करने के लिए अन्य यथेष्ट प्रमाण हों। उदाहरणार्थ यदि ह्रस्व-दीर्घ के साधारण संशोधन से छंद प्रवाह ठीक होता हो तो कभी संकोच नहीं करना चाहिए; कवि को निस्संदेह सही छंद योजना ही इष्ट रही होगी। **'अपि माषं मषं कुर्यात्'** के सिद्धान्त को मानने वाला भारतीय कवि वर्ग छंदोभंग को पसन्द नहीं कर सकता

था । एक बड़े विद्वान द्वारा सम्पादित कान्हड़ दे प्रबन्ध के संस्करण को देख कर आश्चर्य होता है, क्योंकि उन्होंने छंद का तो ध्यान नहीं रखा, प्रतियों के पाठों और कविकाल के कल्पित शब्द रूपों के प्रमाण को ही सब कुछ मान कर पाठ निर्धारण कर लिया । जो कवि अपने छंद की सुविधा के लिए 'काव्य' को 'कायव' करने को प्रस्तुत रहते हैं उन पर कवि के समय की बोलचाल की भाषा के स्वकल्पित रूप थोपना उचित नहीं माना जा सकता ।

प्राप्त प्रतियों के लिपिकरण के विषय में एक और बात का ध्यान रखना परम आवश्यक है । वह यह कि हमारा सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत की वर्णमाला के ही आधार पर लिखा जाता रहा है । प्राकृत में जो ध्वनिभेद थे उनका उस वर्णमाला में कोई ध्यान नहीं रखा गया था । ह्रस्व ए-ओ प्राकृत काल में ही प्रचलित हो गये थे पर लिपि में उनके लिए कभी कोई स्थान नहीं रखा गया । ऐ-औ ध्वनियों के उच्चारण में परिवर्तन हुए पर लिपि में पुराने और नये दोनों ही उच्चारणों को एक ही तरह व्यक्त किया जाता रहा । संस्कृत का 'ष' वर्ण या तो 'स' हो गया या 'ख' हो गया पर जहां 'ख' ही उच्चारण अभीष्ट था वहां 'ष' ही लिखा जाता रहा । फल यह हुआ कि एक उच्चारण के लिए 'ख' और 'ष' दोनों रूप चलते रहे । आज हमें 'सुख' और 'भाषा' में एक ही वर्ण 'ख' दो रूपों में लिखा मिलता है । 'भाखा' उच्चारण करके भी 'भाषा' लिखना चालू रहा । कुछ क्षेत्रों में तो स्थिति यहां तक हुई कि 'ख' रूप लुप्त हो गया और उसका स्थान 'ष' रूप ने ले लिया । फलतः 'रेखा' भी 'रेषा' और 'सुख' भी 'सुष' लिखा जाने लगा । परन्तु वास्तव में यह स्थिति उतनी बुरी नहीं है जितनी पहली स्थिति है क्योंकि इसमें एक ध्वनि के लिए एक अक्षर की योजना तो है । जब मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण लुप्त ही हो गया तो उसके लिए नियत वर्ण का किसी अन्य ध्वनि के लिए प्रयोग अनुचित नहीं था । आज की गुजराती लिपि का 'ख' इस 'ष' से ही बना है । पर निस्संदेह 'ख' और 'ष' दोनों को एक ही वर्ण (उच्चरित ध्वनि) के लिए चलाना उचित नहीं माना जा सकता । खेद है कि अधिकांश पाठालोचक इस बात का ध्यान नहीं रखते और प्राप्त प्रतिलिपियों को ही आधार मान कर पाठ निर्धारण करते हैं । फलतः एक ही उच्चारण को व्यक्त करने के लिए 'ष' और 'ख' दोनों ही का प्रयोग एक ही आलोचित पाठ में मिल जाता है । इसी प्रकार ए-ओ का प्रयोग ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही रूपों के लिये किया जाता है । कहीं-कहीं प्रतिलिपिकार ने मात्रा का ध्यान रखकर ए-ओ को इ-उ में बदल दिया तो आलोचक भी उसी को ठीक मान लेते हैं ।

सार यह है कि पाठालोचक भी प्रायः देवनागरी लिपि के वर्तमान बने-बनाये ढांचे और प्रतिलिपिकर्त्ताओं द्वारा यथा प्रयुक्त लिपि चिह्नों को प्रमाण मान कर पाठ निर्धारण कर देते हैं । दूसरे, उन्हें मुद्रकों की सुविधा का ध्यान अधिक रहता है, काव्य रसिक पाठकों का कम । परन्तु यह स्थिति किसी भी प्रकार सन्तोष जनक नहीं कही जा सकती । यदि निर्धारित पाठ पाठक को कवि के अभीष्ट उच्चारण तक नहीं पहुँचा सके तो श्रव्य काव्य के साथ न्याय नहीं होगा । ऐसे पाठ को स्मृति सहायक के रूप में टांके हुए पाठों से अधिक

महत्त्व नहीं दिया जा सकता। तुलसी की कवितावली के सवैयों की **अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद के भूपति ले निकसे'** जैसी पंक्तियों के पाठ का उच्चारण किसी अहिंदी भाषी भाई के अथवा किसी विदेशी जिज्ञासु के मुख से सुन कर यदि हंसना ही अपेक्षित हो तो दूसरी बात है अन्यथा कवि के विवक्षित रूप तक पाठक को पहुंचाने के लिये ह्रस्व **ए-ओ ऐ-औ** आदि के लिपि चिह्नों की व्यवस्था करनी ही होगी। यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी ने श्रव्य काव्य की रचना की थी। यदि उसने अपने पाठ को स्वयं भी टांकते समय यह कल्पना नहीं की कि विदेशी भी इसे पढ़ेंगे और छंदों को भंग कर बैठेंगे तो तुलसी की वही इच्छा मान कर पाठ उसी स्थिति में छोड़ देना उचित नहीं है। राजस्थान के तो अधिकतर कवि स्वयं ग्रंथांत में यह निवेदन भी करते रहे हैं कि यदि कोई दोष रह गये हों तो सुधी पाठक स्वयं शुद्धि कर लें। अतः इतना तो स्पष्ट है ही कि पाठालोचक विद्वान् का कर्त्तव्य कवि के अभीष्ट उच्चारण तक पहुँचाना है उसके या किसी और के टांके हुए अक्षरों तक पहुँचाना नहीं। इसके लिये यदि मुद्रकों को कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो संकोच नहीं करना चाहिए।

एक और बात ध्यान रखने की है। वह यह कि आज कल भाषा, इतिहास और अन्य अनेक बातों की दुहाई दे कर पाठों को प्रक्षिप्त बताने की प्रथा सी चल पड़ी है। अमुक कवि के समय में अमुक भाषा के अमुक शब्द के अमुक प्रदेश में प्रचलित होने की सम्भावना नहीं है अतः अमुक शब्दावली, अमुक पंक्ति प्रक्षिप्त है या अमुक काव्य ही जाली है यह कह देने वाले पाठालोचकों और इतिहास विदों की संख्या बढ़ रही है। आज इसी प्रकार के ऊहापोहों के बल पर रामायण-महाभारत आदि के पाठ संशोधनों के कार्यक्रम चलते हैं। पर इन ग्रन्थों में इतिहास के अंशों को ढूंढ़ना ठीक नहीं होगा। इनके लेखकों के जीवन और काल आदि पर विचार करना भी अनावश्यक है। वाल्मीकि थे या नहीं, व्यास हुए या नहीं, व्यास की वाणी से उच्चरित कितने अंश का आशु लेखन गणेश ने किया, कितना सूत ने अपने हाथ से जोड़ा यह सब विचार अनावश्यक है। यदि सारी की सारी जाली रचना है तो भी उसके प्रकाशन में हानि नहीं है। वह रचना तो है ही। जितने पाठ भेद, जितने तथाकथित प्रक्षिप्त अंश आज प्राप्त हैं उन सभी को प्रकाश में ले आने में क्या हानि है? यदि प्रक्षिप्त प्रतीत होने वाले अंश रस-भंग के हेतु बनते हैं तब तो उन्हें प्रक्षिप्त बताने में कोई तत्त्व है अन्यथा इतिहास की चिन्ता से आक्रान्त नहीं होना चाहिए। यदि इतिहास कहता है कि कोई नायक युद्ध में हारा और कवि कहता है कि वह विजयी हुआ तो इतने मात्र से काव्य को जाली बताना उचित नहीं होगा। हमें तो देखना यह है कि प्रसंग विशेष को ले कर कवि अपने कल्पना कौशल के प्रदर्शन में कहां तक सफल हुआ। हमारे काव्य हमारी कवि परम्परा के प्रतीक हैं; हमारी साहित्यिक रिक्थ के प्रहरी हैं; हमारी संस्कृति के दर्पण हैं। रही बात इतिहास की। सच्चा इतिहास न तो व्यक्तियों और घटनाओं का इतिहास होता है और न किसी काल विशेष और प्रदेश विशेष के राजनीति कुचक्रों का। वह तो संस्कृति का समन्वित चित्र प्रस्तुत करता है; संस्कृति का साधारणीकृत रूप प्रस्तुत करता है। वैयक्तिक घटनाएं समान्य संस्कृति की अपवाद भी

हो सकती हैं। अतः यदि इतिहास ऐसी अपवाद रूप घटनाओं का वितथ उल्लेख करके भी संस्कृति के समग्र स्वरूप का अवितथ चित्र उपस्थित करता है तो वह सच्चा इतिहास है। अस्तु, इतिहास के विषय में अधिक न कह कर इतना ही कहना अभीष्ट है कि काव्यों के पाठालोचक इतिहास की असंगतियों मात्र के कारण बहुत से उत्कृष्ट साहित्य को प्रक्षिप्त न बतायें और उसे त्याज्य न घोषित करें। यदि उसमें कवित्त्व है तो उसे प्रकाश में अवश्य लायें। अधिक से अधिक ऐसा कर सकते हैं कि ऐसे पाठ के लिए यह टिप्पणी दे दें कि वह प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। यदि हम वास्तविक कवि और उसकी रचना के वास्तविक मूल रूप के शोध का आग्रह लिये बैठे रहे तो सम्भव है हमें अपने बहुत सारे वाङ्मय से हाथ धोना पड़े।

प्रस्तुत ग्रन्थ रतन रासो के सम्पादन में इन बातों का ध्यान रखा गया है। वैसे हमारा कवि कोई बहुत पुराना कवि नहीं है। उसकी रचना के बहुत अधिक पाठ भेद भी नहीं माने जा सकते। जो पाठ भेद हैं वे बहुत साधारण हैं; जैसे ह्रस्व-दीर्घ के, एकत्व-द्वित्व के, इ-ए-य, उ-ओ-व के। उन्हें हम पाठ भेद नहीं मानते। उदाहरणार्थ एक प्रतिलिपि में द्वित्व व्यंजन को प्रायः एक व्यंजन रूप में ही लिखा गया है। इसी प्रकार ए-ऐ ओ-औ के पाठ भेदों की तो गणना ही कठिन है अतः पाठान्तरों में यदि इन सब को पाठ भेद मान कर उनका उल्लेख किया जाता तो कदाचित् पाठान्तरों का आकार मूल ग्रन्थ के आकार से दुगुना होता। पाठालोचक विद्वान् कदाचित् उन पाठान्तरों को देख कर तुष्ट होते पर प्रस्तुत सम्पादकों का श्रम काव्य रसज्ञों के निमित्त है, पाठालोचकों के निमित्त नहीं। इसलिए ऐसे पाठान्तरों से कलेवर नहीं बढ़ाया गया है। वास्तविक पाठ भेद ही अंकित किये गये हैं।

देवनागरी वर्णमाला कवि के अभीष्ट मूल उच्चारण को व्यक्त करने के लिये जहां असमर्थ रही है वहां यथावश्यक नये वर्णों की आयोजना करवायी गयी है; नये अक्षरों और नयी मात्राओं का निर्माण करवाया गया है। यों यथा सम्भव श्रव्य तत्त्व के महत्त्व का ध्यान रखा गया है। प्रकाशकों, मुद्रकों ने इस आग्रह को माना; तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। ऐसे प्रमुख वर्ण हैं स्वरों के ह्रस्व रूप—अ (विवृत ह्रस्व), अे अै ओ औ और इन तथा अन्य सभी स्वरों के नासिक्य (ँ वाले) रूप। व्यंजनों में डिंगळ के ळ का भी यथा स्थान प्रयोग किया गया है।

स्वरों में ऐ-औ के हिंदी में दो उच्चारण चलते हैं। एक मूल स्वर रूप का, जैसा—**है, जैसा, और** आदि में श्रोतव्य है। दूसरा संधि स्वर का, जैसा—**गैया, मैया, कौवा** आदि में है। रतन रासो के मूल पाठ में दोनों प्रकार के उच्चारणों का भेद कर दिया गया है। केवल मूल स्वर वाले रूप के लिये **ऐ,-औ** का प्रयोग किया गया है। संधि स्वर क्रमशः **अइ-अउ** से व्यक्त किया गया है।

व्यंजनों में, प्रतिलिपिकार **ष** का प्रयोग संस्कृत के मूर्धन्य उष्म ष के लिए भी करते हैं और स्पर्श महाप्राण अघोष **ख** के लिए भी। रतन रासो के मूल पाठ में **ष** का

प्रयोग केवल **पुष्प, विष्णु** जैसे संयुक्त रूपों में ही किया गया है क्योंकि राजस्थान के कवि अन्यत्र ष का उच्चारण ख ही करते थे। जहां ख उच्चारण अभीष्ट था वहां सम्पादन में ख ही रखा गया है, ष नहीं।

सर्वप्रथम पाठ निर्धारण (क), (ग) और (घ) नामांकित तीन प्रतियों की सहायता से किया गया था। यह संपादन सन् १९५१ तक पूर्ण हो चुका था। पर संपादकों को इस पाठ संपादन से संतोष नहीं था। इसमें कुछ पाठ मूलक, कुछ अर्थ मूलक और कुछ अन्य समस्याएं थीं जिनका विवेचन आगे करेंगे। अतः संपादकों की यह इच्छा बनी रही कि कोई और प्राचीन तथा अधिक प्रामाणिक प्रति मिल जाए तो पुनः संपादन किया जाए। इसी आशा में १९५२ में एक बार प्रेस में दी हुई प्रति तक वापिस ली गयी और प्रकाशन रोका गया। कोई ८–९ वर्ष बाद लंदन से (ख) प्रति की माइक्रोफिल्म प्रतिलिपि प्राप्त की गयी जिसका प्रतिलिपि काल (क) प्रति से भी पुराना था।[1] यह जोधपुर परिवार की सब से प्राचीन प्राप्य प्रति है। पर इसे देखने तथा इसके पाठान्तरों का समावेश करने के बाद भी स्थिति जहां की तहां रही अर्थात् जिस आशा में यह दीर्घ प्रतीक्षा की गयी थी, उसकी पूर्ति नहीं हुई; केवल पठान्तरों का कलेवर बढ़ पाया।

इस प्रकार ११६१ तक, चौथी प्रति के पाठान्तरों का भी समावेश कर के समग्र सामग्री को पुनः टंकित करवा लिया गया। १९५२ की टंकित प्रति में व्यवस्था क्रम मूल पाठ, शब्दार्थ, भावार्थ और पठान्तर का था। पर १९६१ में क्रम में परिवर्तन किया गया जिसके अनुसार मुद्रित सामग्री के बायें पृष्ठ पर शुद्ध पाठ और पाठान्तर रखे गये तथा दाहिनी और मूल पाठ के सामने भावार्थ तथा पाठान्तरों के सामने कठिन शब्दों के अर्थ रखे गये। यों चार प्रतियों की सहायता से संपादित पांडुलिपि तैयार हो गयी पर तब प्रकाशन की व्यवस्था न हो पायी। सन् १९६७ में राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से एक और प्रति प्राप्त हुई जो वस्तुतः जोधपुर परिवार की ही प्रति थी और प्राचीनता की दृष्टि से (क), (ग) और (घ) से प्राचीन थी; केवल (ख) प्रति से बाद की थी। पर क्योंकि यह पांडुलिपि दुबारा टंकित होने के बाद प्राप्त हुई थी; अतः इसे (ङ) प्रति नाम देना पड़ा। इस के पाठान्तरों का भी समावेश कर दिया गया यद्यपि इससे भी पाठान्तरों की कलेवर वृद्धि मात्र हो पायी, समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। इतना जरूर स्थिर हुआ कि जोधपुर परिवार की सभी प्रतियों में छंदों की संख्या १ से आरंभ की गयी है यद्यपि अध्याय की समाप्ति पर **काव्य अष्ट रतनाकर** के तृतीय अध्याय की समाप्ति बतायी गयी है।

उक्त पांच प्रतियों में से केवल मालवा परिवार वाली (क) प्रति ऐसी थी जिसकी छंद संख्या ४८ से आरंभ होती थी जिससे प्रतीत होता है कि उससे पूर्व ४७ छंद और थे।

---

१. आरंभिक पांडुलिपि में (ग), (घ) प्रतियों के नाम (ख), (ग) थे। पर १९६१ में जब पुनः टंकन किया गया तो तब तक प्राप्त लंदन वाली प्रति के प्राचीन होने के कारण उसे (ख) नाम दे दिया गया और पहले की (ख), (ग) प्रतियों को क्रमशः (ग), (घ) नाम दे दिये गये।

उसके लिए प्रति में पांच पत्र खाली भी छोड़े गये हैं । पर इन पांचों प्रतियों में पुष्पिका पाठ प्रायः एक से थे । तृतीय अध्याय की समाप्ति पर **काव्य अष्ट रतनाकर** का उल्लेख था । चतुर्थ और पंचम अध्याय की समाप्ति भी प्रायः एक सी थी । षष्ठ अध्याय के आरंभ में **उजेन समय आरभ्यते** लिखा था पर अंत में षष्ठ अध्याय की समाप्ति का उल्लेख न कर के **'रतन रासो संपूर्णम्'** ही लिखा था ।

अस्तु, १९७१ में राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान ने रतन रासो के प्रकाशन में रुचि दिखायी और संपादकों ने भी और अधिक प्रतीक्षा किये बिना यथा प्राप्त रूप को ही प्रकाशनार्थ देना श्रेयस्कर समझा । प्रतिष्ठान ने इसे अपनी योजना में सम्मिलित करना स्वीकार किया और १९७२ के आरंभ में इस का मुद्रण कार्य आरंभ हो गया । संयोग की बात, फरवरी १९७२ में डा० रघुवीरसिंह जी का जयपुर यात्रा का प्रसंग आया और वहाँ आचार्य कृपाशंकर तिवारी के निजी संग्रह में एक और प्रति प्राप्त हुई जिसकी कुछ अपनी विशेषताएं हैं । एक तो यह प्राप्त प्रतियों में सब से पुरानी है । दूसरे, इसमें तृतीय अध्याय की छंद संख्या (क) प्रति के समान है । तीसरे, पुष्पिकाओं में 'रतन रासो' नाम का कहीं उल्लेख नहीं है । चौथे, अंतिम अध्याय को **षष्ठ अध्याय** लिखा गया है । पांचवें, कुछ चरण पहली पांच प्रतियों में समान रूप से लुप्त थे जिनमें से एक चरण इसमें प्राप्त है । छठे, कुछ छंदों के नाम इसमें अन्य प्रतियों से भिन्न दिये गये हैं । यों अधिक बातों में (क) प्रति से मेल खाते हुए भी उपयुक्त छः तथ्य ऐसे हैं जिनको देखते हुए इसको तीसरे परिवार की प्रति मानना ही संगत है । यह प्रति प्राचीनतम होते हुए भी इसे (च) नाम देना पड़ा क्योंकि यह मुद्रण आरंभ होने के बाद ही प्राप्त हुई ।

जैसा पहले कह चुके हैं इन प्रतियो के **पुष्पिका** लेखों को देखने से एक सहज समस्या उत्पन्न होती है । अध्यायों की समाप्ति पर सर्वप्रथम **तृतीयोध्यायः** लिखा है; फिर क्रमशः चतुर्थ और पंचम अध्याय की समाप्ति बतायी गयी है । (च) प्रति में तो अंतिम अध्याय को भी **षष्ठोध्याय** बताया गया है । पर शेष प्रतियों में अन्तिम अध्याय की समाप्ति पर **इति रतन रासो सम्पूर्णम्** लिखा गया है । पर अन्य अध्यायों की समाप्ति पर किसी भी प्रति में **रतन रासो** का उल्लेख नहीं है । इसके विपरीत तृतीय अध्याय की समाप्ति पर सभी प्रतियों में **इति काव्य अष्ट रतनाकरे** लिखा गया है । यों सहज ही प्रश्न उपस्थित होगा कि 'काव्य अष्ट रतनाकर' क्या वस्तु है और उसका 'रतन रासो' से क्या सम्बन्ध है? फिर ये प्रश्न भी होंगे कि आरम्भ के दो अध्याय क्या थे ? पांच प्रतियों में उज्जैन समय की अध्याय संख्या का उल्लेख क्यों नहीं है ? (क) और (च) प्रतियां तो एक और भी समस्या उत्पन्न करती हैं । (क) प्रति में आरम्भिक दोहे की संख्या १ न होकर ४८ है और अन्तिम दोहे की संख्या ३७ नहीं ८४ है । (च) प्रति से भी इसकी पुष्टि होती है । उसमें प्राप्त पहला दोहा ७६ संख्यक है और (क) प्रति में भी उसकी वही संख्या है । (च) प्रति में भी अन्तिम दोहे की संख्या ८४ ही है । यों तृतीय अध्याय के आरम्भिक ४७ छंद अप्राप्य प्रतीत होते हैं ।

ऐसा लगता है जैसे आरंभ के अढ़ाई अध्याय लुप्त हों। रासो के प्रारम्भ का कुछ अंश थोड़ा अस्पष्ट तो अवश्य है पर प्रतीत यही होता है कि वह काव्य के आरम्भ का अंश है। शास्त्रों की नामावली, गुरु प्रशंसा, काव्य प्रयोजन, कवि और कविपत्नी संवाद आदि सभी प्रसंग काव्य के आरंभ के द्योतक ही प्रतीत होते हैं पर फिर भी (क) और (च) प्रति की दोहा संख्या संदेह दोला पर तो आरूढ़ करा ही देती है। सम्भव है तीसरे अध्याय के प्रारम्भिक दोहों में प्रश्न ही प्रश्न रहे हों कि कवि आगे किस का वर्णन करना चाहता है और क्यों चाहता है, उसे सफलता कैसे मिलेगी आदि ? सम्भव है उस अंश के मिल जाने पर प्रश्नोत्तर कथन वाले प्रसंग का भाव बहुत सरल और स्पष्ट हो जाए। पर अभी तक ऐसी कोई अन्य प्रति नहीं मिल पायी है। हां, तीसरे, चौथे और पांचवें अध्याय की समाप्ति का उल्लेख अवश्य सभी प्रतियों में है और (च) प्रति में तो छठे अध्याय का भी। तृतीय अध्याय की समाप्ति पर **काव्य अष्ट रतनाकर** का उल्लेख भी सभी प्रतियों में है।

अधिक से अधिक यही कल्पना की जा सकती है कि कवि ने आरम्भ के दो अध्यायों में जयचन्द से ले कर बाघा तक के राजाओं का वर्णन किया होगा। और अन्तिम दो अध्यायों में रामसिंह और शिवसिंह का जिनके दरबार में वह रहा। बीच के चार अध्यायों में उसने रतन का विस्तार से और उसके पिता, पितामह और पितृव्यादि का संक्षेप में वर्णन किया। जैसा कि पहले बता चुके हैं कुंभकर्ण की एक अन्य रचना जयचन्द से सम्बन्धित प्राप्त भी है पर दुर्भाग्य से वह अपूर्ण ही है। यदि उसकी पूर्ण प्रति मिल जाती तो सम्भवतः समस्या का कुछ समाधान हो जाता। लगता तो यही है कि वह काव्य अष्ट रतनाकर के प्रथम अध्याय का अंश है और प्रथम अध्याय जयचन्द से ही सम्बन्धित रहा होगा। दूसरे अध्याय में मंडोर में आ कर बसे हुए उदयसिंह से पूर्ववर्ती राजाओं के वीर कृत्यों का वर्णन होगा। बीच के चार अध्यायों में काव्य श्रोता रामसिंह और शिवसिंह की अधिक रुचि रही होगी अतः उन्हें अलग से रतन रासो संज्ञा दी गयी होगी और इसीलिए उसके आरंभ में मंगलाचरण, प्रश्नोत्तर कथन आदि की व्यवस्था की गयी होगी। राजसभा में केवल इसी अंश का पारायण हुआ होगा। अस्तु, यथेष्ट प्रमाणों के अभाव में ये कल्पनाएं ही संभव हैं और इस समस्या के सच्चे समाधान में जो पाठक सहयोग देंगे उनके हम कृतज्ञ होंगे।

समाधान होने तक काव्य को अप्रकाशित रोकना उचित नहीं। कुछ सामग्री प्रकाश में आयेगी तो संभव है पाठकों का ध्यान अपने पास विद्यमान अन्य सामग्री पर जाये और वे उस सामग्री का आलोडन-विलोडन कर हमें कुछ तत्त्व-नवनीत दे सकें।

छः प्रतियों की सहायता मिलने पर भी पाठ निर्धारण में एक बहुत बड़ी कठिनाई रही है। कवि ने अपने पांडित्य प्रदर्शन और मुगलशासकों के मनोरंजन की दृष्टि से संभवतः मूल प्रति अरबी अक्षरों में लिखी थी—**आरबी हर्फ पस्तो बनाय। निसचरन मोंद कउतक उपाय।** और उस लिपि से जिस लिपिकार ने देवनागरी करण किया उसने संभवतः कई भ्रांतियां उत्पन्न कर दीं। यह भी संभव है कि कवि स्वयं केवल बोलता गया हो और

उसकी रचना कोई फारसी–अरवी लिपि जानने वाला लिपिवद्ध करता गया हो। पर अरवी अक्षरों के कारण देवनागरी करण में कुछ गड़बड़ अवश्य हुई है। इसी कारण अनेक स्थलों पर पाठ निर्धारण में कठिनाई भी हुई है। एक नमूना द्रष्टव्य है। एक स्थान पर छहों प्रतियों में **पहलवान फीलूँ चढे** पाठ मिलता है। पर बात कुछ जमती नहीं है। हाथी के महावतों के प्रसंग में **पहलवान** शब्द ठीक कैसे वैठेगा ? इसका पाठ निर्धारण किया गया है **'फीलवान फीलूँ चढे'**। फ़ील के फारसी हिज्जे को ठीक से न जानने वाले लिपिकार ने **पे-हे** के मेल से **फ** बनाया है और मात्रा की आवश्यकता न समझी अतः उसे छोड़ दिया है। वस लिपिकार का तो फि बन गया पर प्रतिलिपिकार ने उसे 'पह' पढ कर पहलवान बना दिया। लिपि मूलक इस प्रकार के और भी दोष आये होंगे। अतः सही पाठ का निर्धारण वस्तुतः कठिन काम था। अरवी-फारसी अक्षरों में ई-ए-य, ऊ-ओ-व का भी भेद नहीं अतः ऐसे पाठान्तरों की भी इन प्रतियों में भरमार है। 'सिंघ' और 'स्यंघ में से कौनसा पाठ कवि को अभीष्ट हुआ होता यह निर्धारण भी कठिन है। उसके समसामयिक अन्य कवियों की रचनाओं में भी दोनों ही रूप मिलते हैं।

इन कठिनाइयों के सत्यपि इन प्रतियों की सहायता से पाठ का जैसा भी निर्धारण सम्भव था, करने का यत्न किया गया है। इसमें दोष अवश्य रहे होंगे। सुधी जनों के संशोधन प्राप्त होंगे तो उनका स्वागत होगा। कुंभकर्ण की रचना जहां तक सम्भव हो उसी के अभीष्ट रूप में प्रकाश में आ पाये यही सम्पादकों की कामना रही है। अतः यदि कोई विद्वान् दोषों का निराकरण सुझाएगा तो निस्संदेह संपादकों को हर्ष होगा।

पाठ निर्धारण मात्र ही सम्पादक के कर्म की इति कर्तव्यता नहीं होती। उस पाठ को आस्वाद योग्य बनाना भी सम्पादक का कर्त्तव्य है। रतन रासो 'द्राक्षा पाक' नहीं है कि चाहे जिस कोटि का पाठक उसका आस्वादन कर सके। यह तो निस्संदेह 'नारिकेल-पाक' है। सम्पादक का काम पाक बना कर दे देना तो नहीं है पर उसकी जटिल विधि को कुछ सीमा तक सरल बना देना अवश्य है। नारिकेल के विकट जटा जाल का उन्मोचन यदि सम्पादक कर दे तो समझिए उसने यथेष्ट काम कर दिया। उसके वाद आटोप भेदन की क्षमता और पाक प्रवीणता पाठक में होनी चाहिए। जिसमें इतनी भी क्षमता नहीं वह 'नारिकेलि-पाक' के आस्वादन का पात्र नहीं है। रतन रासो रूपी नारिकेल के जटा उन्मोचन के लिए काव्य का भावार्थ साथ-साथ दिया गया है, कठिन शब्दों के अर्थ दिये गये हैं और पाठान्तर भी ताकि यदि पाठक को पाठान्तर अधिक प्रिय लगे तो उसे अपना ले। प्रसंग निर्देश भी शीर्षक रूप में किये गये हैं। इसके अतिरिक्त भाषा परम्परा, काव्य परम्परा, काव्य शास्त्र परम्परा आदि के विषय में परिचायक निवन्ध दे कर और कथावस्तु से सम्बन्धित इतिहास और ऐतिहासिक टिप्पणियां दे कर काव्य रसज्ञ के काम को यथेष्ट सरल वनाने का यत्न किया गया है। फिर भी पाठक में आटोप भेदन सामर्थ्य और पाक-प्रावीण्य तो अपेक्षित है ही। जिन रसज्ञों में यह सामर्थ्य है वे इस 'नारिकेलि-पाक' का रसास्वादन कर सकेंगे, ऐसी आशा है।

अस्तु, अब रतन रासो में प्रयुक्त प्रतियों का किंचित् परिचय दिया जा रहा है। **प्रति (क)**—यह मालवा की प्रति है। इसका लिपि स्थान रत्नावती (रतलाम) और लिपि काल संवत् १८६१ के माघ मास की शुक्ल त्रयोदशी, बुधवार दिया गया है। प्रतिलिपि कर्त्ता जोशी सेवाकान्त का पुत्र गुलाब राम है। उसने महाराजा बलवंतसिंह जी के वाचनार्थ प्रतिलिपिकरण किया था। प्रतिलिपि का कागज हस्तलिखित प्रतियों में सामान्यतः प्रयुक्त जहांगीरी कागज है। उसकी लंबाई २५" और चौड़ाई ८" है। लंबाई के बीच में सिलाई की गयी है जिससे प्रत्येक पत्र की लम्बाई १२½"रह गयी है। लिखित पत्रों की कुल संख्या १०५ है। प्रारंभ के ३० पत्रों के अक्षर कुछ छोटे हैं अतः प्रत्येक पृष्ठ की पंक्ति संख्या १८ और प्रत्येक पंक्ति की अक्षर संख्या ३०–३२ के लगभग है। तीसवें पत्र की तेरहवीं पंक्ति से अक्षरों का आकार बड़ा हो गया है, फलतः प्रत्येक पृष्ठ की पंक्ति संख्या १५ और प्रत्येक पंक्ति की अक्षर संख्या २८–३० रह गयी है। तीसवें पत्र के दूसरे पृष्ठ पर हाशिये में 'रत्न रासो ग्रंथ' लिखा हुआ है। इस प्रति में पहले दोहे की संख्या ४८ दी गयी है। आरंभ में कई पत्र खाली हैं जिनमें ५ पत्रों में तो हाशिये आदि की रेखाएं भी अंकित हैं। संभवतः ये पांच पत्रक इस विचार से छोड़े गये थे कि आरंभ का पाठ प्राप्त होने पर लिखा जाएगा पर वह पाठ प्राप्त न हो सकने के कारण ये पत्र खाली ही रह गये। पत्र ३ के दूसरे पृष्ठ पर दोहा सख्या ८४ के पश्चात् अध्याय समाप्ति की सूचना देते हुए लिखा गया है–

**इति श्री कवि कुंभकर्ण विरंचिते काव्य अष्ट रतनाकरे प्रश्नोत्तर कथन तृतीयो ध्यायः ।।३।।**

अगले अध्याय की समाप्ति पर लिखा है—

**इति श्री कवि कुंभकर्न वर्णने श्री दक्षिण महामहमद देवगियंद्र दुरंग विग्रहेः त्रय साहि सेन जुध्ये साहिग्रहनो नाम श्री मधकर साहि विजं चतुर्थोध्याय संपूर्णः ।।४।।**

उससे अगले अध्याय की समाप्ति पर लिखा हैः—

**इति श्री कवि कुंभकरन विरचिते श्री रतनसिंघ राजभिषेक उत्तर जुध विजय एदल साह ग्रहंनो नाम पंचमोध्यायः।**

उसके बाद आगामी अध्याय का आरंभ सूचित करते हुए लिखा है :—**अथ उजेन समय आरंभतेः ।।**

ग्रंथ समाप्ति पर पुष्पिका लेख इस प्रकार है :—

**।।श्री।। इति श्री कवि कुंभकर्न सुप्त पुरी मध्ये मुकटमनि अवंतिका नाम छेत्रे श्री सिपुरा महासरिज तटे श्री सिवा श्री गंगा सहिते श्री जोतिल्यंग महंकेस्वर सानिध जुध उभय साह अवरंग मुरादि जवन्येन्द्र मम महाभारथे माहाराजाधिराज जसवंतस्यंघ नाम्ने अनुज रतन सेनाधपते उपयंद्र इंद्र जुगलेः ।। तत्र मुक्तिद्वार मुकलित कपाटे अनेक सुभट समूह**

**रवि मण्डल भेदनेक वीरोछवे तत्र रतनस्यंग्र सिव स्वरूप प्राप्ते ।। कइलासवासे तत्र महना वर्ननो नामः ।। प्रस्ताव ।। इति श्री रतन रासो संपूर्ण ।।:।। शुभं भवतु ।। कल्याण भवतु ।। श्रीरस्तुः ।। संवत् १८९१ ।। नाः ।।माघमासे शुक्ल पक्षे ।। त्रयोदस्यां ।। बुधवासरे ।। लिषितं रत्नावती मध्ये ।। महाराजधिराज माहाराज श्री श्री श्री श्री श्री १०८ श्री नरपीतस्वर श्री बलवन्तसींह जी स्वयं पठनार्थं ।। तदाज्ञा कृतं लिषित्वा ।। ब्राह्मण जोसी सेवाकांत तत्पुत्र गुलाब रामेण लिषितं ।। शुभं भवतु कल्याणमस्तु ।। श्री श्री ।।१।।**

इस प्रति का पाठ काफी शुद्ध है पर द्वित्व वर्ण का निर्देश सर्वत्र एक ही वर्ण से किया गया है। शब्दों को पृथक् करके नहीं लिखा गया पर छंदों के चरणों को अलग किया गया है। छंद-निर्देश कहीं लाल स्याही से किया गया है और कहीं काली स्याही से ही। अध्याय समाप्ति लाल स्याही में अंकित है।

प्रति (ख)—यह जोधपुर परिवार की प्राचीनतम प्रति है। पर इस समय यह लंदन में सुरक्षित है अतः उसकी माइक्रोफिल्म प्रति ही प्राप्त की जा सकी। इसका लिपि स्थान जोधपुर और लिपिकाल संवत् १८७६ के पौष शुक्ल पक्ष की चतुर्थी तिथि और बुधवार है। प्रतिलिपिकर्त्ता ब्राह्मण गणेश दत्त है। यह आधुनिक सिली हुई पुस्तकों की तरह चौड़ाई वार पंक्तियों में लिखी हुई है। कागज की लम्बाई और चौड़ाई १०"×६" प्रतीत होती है। कागज पर सब ओर हाशिया भी छोड़ा हुआ है। लिखित पत्रों की कुल संख्या १०१ है जिनमें अंतिम पत्र अपूर्ण है। पत्र संख्या केवल दूसरे पृष्ठ पर डाली गई है। प्रत्येक पृष्ठ पर २४ पंक्तियां और प्रत्येक पक्ति में २०-२१ वर्ण हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में **श्रीगणेशायनमः। अथ रत्नरासो लिख्यते।** दूहा के बाद प्रथम दोहा '**तेजपुंज तालेबिलंद**............ ..' आरम्भ कर दिया गया है और दोहा संख्या १ से प्रारम्भ की गई है; (क) प्रति के समान ४८ से नहीं। दोहा संख्या ३६ के पश्चात् तृतीयोध्याय की समाप्ति का उसी प्रकार उल्लेख है जिस प्रकार (क) प्रति में। **इति श्री कवि कुम्भ-करन विरचिते काव्य अष्ट रतनाकरे प्रश्नोत्तर कथन तृतीयोध्यायः ।।३।।** यों (क) प्रति और (ख) प्रति का यह पुष्पिका लेख एक जैसा ही है।

चतुर्थ अध्याय का पुष्पिका लेख भी (क) प्रति से प्रायः मिलता-जुलता है। **इति श्री कुम्भ करण विरचिते श्री दक्षिण महामहद देवगिर्यंद्र दुरंग विग्रहे त्रय साहि सेन जुध्ये साहिग्रहनो नाम श्री मधक साह विजयं चतुर्थोध्यायः ।**

उससे आगे के अध्याय का पुष्पिका लेख भी (क) प्रति जैसा ही है। **इति श्री कवि कुम्भकरण विरचिते श्री रतनसिंघ राज अभिषेक विजयेदलसाह ग्रहंनो नाम पंचमो अध्यायः ।।**

उसके बाद (क) प्रति के समान ही आगामी अध्याय का आरम्भ करते हुए लिखा है—**अथ उजेन समय आरंभते ।**

रतन रासो की समाप्ति का उल्लेख लगभग (क) प्रति जैसा ही है—**इति श्री कुम्भकर्न विरचिते सप्तपुरी मध्ये मुकटमनि अवंतिका नाम छेत्रे श्री सिपुरा महसरित तटे श्री सिवा श्री गंगासहिते श्री जोतिलिंग महंकालेस्वर सानिध उभय साह अवरंग मुरादि जवनिंद्र सन महाभारथे महाराजाधिराज जसवंतसिंघ नामने अनुज रतनसिंघ सेनाधपते उपयंद्र इंद्र जुगले तत्र मुक्ति द्वार मुकलित कपाटे अनेक सुभट समूह रवि मण्डल भेदनेक वीरोच्छवे तत्र रतन सिंघ सिव स्वरूप प्राप्ते कइलास वासे महमा वर्ननो नामः प्रस्ताव इति श्री रतन रासो संपूर्ण ।**

इसके पश्चात् संक्षेप में लिपिकर्त्ता, लिपिकाल और लिपिस्थान का उल्लेख है :—**श्रीरस्तुः लिखितं ब्राह्मण गणेशदत्त संवत १८७६ रा पौष सुद ४ बुधः जोधपुर मध्ये ।**

प्रति (ग)—यह जोधपुर परिवार की प्रति है पर बहुत पुरानी नहीं । हां, इसमें यह उल्लेख अवश्य है कि यह किस प्रति पर आश्रित है और वह आश्रयभूत प्रति स्वयं किस पर आश्रित है । यों इस प्रति की मातामही प्रति संवत् १८६९ में जती माणकचंद्रद्वारा जोधपुर में बारहठ बांकीदास जी के वाचनार्थ प्रतिलिपिकृत हुई थी । उस प्रति से बालकृष्ण जोशी ने तारीख २८-१-१६ को दूसरी प्रति तैयार की और उसी पर आश्रित प्रस्तुत प्रति संवत् १९९६ की है जिसके प्रतिलिपिकर्त्ता और प्रतिलिपिस्थान का उल्लेख नहीं है । वैसे यह प्रति म० म० विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने करवायी थी । पुस्तक के आरम्भ में लिखा है—**कविराजा गणेशदान जी री पुस्तक री नकल रतन राशो लिखंते ।** इससे प्रतीत होता है कि जोशी बालकृष्ण ने गणेशदान जी की प्रति से प्रतिलिपि तैयार की थी ।

यह प्रतिलिपि भी आधुनिक पुस्तकों की तरह सिली हुई और बच्चों की कापियों के आकार की है । कागज कुछ पुराना मोटा है और अक्षर पुराने प्रतिलिपिकारों के से हैं जिससे ज्ञात होता है कि किसी प्रतिलिपि व्यवसायी परिवार के व्यक्ति ने ही प्रतिलिपि की है । पृष्ठ पर बायें-दाहिने लाल स्याही से एक-एक इंच के लगभग हाशिया छोड़ा गया है । ऊपर-नीचे भी थोड़ा-थोड़ा हाशिया है । प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर रतन रासो और पृष्ठ संख्या अंकित है । पृष्ठों की कुल संख्या १५५ है जिनमें अंतिम पृष्ठ पर केवल चार पंक्तियां लिखी हैं । वैसे प्रत्येक पृष्ठ पर २० पंक्तियां और प्रत्येक पंक्ति में ३०-३५ अक्षर हैं । छंदों के नाम और अंक लाल स्याही में दिये गये हैं । आरंभ और समाप्ति का तथा अध्यायों की समाप्ति का भी उल्लेख लाल स्याही में है ।

इस प्रति के आरम्भ का परिचय ऊपर दिया जा चुका है । दोहों की संख्या का आरंभ जोधपुर परिवार की अन्य प्रतियों के समान ।।१।। से ही किया गया है । छंद संख्या ३६ के बाद लिखा है—**इति कवि कुम्भकरण विरचिते काव्य अष्ट रत्नाकरे प्रश्नोत्तर कथनं त्रितीयोध्यायः।।** चतुर्थ अध्याय की समाप्ति पर लिखा है—**इति श्री कवि कुम्भकर्ण तै श्री दक्षिण महदेव गिरयंद्र दुरंग विग्रहे त्रय साहि सेन जुध्ये साहि ग्रहन्नो नामश्री मधकर साहि**

**विजयं चतुर्थोध्यायः** । पंचम अध्याय की समाप्ति यों है—**इति श्री कवि कुम्भकरन विरचिते श्री रतनसिंघ राजविषेक उत्तर जुध विजय ऐदलसाह ग्रहनो नाम पंचमो अध्याय** । उसके बाद अन्य प्रतियों के समान ही **अथ उजेनसमय आरम्भते** लिख कर उज्जैन समय का उल्लेख किया गया है ।

उज्जैन समय की समाप्ति पर रतन रासो के संपूर्ण होने का उल्लेख है—**इति श्री कवि कुंभकर्न विरंचिते सप्तपुरी मध्ये मुकुट मनि अवंतिका नाम छेत्रे श्री सिपुरा महासरित तटे श्री सिवा श्री गंगा सहिते श्री ज्योतिलिंग महंकालेश्वर सान्निध जुध उभय साह अवरंग मुरादि जवन्येंद्र सम महाभारथे महाराजाधिराज जसवंतस्यंघ नाम्नै अनुज रतन सेनाधपते उपयंद्र इंद्र जुगलै तत्र मुक्ति द्वार मुकलित कपाटै अनेक सुभट समूह रविमंडल भेदनेक वीरोछवे तत्र रतनस्यंघ सिवस्वरूप प्राप्ते इकलास वासे तत्र महमावर्ननो नाम प्रस्ताव । इतिश्री रतन रासौ संपूर्णम् । संवत् १८६६ मिति आसाढ़ सुद १३ दिने लिखतं जति माणकचन्द्रेण । श्री जोधपुर मध्ये बारठजी श्री १०५ श्री वांकीदास जी बाचनार्थ ।। श्री रस्तु ।। कल्याणमस्तु । यादृसं पुस्तं द्रिष्वा तादृसं लिखिते मया यदि सुधमसूधंवा मम दोसौ न दियते । इति श्री रतन रासो की द्वितीय कापी संपूर्ण ।। ता० २८-१-१६ ।। लेखक जोशी बालकृष्ण शर्मा ।।**

**लेखक विनय ।। छप्पय छंद ।। शास्त्र अंक ग्रह चंद्र वर्ष विक्रम शुभ जानो । फालगुन कृष्णा दूज वार दिन पति पहिचानो । रतन सुरासो एह सरस कवि कुंभकरन कृत । लिखियो सुन्दर वरन ललित लघु तनय सरल चित । प्रति समान लेखक लिखे यह नय हृदय विचार कृति । नहिं देवहिं शुद्धि अशुद्धि को लेखक के प्रति दोष रति ।। शुभं भवतु ।। लेखक पाठकयो शुभं ।।**

इस प्रतिलिपि में शुद्ध पाठ उतना नहीं जितना लंदन वाली प्रति में है । दोष १८६६ वाली बांकीदास जी की प्रति में कदाचित् उतने नहीं रहे होंगे । जोशी बालकृष्ण और प्रस्तुत प्रतिलिपिकर्त्ता ने अवश्य कुछ भूलें (या अपनी समझ से संशोधनाएं) की होंगी ।

प्रति (घ)––यह सबसे बाद की और सर्वाधिक दोषपूर्ण प्रति है । संभवतः प्रति-लिपिकार ने संशोधन का यत्न बहुत अधिक किया है और इस प्रकार 'प्रतिसमान लेखक लिखै' के नियम का पालन नहीं किया है । प्रति फूल्स्केप साइज के रूलदार कागज पर की गयी है और रजिस्टर की तरह सिली हुई है । कागज पर चौड़ाई वार लिखा गया है । पृष्ठ संख्या १५१ है । बीच में पृष्ठ ४० खाली है । प्रत्येक पंक्ति में छंदों के दो-दो चरण लिखे गये हैं । छंद नाम का निर्देश अलग पंक्ति में किया गया है । सम्भवतः कुछ सम्पादन का यत्न किया गया है । आरम्भ में – ऊं श्री हरिः । **श्री गणेशायनमः अथ श्री रतन रासो लिख्यते** लिखा है । फिर दूहा संख्या १ हैं । छन्द संख्या ३६ के बाद **तृतीयः काव्य अष्टक रतनाकरै प्रश्नौत्तर कथ तृतीयोध्याय** लिखा है । चतुर्थ अध्याय की समाप्ति इस प्रकार है—**इति**

**श्री कवि कुम्भकर्न वर्णंते श्री दक्षिण महामहद देवगिर्यंद्र दुरंग विग्रहे: त्रय साहि सेन जुध्ये साहि ग्रहनोनाम श्री मधकर साहि विजयं चतुर्थोध्याय ।।४।।**

पंचम अध्याय की समाप्ति पर '**इति श्री कवि कुम्भकरन विरंचिते श्री रतनसिंघ राजभिषेक उत्तर जुध विजय एदल साह ग्रहंनो नाम पंचमो अध्याय** है। आगामी अध्याय के आरम्भ में अन्य प्रतियों के समान ही **अथ उजैन समय आरम्भते** लिखा है।

ग्रन्थ की समाप्ति इस प्रकार की गई है—

**इति श्री कवि कुम्भकर्न सतपुरी मध्ये मुकुटमनि अवंतिका नाम छेत्रे। श्री सिपुरा महासरिजतटे श्री सिवा श्री गंगा सहिते श्री जोतिल्यंग महंकेश्वर सानिध जुध उभय साह अवरंग मुरादि जवन्येन्द्र सम महा भारथे महाराजाधिराज जसवंतस्यंघ नाम्ने अनुज रतन सेनाधपते उपयन्द्र इन्द्र जुगले। तत्र मुक्तिद्वार मुकलित कपाटे सुभट समूह रवि मण्डल भेदनेक वीरोछवे तत्र रतनस्यंघ सिव सरूप प्राप्ते कइलास वासे तत्र महमा वर्ननो नाम। प्रस्ताव ।। इति श्री रतन रासो सम्पूर्ण।**

प्रतिलिपि कर्ता, प्रतिलिपि स्थान और प्रतिलिपि काल आदि का कोई उल्लेख नहीं है। यह प्रति बीकानेर राज्य के तत्कालीन राजस्व मन्त्री महाराज मान्धातासिंह ने करवा कर सीतामऊ के महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह को दिसम्बर १९३७ में दी थी।

यही एक मात्र प्रति है जिसमें शब्दों को अलग करके लिखा गया है, यद्यपि अज्ञान-वश यत्र-तत्र गलत रीति से शब्द तोड़े गये हैं।

**प्रति (ङ)**—यह जोधपुर परिवार की प्रतियों में काफी महत्त्वपूर्ण प्रति है। प्रतिलिपिकाल की दृष्टि से इससे प्राचीन प्रति केवल लन्दन वाली है। यह प्रति सम्पादकों को पांडुलिपि दुबारा टंकित हो चुकने के बाद ही मिली है। अतः इसे (ङ) नाम देना पड़ा। अन्यथा प्राचीनता, पाठशुद्धि आदि की दृष्टि से यह प्रति (ग), (घ) की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका लिपि स्थान योगपुर (जोधपुर ?) और लिपिकाल सं १८८० मिति भाद्रपद शुक्ल द्वितीया शनिवार है। प्रतिलिपि कर्ता श्री मेघराज है जिसने स्ववाचनार्थ प्रतिलिपिकरण किया है। यह आधुनिक पुस्तकों की तरह बीच में सिली है और चौडाईवार लिखी गई है। पुस्तक संग्रह में पांच पुस्तकें प्रतिलिपिकृत हैं जिनमें चौथी पुस्तक रतन-रासो है। प्रत्येक पुस्तक के बाद कई पृष्ठ खाली रखे गये हैं पर रतन रासो के ठीक बाद जयचन्द समइयो की प्रतिलिपि प्रारम्भ कर दी गई है। पुस्तक के पृष्ठों की लम्बाई-चौड़ाई १०"×६" है। प्रत्येक पृष्ठ पर २७ पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में २०–२२ अक्षर हैं। रतनरासो की पत्र-संख्या ९५ है। प्रत्येक पत्र के दूसरे पृष्ठ पर ही पत्र संख्या डाली गयी है।

ग्रन्थ के आरम्भ में **अथ श्री गणेशायनमः। अथ रत्नरासो लिख्यते** लिखा है। इसके पश्चात् दोहे आरम्भ कर दिये गये हैं और जोधपुर परिवार की अन्य प्रतियों के समान इसमें भी छन्द संख्या १ से ही प्रारम्भ की गयी है। अध्याय की समाप्ति छन्द संख्या ३६ पर हो

जाती है। इस प्रति में भी अन्य प्रतियों के समान तृतीयोध्याय की समाप्ति वतायी गयी है—इति श्री कवि कुम्भकर्ण विरंचिते काव्य अष्टक रतनाकरे प्रश्नोत्तर कथन तृतीयोध्याय।

आगामी अध्याय का पुष्पिका लेख भी अन्य प्रतियों के समान ही है—इति श्री कुम्भकर्ण वर्णने श्री दक्षिण महा महद देवगिर्‌यंद्र दुरग विग्रहे त्रय साहि सेन जुद्धे साहि ग्रहनो नाम श्री मधकरसाहि विजय चतुर्थोध्याय ।। ४ ।।

पांचवें अध्याय की समाप्ति का पुष्पिका लेख भी अन्य प्रतियों से मेल खाता है—इति श्री कुम्भकरन विरंचिते श्री रतनसिंघ राजभिषेक उत्तरजुधविजय एदल साह ग्रहंनो नाम पंचमो अध्याय।

अन्तिम अध्याय अथवा समय के आरम्भ में अन्य प्रतियों के समान ही 'उज्जैन समय आरम्भते का उल्लेख है और अन्त का पुष्पिका लेख इस प्रकार है—

इति श्री कवि कुम्भकर्न सतपुरी मध्ये मुकुटमनि अवंतिका नाम छेत्रे श्री सिपुरा महा सरिज तटे श्री सिवा श्री गंगा सहिते श्री जोतिल्यंग महंकेश्वर सानिध जुध उभय साह अवरंग मुरादि जवन्येन्द्र सम महाभारथे महाराजाधिराज जसवन्त स्यंघ नामने अनुज रतन सेनाधपते उपयंद्र इन्द्र जुगले मुक्ति द्वारा मुकलित कपाटे अनेक सुभट समूह रविमंडल भेदनेक वीरोछवे तत्र रतनस्यंघ सिव स्वरूप प्राप्ते कइलास वासे तत्र महमावर्ननो नाम ।। प्रस्ताव ।। इति श्री रतन रासो सम्पूर्ण ।। सं० १८८० मिति भाद्रवा शुक्ल २ शनौ चतुर्थ प्रहरे स्योगपुर मध्ये ।। सिं श्री श्री मेघराजजी स्ववाचनार्थ।

प्रति (च)—यह जयपुर परिवार की प्रति है। इसमें प्रतिलिपि स्थान नहीं दिया गया है पर लिपि कर्ता तिवाड़ी कल्याण है और यह प्रति प्रो० तिवारी के संग्रह में ही मिली है जो जयपुर निवासी हैं अतः हमने इसे जयपुर परिवार की प्रति नाम देना उचित समझा है। निःसन्देह यह जोधपुर परिवार की चार प्रतियों तथा मालवा परिवार की प्रति से भिन्न परिवार की है। इसमें लिपिकाल सम्वत् १८५३ वर्ष के आषाढ़ मास कृष्ण पक्ष की ६ तिथि सोमवार दिया गया है। प्रतिलिपि कर्ता त्रवाडी श्री (५)......... का पुत्र कल्याण है। इसे स्वात्मार्थे लिखायी गयी वताया है। पर जिसने स्वात्मार्थे लिखाई उसके नाम पर हडताल फेर दी गयी है। अतः पता नहीं चलता। प्रतिलिपि का कागज सामान्यतः हस्त लिखित प्रतियों में प्रयुक्त जहांगीरी कागज है। उसकी लम्बाई २४" और चौड़ाई १०" है जो बीच में सिलाई के कारण १२" × १०" रह गई है। पृष्ठ के दाहिने-वाएं डेढ-डेढ़ इंच का हाशिया लाल स्याही से अंकित किया गया है। पत्रों की अन्तिम संख्या ८९ है। उसके बाद २० पत्रों में रतनू वीरभाण की रचनाएं प्रतिलिपित हैं। आरम्भ के तीन पत्र लुप्त हैं। चौथा पत्र त्रुटित है। उसकी पत्र संख्या लुप्त है पर पाठ की मात्रा से लगता है कि यह चतुर्थ पत्र होगा। पाँचवाँ, छठा और सातवां पत्र भी लुप्त हैं। त्रुटित चौथे पत्र में तीसरे अध्याय के ६६वें दोहे के उत्तरार्ध से लेकर चतुर्थ अध्याय के ११वें छन्द तक का पाठ है पर यत्र तत्र

त्रुटित है। फलतः चौथे अध्याय के आरम्भिक साढ़े चार छन्द और ९,१०,११ छन्द पढ़े नहीं जा सकते। पत्र संख्या ८ से लेकर ८९ तक का पाठ सुवाच्य है। प्रत्येक पृष्ठ पर १८ पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में ३०-३२ अक्षर हैं। प्रतिलिपि कार ने आद्योपांत कहीं भी रतन रासो का उल्लेख नहीं किया है। किसी अन्य ने आधुनिक नीली स्याही से चौथे पत्र (प्राप्त पत्रों में पहले) के ऊपर रतनरासो लिखा है। पत्र संख्या ८९ के प्रथम पृष्ठ के नीचे भी इसी प्रकार किसी ने आधुनिक अक्षरों में लिखा है—यह "रतनरासा" है। जुवानी बारेठ बलवंतदानजी ग्रन्थ कर्ता के वंशज। इसमें छन्द नाम तथा पुष्पिका लेख लाल स्याही में है। शेष सामग्री काली स्याही में।

तीसरे अध्याय के अन्त में पुष्पिका लेख इस प्रकार है—

**इति श्री कवि कुम्भकर्ण विरंचिते काव्य अष्ट रतनाकरे प्रश्नोत्तर कथन तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।**

चौथे अध्याय के अन्त में पुष्पिका लेख इस प्रकार है—

**इति श्री कवि कुम्भकर्न वर्णते श्री दक्षिण महामहद देवगिर्यंदद्रुरंग विग्रहे त्रय साहि सेन जुध्ये साहिग्रहनो नाम श्री मघकर साहि विजयं चतुर्थोऽ ध्यायः ।। ४ ।।**

पांचवें अध्याय के अन्त में पुष्पिका लेख इस प्रकार है—

**इति श्री कवि कुम्भकर्ण विरंचिते श्री रतनराज्याभिसेक उत्तर जुद्ध विजय साह ग्रहंनौ नाम पंचमोध्यायः ।।**

छठे अध्याय के आरम्भ में **अथ उज्जेन समय** लिखा है और अन्त में पुष्पिका लेख इस प्रकार है :—

**इति श्री कवि सांदू कुंभकर्न विरंचिते सप्त पुरी मध्ये मुकटमनि अवंतिका नाम क्षेत्रे श्री सिपुरा महा सरित तटे श्री सिवा श्री गंगा सहिते श्री जोतिल्यंग महंकालेस्वर सानिद्ध जुद्ध उभय साह अवरंग मुरादि जवन्येद्र सम महाभार्थे महाराजाधिराज श्री जसवन्त स्यंह नाम्ने अनुज रतन सेनाधिपते उपयंद्र इंद्र जुगले तत्र मुक्तिद्वार मुकलित कपाटे अनेक सुभट समूह रविमंडल भेदनेक वीरोच्छवे तत्र रतनस्यंध सिव रुप प्राप्ते कइलास वासे तत्र महिमा वर्ननोनाम षष्ठोऽध्याय : ।।६।। सम्वत् १८५३ ना वर्षे आसाढ़ मासे कृष्णपक्षे ६ तिथौ सोमवासरे—त्रवाड़ी श्री ५ कडवा तत्पुत्र कल्याणाभिधे लिपि कृतं—जी चिरंजीवी धणी होजो ।। लखावितं स्वातमार्थे याद्दशं पुस्तकं द्दष्ट्वा ताद्रसं लिखितं मया। यदि शुद्ध मशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ।। । । ।। लखेक पाठकयो : श्री कृष्णेरति रस्तु ।। श्री रस्तु ।। कल्याणमस्तु ।। ।। शुभंभूयात् ।।छः।। ।। श्रीः ।। ।।छः ।।**

इसके बाद उसी पृष्ठ पर किसी अन्य व्यक्ति ने काली स्याही से एक छप्पय और एक दोहा लिखा है।

(च) प्रति में कुछ छन्दों के नाम अन्य प्रतियों से भिन्न दिये हैं। पर इनमें कुछ भेद तो साधारण हैं। जैसे भुजंगी और भुजंग प्रयात का। ये दोनों नाम प्रायः एक ही छन्द के हैं। और सभी प्रतियों में ये दोनों नाम मिलते हैं। पर (च) प्रति में भुजंग प्रयात अधिक बार कहा गया है। इसी प्रकार (च) प्रति में **अडिल्ल** का नाम अनेक बार **मुडियल** दिया गया है। अन्य प्रतियों में **मुडिल** नाम है पर एक ही बार। छप्पय को चारणी वाङ्मय में प्रायः **कवित्त** नाम से अभिहित किया जाता है। अन्य प्रतियों में **कवित्त** नाम ही है। पर (च) में उसे अधिकतर **छप्पय** अभिहित किया गया। ये तो साधारण छन्द नाम भेद हैं। पर अधिक महत्त्वपूर्ण भेद हैं अडिल के स्थान पर चौपई (४/१, ६/३१) और विजाज के स्थान पर विद्युन्माला (६/१४०)। ये भेद केवल छन्द नाम के हैं। पर वास्तविक भेद अध्याय छ के छन्द संख्या ७३ में है। (च) प्रति में हनूफाल छन्द है और अन्य सभी प्रतियों में डण्डीमाली। डण्डीमाली छन्द में हनूफाल के बाद एक गुरु वर्ण और होता है। यह संभव है कि आरम्भ में यह वर्णन हनूफाल छन्द में ही लिखा गया था। बाद में कवि को या उसके किसी वंशज प्रतिलिपिकार को रासो में डंडीमाली छन्द का प्रयोग भी अभीष्ट प्रतीत हुआ। इसीलिए उसमें प्रायः प्रत्येक चरण में ऐसा गुरु वर्ण जोड़ा गया है जिससे अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। प्रायः वह वर्ण निरर्थक ही है। यह निरर्थकता सार्वत्रिक होती तो हम इस प्राचीनतम प्रति के आधार पर इसे परवर्ती प्रक्षेप मान कर निकाल देते पर हमने इसे चार कारणों से बनाये रखा है। एक तो यह कि तीन चार चरण ऐसे हैं जिन में अन्तिम वर्ण बहुत ही सार्थक है और उसके बिना अर्थ बोध कठिन है। दूसरे, यह छन्द परिवर्तन स्वयं कविकृत हो सकता है क्योंकि उसे बाद में लगा होगा कि हनूफाल अन्यत्र आ चुका है अतः उसे नये छन्द में बदल देना अधिक उत्तम है। तीसरे, यह हनुमन्त फाल से अधिक मधुर छन्द है। चौथे, (च) प्रति के अतिरिक्त सभी में इसे डण्डीमाली रूप में ही रखा गया है।

प्रतियों के परीक्षण और पाठ लोप, यत्र तत्र अंकित पंक्ति क्रम और आरम्भिक छन्द संख्या को देखते हुए यही निर्णय किया जा सकता है कि मारवाड परिवार की सभी प्रतियों (ख, ग, घ, ङ) की पूर्वजा एक ही प्रति रही होगी। उधर मालवा वाली प्रति (क) उनसे भिन्न परिवार की है जिसमें एक तो द्वित्व व्यंजन कहीं भी अंकित नहीं, दूसरे आरम्भ की छन्द संख्या जोधपुर परिवार से भिन्न है। जयपुर परिवार की प्रति (च) इन दोनों परिवारों से स्पष्टतः भिन्न है क्योंकि उसमें अनेक छन्द नामों में भेद है; अन्त में **रतनरासो** के स्थान पर **षष्ठोध्याय** का उल्लेख है और एक चरण ऐसा भी प्राप्त है जो अन्य सभी प्रतियों में लुप्त है। (क) और (च) प्रतियों के साक्ष्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय अध्याय का प्राप्त अंश केवल अध्याय के उत्तरार्ध के ३७ छन्दों का है, आरम्भ के ४७ छन्द लुप्त हैं। (च) प्रति से इस बात की भी बहुत कुछ पुष्टि हो जाती है कि आरम्भ के दो अध्याय और अन्त के दो अध्याय तथा प्राप्त अंश रतनरासो का सम्मिलित सग्रह ही **काव्य अष्ट** रतनाकर रहा होगा।

ग्रन्थारम्भ, ग्रन्थान्त, काव्य ग्रष्ट रतनाकर, ग्रध्याय संख्या ग्रादि से संबंधित जो समस्याएं सम्पादकों के सम्मुख उपस्थित थीं उनका समाधान तो इस प्रति की प्राप्ति से भी नहीं हो पाया पर सम्पादकों की इस परिकल्पना की किंचित् परिपुष्टि ग्रवश्य हो गयी कि कुंभकर्ण की रतनकुल विषयक रचनाग्रों का संग्रह **काव्य ग्रष्ट रतनाकर** था जिस में ग्राठ अध्याय थे। ग्रारम्भ के ग्रढाई ग्रध्याय ग्रलम्य हैं। (प्राप्त ग्रपूर्ण **जयचन्द रासो** कदाचित् प्रथम ग्रध्याय का ग्रंश है।) **प्रश्नोत्तर** कथन सम्बन्धी तीसरे ग्रध्याय के ४७ छन्द प्रश्न सम्बन्धी ही रहे होंगे। **काव्य ग्रष्ट रतनाकर** का जो ग्रंश बाद में **रतनरासो** नाम से प्रसिद्ध हुआ वह केवल षष्ठ ग्रध्याय था या तृतीय के उत्तरार्ध से ले कर साढ़े तीन ग्रध्याय थे, यह ग्रब भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। पर षष्ठ ग्रध्याय के ग्रन्तिम ग्रंश में **रासो प्रसिद्ध गुनि रतनस्यंघ** जैसे पाठ ही सम्भवतः रतन रासो नाम के हेतु बने हैं। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि काव्य ग्रष्टरतनाकर नाम का उल्लेख केवल तीसरे ग्रध्याय की समाप्ति पर क्यों हुग्रा ? ग्रन्यत्र क्यों नहीं ? फिर भी काव्य ग्रष्ट रतनाकर ग्रौर रतनरासो के परस्पर सम्बन्ध विषयक सम्पादकों की परिकल्पना को इस सद्यः प्राप्त प्राचीनतम प्रति से पर्याप्त बल मिला है। ग्रतः ग्रन्थ के प्रकाशन में ग्रब तक हुग्रा विलम्ब किंचित् लाभ कर ग्रवश्य हुग्रा। निस्सन्देह ग्राचार्य तिवारी का सामयिक सहयोग सुश्लाघ्य है।

**संपादन में कोष्ठकों का प्रयोग**—कवि ने वर्ण्य विषय के द्योतन के लिए केवल एक स्थान पर शीर्षक दिया था। परन्तु संपादकों ने ग्रागामी विषय की स्पष्टता के लिए शीर्षक देना उचित समझा। यों (   ) कोष्ठक में दिये गये शीर्षक संपादक ने पाठकों की सुविधा के लिए दिये हैं। पाठान्तर जहां एक ही शब्द से सम्बन्धित है वहां शब्द के ग्रागे संख्या डाली गयी है। जहां ग्रधिक शब्दों से सम्बन्धित हैं वहां उन सब शब्दों को ग्रधोरेखांकित किया गया है। जो पाठ किसी एक ग्रथवा एकाधिक प्रतियों में लुप्त है वह [   ] में देकर पाठान्तर संख्या दी गयी है। जहां एक प्रति में ग्रधिक भाग लुप्त है ग्रौर किसी ग्रन्य में उस लुप्त पाठ का कुछ ग्रंश ही लुप्त है वहां पूरे ग्रंश को [   ] में ग्रौर थोड़े ग्रंश को {   } में दिया गया है। कहीं-कहीं संपादक को पाठ की कल्पना करनी पड़ी है। ऐसा पाठ (   ) में दिया गया है।

यों छः प्रतियों की सहायता से सपादित रतन रासो **विदुषां विनोदाय** प्रस्तुत है। इसे पढ़ कर पाठकों का मन कुंभकर्ण की ग्रन्य रचनाग्रों की ग्रोर ग्राकृष्ट होगा तो संपादक ग्रपना श्रम सफल समझेंगे।

## (२) संपादकीय निवेदन

रतलाम नरेश रामसिंह वीर होने के साथ साथ काव्य रसिक ग्रौर कवियों के ग्राश्रयदाता भी थे। उनकी सभा के ब्रजभाषा कवि रघुनाथ रसाल ने **रामचरित्र** काव्य की रचना की थी। डिंगल कवि खिडिया जगा ने **वचनिका राव रतनसिंघ जी री महेसदासोत री**

नामक डिंगल चंपू की रचना की थी। उक्त दोनों ग्रंथों का संपादन करके प्रकाशन किया जा चुका है। उसी राजसभा के कवि कुंभकर्ण का यह पिंगल महाकाव्य संप्रति प्रस्तुत है। पर यह संपादन मेरे लिए संपादनों की शृंखला में एक कड़ी मात्र नहीं है। इसके प्रति मेरा एक भावात्मक संबंध है अतः कुछ निवेदन आवश्यक है।

जब मैं कोई १०–११ वर्ष का बच्चा था तब चूरू के तत्कालीन तहसीलदार श्री जेठमलजी आचार्य ने मेरे पूज्य पिता जी पं० विद्याधरजी शास्त्री से रतन रासो के विषय में पूछताछ की थी। घर में रतन रासो ग्रंथ की चर्चा सुन कर एक सहज कल्पना हुई थी कि यह मेरी निवास भूमि 'रतननगर' से संबंधित कोई काव्य होगा। फलतः उसे देखने की इच्छा भी हुई पर वह ग्रंथ कहीं सुलभ न था। बीकानेर के तत्कालीन राजस्व मंत्री महाराजा मान्धातासिंह ने संभवतः तहसीलदार को एतद्विषयक खोज के लिए कहा था पर आचार्यजी को उक्त ग्रंथ की कोई प्रति प्राप्त न हुई। हां, मेरे मन में रतन रासो को देखने की कामना पलती रही।

उच्च विद्यालय में आने पर पृथ्वीराजरासो के विषय में जानकारी प्राप्त हुई तो समझ में आया कि रतन रासो रतननगर विषयक काव्य न हो कर किसी रतनसिंह विषयक काव्य रहा होगा। रतनरासो के रतननगर से संबंधित होने की कल्पना भ्रांत ज्ञात होने पर उसके प्रति वह अनुराग तो न रहा पर रतन रासो विषयक जिज्ञासा बनी रही। महाविद्यालय में हिन्दी साहित्य के इतिहास में रासो ग्रंथों का परिचय देखने और पृथ्वीराज रासो, खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, हमीर रासो आदि के विषय में अधिकाधिक ज्ञान होने पर रतन रासो को भी उस शृंखला में सम्मिलित देखने की इच्छा बनी रही।

संयोग की बात, अध्ययन समाप्त कर सन् १९४७ में जब बीकानेरस्थ सादुल राजस्थानी शोध मंदिर में अपर मंत्री बना तो शोध मंदिर के साहित्य मंत्री प्रो० नरोत्तमदास स्वामी के पास डा० रघुवीरसिंह का पत्र आया जिसमें उनसे निवेदन किया गया था कि वे रतन रासो का संपादन स्वयं करें अथवा किसी योग्य संपादक का नाम सुझाएं। आदरणीय स्वामीजी ने मुझ से यह काम संभालने को कहा तो मेरे हर्ष की सीमा न रही। स्वामीजी ने डा० रघुवीरसिंह को लिख दिया और संपादन के लिए ग्रंथ की प्राप्य तीन प्रतियां आ गयीं।

जिस ग्रंथ के दर्शनमात्र की इच्छा बाल्यकाल में हुई थी वह साक्षात् संपादन के लिए आ गया, इससे बढ़ कर हर्ष का विषय क्या होता। पर ग्रंथ के पत्रों को पढ़ने पर सारा उत्साह शान्त हो गया। चार-पांच बार पाठ करने पर भी पहले पृष्ठ का कोई अंश समझ में नहीं आया। निराश हो कर स्वामी जी से निवेदन कर दिया कि यह काम मेरे वश का नहीं है। पर गुरु को अपने शिष्य की योग्यता पर अधिक विश्वास था। उन्होंने कहा एक बार ग्रंथ को आद्योपान्त पढ़ो फिर तीनों प्रतियों के आधार पर पाठ निर्धारण करना आरंभ करो। शनैः शनैः कठिनाई दूर होती जाएगी। अर्थ भी समझ में आने लगेगा। आदेश को

मान कर मैंने काम आरंभ कर दिया और क्रमशः समस्याओं का समाधान होना आरंभ हो गया। एक प्रति के प्रत्येक पृष्ठ के साथ रघुवीरसिंह जी ने ऐतिहासिक टिप्पणियां दे रखीं थीं। उनकी सहायता से अर्थ निर्धारण में बहुत सुविधा हुई। वर्ण्य घटनाओं की पूरी जानकारी के लिए अनेक इतिहास ग्रंथ देखने पड़े और अरबी-फारसी के शब्दों की जानकारी के लिए फारसी के कोशों का भी प्रयोग करना पड़ा। कार्य में अनेक व्यवधान भी आते रहे पर चार-पांच वर्षों के परिश्रम से १९५१ के अंत तक पाठ-संपादन, भावार्थ, शब्दार्थ और भूमिका का कार्य पूरा हो ही गया।

सन् १९५२ में मेरी नियुक्ति दिल्ली के शिक्षा मंत्रालय में हो गयी और रघुवीरसिंह जी भी संसत्सदस्य होकर दिल्ली आ गये। उन्होंने ग्रंथ को देख-दाख कर प्रकाशनार्थ 'राजकमल' प्रकाशन को दे दिया। एक फर्मा तैयार भी हो गया था। उस समय रघुवीरसिंह जी को ज्ञात हुआ कि रतन रासो की एक प्रति लंदन में है और फलतः उसकी प्रतीक्षा में रतन रासो का प्रकाशन रुकवा दिया गया। इस बीच रामचरित्र और वचनिका का संपादन-प्रकाशन हुआ और रतन रासो का कार्य लंदनवाली प्रति की प्रतीक्षा में १९६१ तक स्थगित रहा।

लन्दन से प्राप्त माइक्रोफिल्म प्रतिलिपि की सहायता से यत्र-तत्र पाठ और पाठान्तरों में परिवर्धन-परिवर्त्तन करके पुनः टंकण कराया गया। टंकण हो चुकने पर जोधपुर के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में विद्यमान एक और प्रति का पता चला और उसके आधार पर पाठ और पाठान्तरों में पुनः आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन कर दिये गये। यों तैयार पुस्तक प्रकाशक की प्रतीक्षा करने लगी। अंततः १९७२ में इसके प्रकाशन का संयोग आया और इसी वर्ष (च) प्रति भी प्राप्त हुई। यों मूल संपादन के २१ वर्ष बाद ही प्रकाशन का यह अवसर आया।

रतन रासो 'द्राक्षापाक' न हो कर 'नारिकेल-पाक' है। नारिकेल का आस्वादन करने के लिए पहले कठिन परिश्रम से जटाटोप का उन्मोचन करना पड़ता है। रतन रासो के आस्वादन के लिए भी उसके दुर्बोधत्वरूपी जटाटोप का भेदन आवश्यक था। भावार्थ, शब्दार्थ, टिप्पणियां आदि इसी दिशा में किये गये प्रयत्न हैं। कवि परिचय और काव्य परिचय में कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है तथा काव्य के ऐतिहासिक पक्ष का उद्घाटन और साहित्यिक मूल्य का अंकन किया गया है। भारतीय काव्य धारा और भाषा प्रवाह के उद्गम को भी सम्यक्तया समझना आवश्यक था। अब तक वेद को भारतीय काव्य का आदि स्रोत और वैदिक भाषा को तथा कथित भारतीय आर्य भाषाओं की जननी माना जाता रहा है। इस भ्रान्त धारणा के कारण जिज्ञासु पाठकों के मन में अगणित शंकाएं उद्भूत होती रहती हैं जिनका कहीं उत्तर नहीं मिलता। भारतीय काव्य धारा का मूल उत्स सिंधु घाटी की द्रविड सभ्यता के उन पुराण प्रसंगों और अभिनयों में है जिन्हें द्रविड मनीषियों ने वैज्ञानिक तथ्यों के प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त किया था। द्रविडों के ब्रह्मवाद और विवेचन सरणि को समझे बिना प्रतीकात्मक कथाओं के सार का अवगमन कठिन है।

अतः वैज्ञानिक विवेचन की प्रतीक शैली और तज्जन्य काव्य धारा का स्पष्टीकरण किया गया है। आर्य-द्रविड समागम के समय के द्विभाषी समाज से परिचित हुए बिना भारतीय भाषा के विकास के विषय में अनेक शंकाएं उठती रहती हैं। यह समझ में ही नहीं आता कि संस्कृत के द्विभाषी नाटक किसी कल्पित समाज के दर्पण हैं अथवा वस्तुस्थिति के द्योतक। एक ही समाज के दो वर्गों में से एक वर्ग अपनी भाषा की अधिकांश ध्वनियों के उच्चारण में कैसे असमर्थ हो जाए और संस्कृत कैसे प्राकृत बन जाए–यह विकट समस्या सभी के सम्मुख रहती रही है। अतः वस्तु स्थिति का निर्देश करके अब तक की बद्ध-मूल भ्रांतियों का निराकरण किया गया है। यों पूर्व पीठिका से भारतीय काव्य धारा, विशेष कर सूत-मागध-वंदीजन-चारण-भाट परंपरा को समझने में सहायता मिलेगी एवं काव्य-भाषा और समसामयिक व्यवहार भाषा के अंतर की गुत्थी भी सुलझेगी।

अंत में उक्त संपूर्ण प्रतिपादन के लिए जिनसे दिशा-निर्देश मिला उनके प्रति आभार प्रकट करना आवश्यक है। पुराणों के प्रतीकवाद और उसके भारतीय वाङ्मय का आधार होने की तथा भारतीय नाटकों में चित्रित द्विभाषी समाज की जानकारी मुझे अपने पूज्य पितामह पं० उमादत्तजी शास्त्री और पूज्य पिता पं० विद्याधर जी शास्त्री से प्राप्त हुई थी। उस जानकारी को लिखित रूप देने की प्रेरणा गुरुवर प्रो० विद्याधरजी शास्त्री (विश्वंभरा-संपादक) से प्राप्त हुई जिन्होंने मुझ जैसे आलसी आदमी को अपने विचार लेखनी बद्ध करने के लिए बाध्य किया। भाषा तत्त्व पर विचार करने की प्रवृत्ति का उदय आचार्य नरोत्तम दास स्वामी के पास अध्ययन करते समय हुआ था जिसके विकास का श्रेय डा० सिद्धेश्वर वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० विश्वनाथ प्रसाद आदि के ग्रंथों के अध्ययन और उनके साथ काम करने को है। भारतीय आर्य-भाषाओं के मूल में एक स्तर द्रविड़ प्रभाव का भी है, यह जानकारी डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की पुस्तकों से प्राप्त होने पर द्रविड़ भाषाओं और खड़ी बोली के साम्य पर विचार किया तो और भाषाई ढांचे में अद्भुत साम्य देख कर अधिक विचार आवश्यक हो गया। उसी का परिणाम भाषा विवेचन में द्रष्टव्य है। प्राच्य की खोज का दिशा-निर्देश डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, आचार्य भगवद्दत्त और बंधुवर सांकृत्यजी की पुस्तकों से मिला था पर उस नाम की सार्थकता की कल्पना मेरी निजी है। यों विविध स्रोतों से प्राप्त जानकारी का उपयोग इस भूमिका में किया गया है। जिन महानुभावों से दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ उन सभी के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

और अन्त में, यदि साथी संपादक डा० रघुवीरसिंह जी से प्राप्त प्रतियाँ न होतीं, उन्हीं से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री सुलभ न होती, उनकी सतत प्रेरणा न होती और प्रति–प्राप्ति से ले कर प्रकाशन तक की व्यवस्था वे न करते तो आज जिस रूप में यह ग्रंथ प्रस्तुत हुआ है उस रूप में या किसी अन्य रूप में कोई अन्य ही करता। पर जो काम उन्हीं के बल पर हो पाया है उसके लिए धन्यवाद भर देना उनके सहयोग और मार्गदर्शन को कम आंकना होगा। फिर भी उनके प्रति आभार प्रदर्शन आवश्यक है। उन्हीं के मार्ग दर्शन और सहयोग के फलस्वरूप इस विकट ग्रंथ का संपादन १९४७ से १९५१ की अवधि

में संपूर्ण हो सका था । उसके बाद का इक्कीस वर्ष का समय अन्य प्रतियों की खोज में लगा । कुछ शंकाओं के समाधान के लिए यह खोज आवश्यक थी । इक्कीस वर्ष का यह दीर्घ विलंब यदि ग्रंथ के स्वरूप को इक्कीस करवा पाता तो संतोष होता । खेद है कि हमारी वह आशा पूर्ण नहीं हो पायी । केवल पाठान्तरों का कलेवर बढ़ पाया । पाठ और अर्थ विषयक अनेक शंका स्थल अब भी शेष हैं । पर इस कारण से प्रकाशन को अनन्त काल तक रोके रखना उचित नहीं था; विशेषकर जब राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जैसी प्रतिष्ठित संस्था इसके प्रकाशन के लिए तैयार हो गयी । आशा है सुधी पाठक इस रूप में रतन रासो को देख कर इसके विषय में अवशिष्ट शंकाओं का समाधान करने में हमारी सहायता करेंगे । यदि वे निष्पक्ष भाव से इसके पाठ दोषों और अर्थ दोषों की सूचना देने की कृपा करेंगे तो भविष्य में उनका भी निराकरण करने का यत्न किया जा सकेगा ।

काव्य भ्रष्ट रतनाकर की समस्या का ठीक समाधान मिल पाने की आशा अब भी विद्यमान है क्योंकि **कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।**

———

महाकवि कुंभकर्ण विरचित

# रतन रासो

( पाठान्तर सहित )